जिनवाणी

मंगल-मूल धर्म की जननी, शाश्वत, सुखदा, कल्याणी ।
द्रोह, मोह, छल, मान-मर्दिनी, फिर प्रगटी यह 'जिनवाणी' ।।

'जिनवाणी' के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.
की द्वितीय पुण्य तिथि पर प्रकाशित

अहिंसा विशेषांक


परस्परोपग्रहो जीवानाम्

प्रधान सम्पादक
डॉ० नरेन्द्र भानावत



सम्पादक
डॉ० श्रीमती शान्ता भानावत



प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर

जिनवाणी

अहिंसा विशेषांक

मार्च, अप्रेल, मई, जून, १९९३
वीर निर्वाण संवत, २५१९
फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, संवत् २०५०
वर्ष : ५० □ अंक : ३, ४, ५, ६



प्रकाशक :
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
दुकान नं० १८२-१८३ के ऊपर
बापू बाजार, जयपुर-३०२ ००३ (राजस्थान)
फोन : ५६५९९७

संस्थापक :
श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़ (जोधपुर)

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :
सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-३०२ ००४ (राज.)
फोन : ४७४४४

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रजिस्ट्रेशन नं ३६५३/५७

सदस्यता :
स्तम्भ सदस्यता : २०००रु. संरक्षक सदस्यता : १००० रु.
आजीवन सदस्यता : ३५० रु. (देश में), १०० डालर (विदेश मे)
त्रिवर्षीय सदस्यता : ८० रु., वार्षिक सदस्यता : ३० रु.

इस विशेषांक का मूल्य : ५० रुपये

मुद्रक : फ्रेण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जौहरी बाजार जयपुर-३

नोट : यह आवश्यक नही कि लेखकों के विचारों से सम्पादक या मण्डल की सहमति हो।

समर्पण

अहिंसा, संयम और तप

के आराधक

रत्नवंश सम्प्रदाय के अष्टम पट्टधर

आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा.

के

ओजस्वी प्रभावक व्यक्तित्व

को

सादर सविनय समर्पित

प्रकाशकीय

"जिनवाणी" के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा की द्वितीय पुण्य तिथि पर उनके अष्टम पट्टधर आचार्य पूज्य श्री हीराचन्द्रजी म सा. की प्रेरणा से पाठकों की सेवा में **"अहिंसा विशेषांक"** प्रस्तुत करते हुए हमे विशेष प्रसन्नता है।

पौष शुक्ला पूर्णिमा विक्रम संवत् १९९९ (जनवरी, १९४३) मे जोधपुर जिले के भोपालगढ कस्बे के श्री जैन रत्न विद्यालय से मासिक "जिनवाणी" का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। यह बड़े संतोष की बात है कि विगत ५० वर्षो से "जिनवाणी" का प्रकाशन अब तक नियमित रूप से चला आ रहा है। यह "जिनवाणी" के सभी पाठको, लेखको, शुभ चिन्तकों, हितैषियो और स्नेहीजनों के सहयोग का ही परिणाम है।

"जिनवाणी" के प्रकाशन का आरम्भ जिस समय हुआ वह समय द्वितीय विश्व युद्ध का था। सारी मानव जाति महायुद्ध की हिंसा और आतंकवादी गतिविधियों से त्रस्त थी। कुछ राष्ट्र नेताओं की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं ने समूची मानव जाति के समक्ष उसके भविष्य को लेकर एक प्रश्न चिह्न खडा कर दिया था। बन्दूको और तोपों की आवाजों में अहिंसा और प्रेम जैसे जीवन-मूल्य मानो कही खो गये। ऐसे ही कठिन समय में आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने विश्व को पुनः शांति और अहिंसा का सदेश देने का संकल्प लिया। इसी संकल्प से उन्होंने 'जिनवाणी' के प्रकाशन की प्रेरणा दी। उन्होने 'जिनवाणी' के माध्यम से जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि का संदेश दिया।

आचार्य श्री की प्रेरणा से ही लगभग ४८ वर्ष पूर्व रत्नवंशी सम्प्रदाय के महान् पट्टधर आचार्य श्री रत्नचन्दजी म सा. की स्वर्गवास शताब्दी (सवत् २००२) के अवसर पर सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल की स्थापना की गयी। मण्डल द्वारा सम्यक्ज्ञान के प्रचार-प्रसार की अनेक प्रवृत्तियाँ संचालित की जाती है। 'जिनवाणी' के प्रकाशन के अतिरिक्त मण्डल की ओर से सामायिक व स्वाध्याय सघ का सचालन और जीवन उत्थानकारी सत् संस्कारवर्धक साहित्य का सृजन, प्रकाशन और वितरण किया जाता है। अब तक सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा आगमिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, तात्विक, कथात्मक, स्तवनात्मक, प्रवचनात्मक, व्याख्यात्मक आदि विविध विषयक धर्म, दर्शन सम्बन्धी ६० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी है।

मण्डल द्वारा प्रकाशित ये पुस्तके सन्त-सतियों, विद्वानों, स्वाध्यायियों से लेकर सामान्य स्तर के सभी पाठकों के लिए मननीय, पठनीय और आच-

रणीय रही हैं। उच्च कोटि के सत्-साहित्य के निर्माण एवं प्रकाशन की व्यापक योजना भी तैयार की गयी है ताकि जीवन और समाज की सत्-साहित्य संबंधी बढ़ती मांग पूरी की जा सके। कोई भी व्यक्ति १०००) रु. प्रदान कर आजीवन साहित्य सदस्यता ग्रहण कर सकता है। साहित्य सदस्यों को उपलब्ध प्रकाशित साहित्य निःशुल्क भेजा जाता है।

'जिनवाणी' अपने प्रकाशन के पचासवे वर्ष में प्रवेश कर गयी है। 'जिनवाणी' के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में वृहद्काय 'अहिंसा विशेषांक' पाठको की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष एवं गौरव की अनुभूति हो रही है।

'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का उद्देश्य नैतिक, धार्मिक तथा जीवन निर्माणकारी प्रेरक सामग्री का प्रकाशन करना है। 'जिनवाणी' के विशेषांकों की अपनी विशिष्ट परम्परा और पहचान रही है। अब तक 'जिनवाणी' के अनेक विशेषांक प्रकाशित किए जा चुके है। इनमे 'स्वाध्याय' (१९६४), 'सामायिक' (१९६५), 'तप' (१९६६), 'श्रावक धर्म' (१९७०), 'साधक' (१९७१), 'ध्यान' (१९७२), 'जैन संस्कृति और राजस्थान' (१९७५), 'कर्म सिद्धान्त' (१९८४), 'अपरिग्रह' (१९८६), 'आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. श्रद्धांजलि' (१९९१), 'आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. व्यक्तित्व एवं कृतित्व' (१९९२) आदि विशेषाक बहुपठनीय और विशेष चर्चित और लोकप्रिय रहे है।

अहिंसा के सैद्धान्तिक विवेचन संबधी सामग्री विपुल मात्रा मे उपलब्ध है, पर अहिंसा को जीवन में उतारने तथा उसके विभिन्न पक्षों से संबंधित पहलुओं पर व्यावहारिक चिन्तन कम हुआ है। इस विशेषांक मे अहिसा के सैद्धान्तिक विवेचन के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों यथा—समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षा, उद्योग, विज्ञान, प्रशासन, पर्यावरण आदि से संबंधित रचनात्मक, प्रयोगात्मक चिन्तन भी प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न निबन्धों मे प्रस्तुत विचार लेखकों के अपने निजी विचार है, उनसे सम्पादक अथवा सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

इस विशेषांक के प्रकाशन में 'जिनवाणी' के मानद सम्पादक डॉ नरेन्द्र भानावत, सम्पादक श्रीमती डॉ. शान्ता भानावत एवं पूज्य आचार्यो, मुनियों, साध्वियों, साधकों एवं विद्वान् लेखकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। डॉ. नरेन्द्र भानावत राजस्थान विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष है। आप प्रबुद्ध विचारक, चिन्तनशील समीक्षक, कुशल लेखक, संवेदनशील कवि, प्रभावकारी वक्ता एवं सफल संपादक और 'जिनवाणी' पत्रिका के आधार स्तम्भ रहे हैं। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से आपकी वार्ताएँ बराबर प्रसारित होती रहती है। आप 'जिनवाणी' के प्रधान संपादक एवं 'स्वाध्याय शिक्षा', 'स्वाध्याय सन्देश' तथा कई ग्रन्थों व स्मा-

रिकाओं के संपादक मण्डल के सदस्य है। आप अ. भा जैन विद्वत् परिषद् के महामंत्री एवं आचार्य विनयचन्द ज्ञान भण्डार शोध संस्थान के निदेशक हैं। डॉ भानावत ने अपने संपादन से 'जिनवाणी' को नई दिशा प्रदान की है और इसमें आपका निःस्वार्थ रूप से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। 'जिनवाणी' पत्रिका साधारण पाठकों से लेकर विश्वविद्यालयों, शोधार्थियों एवं विद्वानों में लोकप्रिय है। प्रति माह सहस्रों पाठक स्वाध्याय के रूप में इस पत्रिका का उपयोग करते हैं। यह सब डॉ भानावत के अथक परिश्रम का ही फल है। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल परिवार आपका सदैव अत्यन्त कृतज्ञ है।

देश-विदेश के अनेक प्रतिष्ठानों, संस्थानो तथा व्यक्तियों ने अपने विज्ञापन भेजकर 'जिनवाणी' की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ वनाने में उल्लेखनीय योगदान किया है, उसके लिए विज्ञापन दाताओं के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। देश-विदेश से विज्ञापन जुटाने में अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के कोषाध्यक्ष, समर्पित कार्यकर्ता एवं अनन्य गुरु भक्त श्री सुमेरसिहजी बोथरा का उल्लेखनीय योगदान रहा है। न्यूयार्क से श्री लाभचन्दजी कोठारी, श्री धर्मचन्दजी हीरावत, श्रो सुनीलकुमारजी डागा एवं श्री अन्नूजी हीरावत, हांगकाग से श्री प्रवीणचन्दजी लोढ़ा और श्री राजेन्द्रकुमारजी डागा एव बैंकाक से श्री घीसालालजी बम्ब और अशोककुमारजी छाजेड़ ने विशेष विज्ञापन सामग्री भेजकर और 'जिनवाणी' के आजीवन सदस्य बनाकर तथा देश में अ. भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के कार्याध्यक्ष श्री सायरचन्दजी कांकरिया, मण्डल के उपाध्यक्ष श्री नवरतनमलजी जैन, कोषाध्यक्ष श्री पदमचन्दजी कोठारी, संयुक्त मंत्री श्री केसरीचन्दजी नवलखा, जलगांव से अ. भा. श्री जैन रत्न युवक संघ के अध्यक्ष युवा रत्न श्री पारसजी जैन और सचिव युवा रत्न श्री दीपचन्दजी जैन, श्री नीलमजी चोरड़िया और बम्बई से श्री विमलचन्दजी हीरावत, अ. भा. श्री जैन रत्न युवक संघ बम्बई शाखा के अध्यक्ष युवा रत्न श्री नरेन्द्रजी हीरावत, श्री प्रेमचन्दजी जैन आदि ने विज्ञापन-सामग्री जुटाकर महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। मुद्रण कार्य मे सहयोग के लिए जयपुर प्रिण्टर्स व फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स के प्रबन्धकों का पूर्ण सहयोग रहा। मण्डल व 'जिनवाणी' परिवार इन सबका विशेष आभारी है।

आशा है **'स्वर्ण जयन्ती अहिंसा विशेषांक'** के प्रकाशन के माध्यम से अहिंसा संबंधी चिन्तन-मनन व्यापक बनेगा, जीवन-व्यवहार मे इसके प्रयोग की प्रेरणा मिलेगी तथा अहिंसा का सकारात्मक पक्ष अधिक पुष्ट होगा जिससे समाज-सेवा व लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियों को वल मिलेगा।

डॉ० सम्पतसिह भाण्डावत — अध्यक्ष
टीकमचन्द हीरावत — कार्याध्यक्ष
चैतन्य ढढ्ढा — मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर

सम्पादकीय

आज विश्व के अनेक देश आतंकवाद, असुरक्षा, भय और हिंसा की गम्भीर समस्याओं से ग्रस्त है। हमारा देश भी साम्प्रदायिकता, क्षेत्रियता और आतंकवाद जैसी समस्याओं से जूझ रहा है। आज मनुष्य स्वयं मनुष्य के रक्त का प्यासा हो रहा है। प्रतिदिन समाचार पत्रों के पृष्ठ हत्या, डकैती, लूटपाट, आगजनी, बलात्कार आदि समाचारो से भरे रहते है। मानवीय संबधों में हार्दिकता धीरे-धीरे समाप्त होने लगी है। सहज मानवीय विश्वास और आस्था के मूल्य खंडित होने लगे हैं।

ऐसे कठिन एवं विषम समय में अहिंसा की उपयोगिता पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में 'अहिंसा परमोधर्मः' कहा गया है। अहिंसा के व्रत को पालने से अन्य व्रतों की पालना स्वतः ही हो जाती है तथा अन्य व्रतों के पालन से अहिंसा स्वतः पुष्ट होती चलती है।

अहिंसा के दो पक्ष है—निषेधात्मक तथा सकारात्मक। निषेधात्मक अहिंसा का तात्पर्य है किसी भी जीव अथवा प्राणी को नही मारना। सकारात्मक अहिंसा का तात्पर्य है प्राणी मात्र के प्रति करुणा, दया, प्रेम, सहयोग, वात्सल्य और मैत्री भाव रखना। काल के प्रवाह में अहिंसा का यह सकारात्मक रूप शनैः-शनैः कमजोर होता चला गया। व्यक्ति हृदयहीन, क्रूर, निर्दयी, स्वार्थलोलुप और लोभी होता चला गया। दूसरों को पीड़ित देख उसका हृदय द्रवीभूत नहीं वरन् आनन्दित होने लगता है।

अहिंसा का सच्चा मर्म है किसी को लेशमात्र भी कष्ट या पीड़ा नही पहुँचाना। भारतीय चिन्तन का मूल सार है—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अर्थात् परस्पर उपकार करते हुए जीना। पारस्परिक सहयोग, भ्रातृभाव और सौहार्द ही सच्ची अहिंसा है।

आज की युवा पीढ़ी की ओर दृष्टिपात कीजिए। इस बात में सन्देह नहीं कि आज का युवक अधिक जागरूक, जिज्ञासु, सजग और क्रियाशील है। उसका जीवन पहले की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक तथा आरामदेह हो गया है। ज्ञान-विज्ञान की क्रान्तिकारी प्रगति ने युवाओं के लिए न सिर्फ मनोरंजन के नानाविध साधन जुटा दिए हैं वरन् उसने ज्ञान के क्षितिज को भी काफी विस्तृत कर दिया है। इतना सब कुछ होने पर भी आज के युवक में जीवन के प्रति सकारात्मक और रचनात्मक दृष्टि विकसित नही हो पा रही है। आज का युवक सहयोग, प्रेम और अहिंसा के बजाय संघर्ष और हिंसा को साहस और शक्ति का प्रतीक मानने लगा है।

संघर्ष जीवन का पर्याय है। प्रश्न है संघर्ष किसका? संघर्ष किससे?

यह सघर्ष हमें दूसरों से नही करना है, संघर्ष करना है स्वयं अपने आप से, अपनी कमजोरियों से, अपने विकारों से, प्रगति के मार्ग की नानाविध बाधाओं से। यह सघर्ष ही पुरुषार्थ का पर्याय है। आज के शैक्षिक संस्थानों की स्थिति को देखकर हमे काफी दु:ख होता है। संघर्ष के नाम पर युवा पीढ़ी हिंसा, तोड़-फोड, आगजनी तथा हड़ताल जैसी गतिविधियों द्वारा अपनी शक्ति का अपव्यय कर रही है। गुरुजनों के प्रति दुर्व्यवहार आम बात होती जा रही है। युवा पीढी ने प्रकृति और जीवन के सत्य को गहराई से नही समझा है। 'संघर्ष नही, सहयोग' विकास का मूल मंत्र है। इस प्राकृतिक सत्य में कोई सन्देह नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव मे इन्द्रियो का जो विकास दिखाई देता है, वह परस्पर सहयोग के कारण ही है।

आज युवा पीढी को इस मर्म को समझना होगा कि सभी के प्रति सहयोग, प्यार और सेवा का भाव अहिंसा का सकारात्मक पक्ष है। यह भाव तभी आ सकता है जब व्यक्ति अपने को अपनी देह की सीमा में बांध कर नही रखे। अपने 'स्व' का वह विस्तार करता चला जाये। आज हमें स्वयं भी ऐसा वातावरण निर्मित करना होगा जिसमें युवा पीढी को अहिंसा तथा प्रेम के संस्कार मिल सकें।

आज हमारे सामने एक प्रमुख संकट है—उपभोक्तावादी संस्कृति का। समाचार पत्रों तथा रेडियो और विशेषकर दूरदर्शन पर प्रकाशित-प्रसारित व्यावसायिक विज्ञापनो ने एक उपभोक्तावादी जीवन दृष्टि विकसित करदी है। इन विज्ञापनो ने व्यक्ति के भीतर इन्द्रिय-विषयों के सेवन की भूख और मांग को बढा दिया है। आवश्यकताएँ इच्छाएँ बनकर पुकार उठी है। इन इच्छाओ की पूर्ति के साधन सीमित है। नित नवीन इच्छाओ के पनपने और उनकी पूर्ति न होने के कारण युवा पीढ़ी में एक ओर कुंठा, निराशा और हीनता की भावना घर करती जा रही है तो दूसरी ओर इनको भुलाने के लिए मादक पदार्थों के सेवन की प्रवृत्ति बढती जा रही है। यही स्थिति हिंसा, आतंक और अपराध वृत्ति को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार महत्त्वाकांक्षा और उपलब्धि के फासले में व्यक्ति अहिंसा के संस्कारों मे नही ढल पाता है।

कोई भी जनतांत्रिक सरकार बिना अहिंसा के आधार पर लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना नही कर सकती। हमारे संविधान के ढाचे के तहत निर्मित कानूनों का प्रमुख आधार अहिंसा ही है। समानता स्वतन्त्रता, धार्मिक सहिष्णुता, श्रम-कल्याण, शोषण-मुक्ति, वन्य जीव संरक्षण आदि से सम्बन्धित कानूनो के पीछे मूल भावना अहिंसक समाज रचना की ही है। आज हम जिस पर्यावरण सकट के दौर से गुजर रहे है, उसका एक प्रमुख कारण भोगवादी जीवन के प्रति बढती हुई ललक है। हमने अपने निहित स्वार्थों के लिए प्राकृ-

तिक संसाधनों का शोषण करना शुरू कर दिया। इसके कारण प्राकृतिक संतुलन बिगड़ने लगा है।

तीर्थंकरों, आचार्यों, संत-महात्माओं, महापुरुषों ने अहिंसा को परम धर्म बताया है और स्वयं अपने जीवन में उसका आचरण करते हुए, अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को अहिंसा-पालन का उपदेश दिया है। पर व्यवहार में देखा जाता है कि हम अहिंसा की बात तो खूब करते हैं लेकिन जीवन में उसे उतार नही पाते है, यह हमारे लिए चिन्ता का विषय है।

यह सही है कि धर्म के प्रति हमारी आस्था और भक्ति है। हम समय-समय पर तीर्थंकरों के पंच कल्याणक, महापुरुषों की जयन्ती, पुण्य तिथि आदि मनाते है। विशेष अवसरों पर व्रत, पूजा, उपासना आदि भी करते हैं, दैनन्दिन धार्मिक क्रिया भी करते है और अनुष्ठान भी मनाते है। पर उन सबके मूल में रही हुई भावनाओं को जीवन-व्यवहार में चरितार्थ नहीं कर पाते है।

विचारणीय विषय यह है कि हम महावीर का स्तवन, कीर्तन, गुणगान आदि वाचिक और कायिक स्तर पर ही करते रहेंगे या उनको अपने मन मे भी प्रतिष्ठित करेंगे? महावीर के समय में हिसा अपनी चरम सीमा पर थी। धर्म के नाम पर यज्ञों में पशु-बलि यहाँ तक कि नरबलि भी दी जाती थी। विचारो में दुराग्रह था और कई मत-मतान्तर थे। तीर्थंकर और प्रति तीर्थंकर के द्वन्द्व में बौद्धिक जगत् जी रहा था। ऐसे समय में महावीर ने आचार के रूप में अहिंसा और विचार के रूप में अनेकान्त तथा जीवन-शैली के रूप में अपरिग्रह का संदेश दिया, मन, वचन और कर्म की पवित्रता पर बल दिया और विवेक सम्मत सदाचार तथा तप, संयम को धर्म बताया—"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।"

मनुष्य को कई दृष्टियो से सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। इसमें प्रमुख दृष्टि है इसके विवेक और सयम भाव की। यही कारण है कि कई दार्शनिक विचारकों ने मनुष्य के कल्याण को सर्वोपरि मानकर अन्य प्राणियों के घात को भी उचित ठहराया है। पर जैन तीर्थंकरों ने प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा और प्रेम भावना को परम धर्म कहा है। भगवान महावीर ने अपने उपदेश मे स्पष्ट कहा है—

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला
अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा
सव्वेसिं जीवियं पियं —आचारांग

अर्थात् सभी जीवों को सुख प्रिय है, सुख अनुकूल है और दु.ख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है। प्राणी मात्र जीवित रहने की कामना वाले है। सबको अपना जीवन प्रिय है।

किसी भी 'प्राणी' की मन, वचन और काया से हिंसा न करना अहिंसा है। केवल काया का घात करना ही हिंसा नहीं है वरन् किसी को मानसिक रूप से कष्ट पहुँचाना, उसे ताड़ना देना, उसे गुलाम बनाना भी हिंसा है। महावीर ने 'प्राण' की व्यापक परिभाषा करते हुए उसे शक्ति, गुण और स्वभाव के रूप में देखा है। मोटे तौर से प्राण दो प्रकार के कहे गये है, द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राणों में पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और कायवल, श्वासोच्छ्‌वास तथा आयु को सम्मिलित किया गया है। भाव प्राणों से तात्पर्य है आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और निराकुलता आदि शाश्वत गुण। द्रव्य प्राणो का विनाश प्रत्यक्ष दिखाई देता है और इन प्राणों के घात में भाव प्राणों अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि गुणों का विनाश भी राग-द्वेप आदि कषायों के कारण अवश्य होता है। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि द्रव्य प्राणों का विनाश न हो पर भावों की कलुपता और विचारों की अशुद्धता के कारण भाव प्राणो का विनाश तो हो ही जाता है। अतः अहिंसा के पालन के लिए भावना की विशुद्धि पर अधिक वल दिया गया है।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हिंसा का मूल कारण क्या है? उत्तर में कहा गया है जव मन, वचन और काया की प्रवृत्ति राग-द्वेष आदि कपाय भावों के साथ जुड़ती है तव हिंसा जन्म लेती है। भगवान महावीर ने 'स्थानांग' सूत्र में हिंसा को दण्ड कहा है और इसके पाँच कारण वताये है। अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए प्रयोजनवश हिंसा करना अर्थ दण्ड है, विना प्रयोजन के कौतूहल आदि के लिए प्राणियों को मारना, क्लेश पहुँचाना, अग भंग करना अनर्थ दण्ड है। आशंका मात्र से किसी की हिंसा कर देना हिंसा दण्ड है। घात करने के लिए शस्त्र आदि का प्रयोग किसी प्राणी पर किया जाय और उससे किसी अन्य प्राणी का वध हो जाय तो वह अकस्मात दण्ड है। भ्रमवश मित्र को शत्रु और साहूकार को चोर समझकर दण्ड देना दृष्टि विपर्यास दण्ड है।

उक्त कारणो के अतिरिक्त हिंसा के क्रोध, मान, माया, लोभ, अज्ञान, प्रमाद, अविवेक, अंधविश्वास, रस लोलुपता, भोग वृत्ति आदि मुख्य कारण है। उनसे वचकर अपनी मन, वचन और काया की प्रवृत्तियो को क्रोध की बजाय क्षमा के साथ, मान की वजाय विनय के साथ, माया की वजाय सरलता के साथ, लोभ की वजाय सतोप के साथ जोड़कर अहिंसा का पालन किया जा सकता है।

जीवन-व्यवहार मे अहिंसा को चरितार्थ करने के लिए महावीर ने संयम और तप पर विशेप वल दिया है। संयम का अर्थ है अपनी वाह्य प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करना और सावधानीपूर्यक, विवेकपूर्वक सद्‌कार्य करना। महावीर ने इस दृष्टि से पाँच समितियो के पालन पर वल दिया है। गमनागमन, उठने-बैठने आदि में इस प्रकार सावधानी वरतना कि किसी छोटे-वड़े जीव को क्लेश

न हो, पीड़ा न पहुँचे ईर्या समिति है। वाणी से कर्कश, कठोर, क्लेश व भय जनक कथन न कर, हित मित, सत्य और मधुर वचन बोलना भाषा समिति है। भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र आदि के ग्रहण और उपयोग में सात्विक और सादी वस्तुओं का प्रयोग करना एषणा समिति है। दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के लेने, रखने, मल-मूत्रादि विसर्जन में सावधानी रखना, अपने परिवेश और पर्यावरण को शुद्ध बनाये रखना आदान-निक्षेपण समिति है।

समिति के साथ-साथ इन्द्रियों का गोपन-रक्षण करना भी आवश्यक है। इन्द्रिय-निग्रह को गुप्ति कहा गया है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति दुष्ट चिन्तन और अशुभ विचारों में न जावे, इस प्रकार का अनुशासन तप है। आज मानसिक अनुशासन और व्रत-संयम का पक्ष क्षीण होता जा रहा है। भोग विलास और इन्द्रियों के विषय-सेवन का रस बढ़ता जा रहा है। इसलिए अहिंसा को पुष्ट करने वाले सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों की पालना कठिन होती जा रही है।

अतः यह आवश्यक है कि हम "सादा जीवन उच्च विचार" को महत्त्व दें और व्रतों का कठोरतापूर्वक पालन करें।

अहिंसा के पालन में वैचारिक उदारता और शुद्ध भाव व चिन्तन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे स्वार्थ में जो सहायक है उन्ही के प्रति हम मैत्री न रखें वरन् प्राणी मात्र के प्रति हमारा मैत्री भाव हो, जो हमारी प्रशसा करें उन्ही में हम गुणों को न देखें बल्कि जिन-जिन व्यक्तियो में गुणवत्ता है, उसे महत्त्व दें, सम्मान दें और उनके प्रति प्रमोद भावना व्यक्त करे। जो हमारे कष्टों को दूर करने में मदद करें, उन्हीं के प्रति हम संवेदनशील न बनें बल्कि जगत् में जितने भी दुःखी प्राणी है, उन सबके दुःखों को दूर करने में हम करुणाशील बने। अपने ही मत या सिद्धान्त को हम सर्वश्रेष्ठ न माने बल्कि और जितने भी मत, सिद्धान्त और सम्प्रदाय है, उन सबमें रहे हुए मानवीय मूल्यों और सद् विचारों का समान भाव से आदर और सम्मान करें। अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को इतना शक्तिशाली बनायें कि कोई हमें डरा-धमका न सके और अपने को इतना संयमनिष्ठ और शीलवान बनावे कि हमारे द्वारा किसी के प्रति अन्याय और अत्याचार न हो। अहिंसक जीवन की यही कसौटी है।

अहिसा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करने की दृष्टि से 'जिनवाणी' के स्वर्ण जयन्ती वर्ष मे यह विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है। आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. ने अहिसा की साधना में ही अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था, उन्हीं के तपःपूत, निस्पृही, तेजस्वी व्यक्तित्व को यह वन्दनांजलि है।

यह विशेपांक दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड **'अहिंसा-विचार'** से सम्वन्धित है। इसमें अहिंसा के वैचारिक पक्ष को विश्लेषित करने वाले ३८ निवन्ध संकलित है। इन निबन्धों में जैन-जैनेतर धर्मो में अहिंसा के स्वरूप, सकारात्मक अहिसा के करुणा, वात्सल्य, अनुकम्पा, दया, निर्भयता, उदारता, सेवा, कर्तव्यपरायणता, वीतरागता आदि पहलुओं पर अहिंसक जीवन जीने वाले आचार्यो, मुनियों एवं साध्वियों के अतिरिक्त विशिष्ट विद्वानों के विचारो को सम्मिलित किया गया है।

द्वितीय खण्ड **'अहिंसा-व्यवहार'** से सम्बन्धित है। इस खण्ड में ४१ निवन्ध संकलित हैं। इन निवन्धों में हिंसा के कारण और प्रयोजन, अहिंसा व्रत के अतिचार, अहिंसा का अभ्यास, अहिंसा का प्रशिक्षण, अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया, विज्ञान और अहिंसा, अहिंसा और पर्यावरण, अहिंसक अर्थव्यवस्था, उद्योग-व्यवसाय, प्रशासन, शिक्षा, साहित्य, पशु-संरक्षण, मांसाहार-निषेध, अहिंसा और आतंकवाद, अहिंसा के प्रचार-प्रसार में जनसंचार माध्यमों की भूमिका, विश्वशांति के संदर्भ मे अहिंसा-प्रयोग जैसे विषयों पर अधिकृत विद्वानो के विचार समाविष्ट किये गये हैं। कतिपय रचनाएँ सम्बद्ध लेखकों की कृतियों से सकलित की गई है अतः उन लेखकों एवं प्रकाशकों के प्रति विशेप आभार।

स्थान-स्थान पर अहिंसा से सम्बन्धित बोध-कथा, प्रसंग, सूक्ति, कविता के रूप में प्रेरक और रोचक सामग्री प्रस्तुत की गयी है। परिशिष्ट मे हिसा-निवारण और शाकाहार-प्रचार में कार्यरत प्रमुख संस्थाओं की सूची दी गयी है ताकि अहिसा के क्षेत्र मे कार्यरत समाजसेवी विभिन्न संस्थाओ से जुड़कर अहिंसा प्रचार-प्रसार से सम्वन्धित गतिविधियो को सक्रिय बना सके।

जिन विद्वान् आचार्यो, मुनियों व लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस ग्रन्थ को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने में हमारी सहायता की है, उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते है। जैन धर्म-दर्शन के विद्वान् और अनुभवी साधक श्री कन्हैयालाल लोढ़ा, अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, वजाज नगर, जयपुर का सामग्री-संकलन और चयन मे विशेष सहयोग मिला है, अतः हम उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते है। प्रूफ-संशोधन मे चि. सजीव भानावत के योगदान के लिए क्या कहूँ ? सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के पदाधिकारियों एवं विज्ञापनदाताओं के हम विशेष आभारी है जिनके सद्-प्रयत्नों से हम वृहद्काय विशेपांक के प्रकाशन की व्यवस्था सम्भव हो सकी।

आशा है, इस विशेषांक का अध्ययन-मनन-चितन अहिसा भाव को पुष्ट करने एवं उसे जीवन में उतारने और समाज-सेवा तथा लोक-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने मे प्रेरक सिद्ध होगा।

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

अनुक्रमणिका



अहिंसा का आलोक*

☐ स्वर्गीय आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

अनन्तकाल से संसार का प्राणी कर्मपाश में बंधा हुआ है। जिससे वह अपने ज्ञानादि गुणों का पूर्ण प्रकाश नहीं फैला सकता। कर्म बन्ध की अनादिता से प्रश्न होता है कि जब कर्म अनादि हैं तो फिर मनुष्य की मुक्ति कैसे हो ?

यहाँ समझने की बात है कि सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं—एक संयोग सम्बन्ध और दूसरा समवाय सम्बन्ध। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्ध अथवा आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध, यह सयोग सम्बन्ध है और आत्मा का ज्ञान आदि निज गुण के साथ सम्बन्ध समवाय है, इसमें से पहले का सम्बन्ध अनादि होकर भी सान्त है, जबकि दूसरे का अनादि अनन्त सम्बन्ध है, न उसका संयोग है और न वियोग।

किसी को यदि योग्य निमित्त मिल जाय और उसमें उचित पुरुषार्थ हो तो आत्मा के साथ जो कर्म का सम्बन्ध हैं, उसका वियोग भी कर सकता है। जैसे सुवर्ण और धूलि का सम्बन्ध अनादि से होने पर भी रासायनिक प्रयोग से सोना शुद्ध होता है। मिट्टी में मिला हुआ भी जल शुद्ध किया जाता है वैसे ही आगन्तुक कारणों को रोक कर कर्म का भी अन्त किया जाता है। कर्म भी प्रवाह की अपेक्षा अनादि और स्थिति की अपेक्षा सादि है। जैसे छने जल के पात्र को ढंक दिया जाय तो नया मैल नहीं आता फिर वाष्प नलिका में फिल्टर कर उसे पूर्ण शुद्ध कर लिया जाता है। ऐसे ही व्रतों के द्वारा पापों का आगमन रोक कर तप एवं ध्यान से कर्म-मल का सर्वथा अन्त भी कर लिया जाता है।

कर्म के अणु संसार में चारों ओर भरे पड़े है, जब आत्मा उन्हें ग्रहण करती है तो वे उस-उस परिणति के अनुकूल फल देते है, जैसे भावावेश में आकर कोई भंग पी लेता है तो उसके दिल-दिमाग सब मस्ती से आवृत्त होकर कुछ और ही रूप हो जाते हैं। धीरे-धीरे उपचारों से वह प्रभाव मिटकर मन स्वस्थ होता है। जैसे भंग के परमाणु स्वयं के द्वारा ग्रहण करने पर ही दु.ख देते है, वैसे कर्म परमाणु भी अपने द्वारा ग्रहण किये जाने पर ही दु खदायी होते है।

कर्म बन्ध से बचने का उपाय साधना है जो दो प्रकार की है, एक साधु मार्ग की साधना और दूसरी गृहस्थ धर्म साधना। दोनों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच व्रतों के पालने की व्यवस्था की गई है। साधु-मार्ग की साधना महा कठोर और पूर्ण त्याग की है किन्तु गृहस्थ की धर्म साधना सरल है। गृहस्थ के व्रत में मर्यादा होती है। आनन्द की साधना भी देश साधना

---

* आचार्य श्री के प्रवचन से सम्पादित।

है। उसने श्रावक धर्म को स्वीकार करते हुए सर्व प्रथम स्थूल हिंसा का त्याग किया जो साधना पथ की सबसे बड़ी बाधा है।

संसार में जीवन-निर्वाह करते हुए शरीरधारी के सम्मुख हिंसा के अवसर आते रहते हैं। ऐसी स्थिति में अहिंसा व्रत का निर्वाह कैसे किया जाय? इस प्रकार आनन्द के द्वारा पूछे जाने पर प्रभु ने बतलाया कि हिंसा के दो भेद हैं:—एक स्थूल हिंसा और दूसरी सूक्ष्म हिंसा। सूक्ष्म हिंसा के अन्तर्गत निम्न पाँच बातें आती है—१. पृथ्वी काय के जीवों की हिंसा, २. जलीय जीवों की हिंसा, ३. अग्नि के जीवों की हिंसा, ४. वायु के जीवों की हिंसा, ५. वनस्पति के जीवों की हिंसा। गृहस्थ के लिए दैनिक व्यवहार में इनका सर्वथा त्याग सम्भव नहीं। फिर भी विवेकी को इसके लिए ध्यान रखना चाहिए कि यह सूक्ष्म हिंसा है। किन्तु दूसरी स्थूल हिंसा जिसमें एक कीट से लेकर पशु, पक्षी और मनुष्य तक सारे चर प्राणी आ जाते है, श्रावक को स्थूल रूप में चलने-फिरने वाले जीव जन्तुओं की जान-बूझकर दुर्भाव से हिंसा नहीं करनी चाहिए। आनन्द ने ऐसी प्रतिज्ञा की थी।

साधु या व्रती से पाप हो सकता है परन्तु उसका संकल्प है कि जान-बूझकर पाप नहीं करना। पाप का हो जाना और पाप करना ये दो भिन्न-भिन्न बातें है। करने में मन की प्रेरणा होती है और होने में मात्र काय-चेष्टा। यदि हमारे व्यवहार से किसी के हृदय पर ठेस लग गई और उससे क्षमा मांगकर परिशोधन कर लिया तो वह शान्त हो जायगा और यदि अनायास ही किसी को पीड़ा पहुँच जाय तो यह जान-बूझकर पीड़ा न पहुँचाने के कारण क्षम्य है किन्तु कंकर की चोट भले ही कम हो, पर जान-बूझकर मारने वाले को आप कड़ी दृष्टि से देखते है, किन्तु अनजाने मिलने वाली पीड़ा को क्षमा की नजरों से देखते है।

हर प्राणी को अपनी जान प्यारी होती है, अतएव हिंसा से बचना हर मानव का परम पुनीत कर्तव्य है। कवि ने ठीक ही कहा है—

प्रथम तो प्रिय धन सब ही को, द्रव्य से सुत लागे नीको।
पुत्र से वल्लभ तन जानो, अंग में अधिक नयन मानो॥
नयन आदि सब इन्द्रियन, अधिक पियारे प्राण।
या कारण कोई मत करो, पर प्राणन की हान॥
बुरी है जग में बेईमानी, दया पालो बुधजन प्राणी।
स्वर्ग अपवर्ग सौख्यदानी॥

जीव को अपना जीवन सबसे प्यारा होता है। अपनी जान के आगे वह किसी की भी परवाह नही करता।

एक जगह की बात है कि एक सेठजी को चौथेपन में पुण्य योग से एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। पुत्र का बड़े ठाठ से लालन-पालन हुआ। एक दिन सेठ

कहीं बाहर गए हुए थे कि उनके घर में अचानक आग लग गई और बच्चा घर के भीतर पालने में ही रह गया। घर के सब लोग जल्दी में बाहर हो गये। बच्चे की याद आयी तब तक तो घर में चारों ओर आग फैल गई थी और जोरों की ज्वाला निकल रही थी।

जब सेठ को पता चला तो उसने, बच्चे को बचाने के लिए बहुत धन देने का निर्णय किया, किन्तु धन के लिए जान पर खेलने वाला व्यक्ति उस जगह नहीं मिल सका। सेठ बच्चे के लिए छाती पीट-पीटकर रो रहा था। सेठ की व्याकुलता देखकर किसी व्यक्ति ने कहा कि सेठजी! स्वयं ही भीतर जाकर बच्चे को क्यों नही निकाल लाते हो? यह सुनकर सेठजी बोले कि यदि बचाने के बदले मैं स्वयं जल जाऊँ तो····! यदि मैं ही नहीं रहा तो पुत्र-मुख दर्शन का सुख कौन देखेगा? नीति मे भी तो कहा है—

आत्मानं सततं रक्षेत, दारैरपि धनैरपि

इस दृष्टान्त से तात्पर्य यह है कि सम्पदा और पुत्र आदि से, हर एक मनुष्य को अपना जीवन अधिक प्यारा है। अतः आत्मवत् मानकर किसी के भी प्राण को खतरे में डालना महान् घातक व बड़ा पातक है।

हिंसा करने वाले मनुष्य को हमेशा चिन्तित रहना पड़ता है। सताये गये व्यक्ति से प्रतिकार पाने की भावना भी मन को कचोटती रहती है। क्योंकि हिंसा प्रति हिंसा को उत्पन्न करती है, जो मनुष्य के लिए चिन्ता का कारण है। आप जानते हैं, एक साधारण व्यक्ति कहीं भी स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण कर सकता है। उसे किसी भी बात की चिन्ता नहीं होगी, किन्तु देश के प्रधानमन्त्री या बड़े-बड़े पदाधिकारी अकेले नहीं घूम सकते। उनके मन में शंका लगी रहती है, मगर जिसके मन में अहिंसा की भावना है, वह अकेले भी जगत् में घूम-फिर सकता है। गांधीजी हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय में भी नोआखली आदि पाकिस्तानी क्षेत्रों में घूम गये। कारण स्पष्ट है कि उनके मन में अहिंसा की पवित्र भावना थी, अतः वे सर्वत्र निर्भय रहते थे।

आचार्य पातजलि ने योग दर्शन में साधना के मार्ग में यम का लक्षण बतलाते हुए कहा है—'अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।' फिर अहिंसा की महिमा बताते हुए आप कहते हैं कि जिसके मन में अहिंसा की प्रतिष्ठा हुई हो, उसका किसी से वैर-विरोध नहीं रहता और भयंकर प्राणी भी उसके सामने वैर-भाव भूल जाते हैं जैसे कि—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" योग।

साधु वन-भूमि में हिंसक पशुओं से घिर कर तपस्या करते हैं। इन साधु-संतों के पास अहिंसा का ही बल है। पूर्ण अहिंसक के शरीर पर सर्प, बिच्छू

आदि विषैले जीव-जन्तु भी अपना विष नहीं लगाते। धार्मिक साधना में अहिंसा के द्वारा ही लोगों का दिल जीता जा सकता है। गृहस्थ भी यदि अहिंसा का व्रत धारण करे तो उसका कौटुम्बिक जीवन मधुर बन सकता है।

अहिंसा का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। शरीर से नहीं मारने तक ही अहिंसा सीमित नहीं है। मंत्र द्वारा दूसरे को हानि पहुँचाना, जादू-टोना करना, कटु वाणी का प्रहार कर ठेस पहुँचाना ये सब भी हिंसा के ही रूप है। यदि कोई किसी की कटु वाणी या छींटाकशी से उत्तेजित होकर आत्म-हत्या कर ले, तो आत्म-घाती के साथ-साथ छींटाकशी करने वाला भी पातकी होगा। अतएव खूब ध्यानपूर्वक हिंसा के पाप से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। आनन्द श्रावक ने प्रभु से कहा कि मैं ऐसी स्थूल हिंसा स्वयं नहीं करूँगा और न कराऊँगा ही। मन, वाणी एवं शरीर तीनों से स्थूल हिंसा का त्याग करता हूँ।

संयमित जीवन का अर्थ साधना को ऊपर बढ़ा ले जाना है। मगर जो साधना ऊपर बढ़ाने के बजाय अधोगामिनी हो, उसे साधना कहना साधना शब्द के महत्त्व को घटाना है। अब जरा पूर्ण साधक की जीवन झांकी प्रस्तुत करते है—भद्रबाहु। वे पूर्ण त्यागी थे। उनकी सत्यवादिता के चमत्कार से अपमानित वराहमिहिर के हृदय में आकुलता भर गई और वह प्रतिशोध के लिए प्रज्वलित हृदय हो गया, आर्त्तध्यान मे प्राण त्याग कर वह व्यन्तर देव बना और प्रतिशोध की भावना से पाटलिपुत्र के संघ मे प्लेग, हैजा का जन संहारक रोग फैलाने लगा। जब भद्रबाहु के पास संघ ने आकर रक्षा की प्रार्थना की तब भद्रबाहु ने शान्ति के लिए एक स्तोत्र की रचना की और कहा कि इसके पाठ से कोई संकट नहीं रहेगा। यद्यपि मंत्र-यंत्र आदि विद्या की जानकारी या प्रयोग गृहस्थ को बताना जैन साधुओं के लिए वर्जित है, किन्तु आगम व्यवहारी होने से भद्रबाहु ने इसमें संघ-रक्षा के साथ शासन की प्रभावना देखी। अतः 'उवसग्गहर' स्तोत्र की रचना कर दी जो आज भी अपने मंगल रूप में विद्यमान् है।

पाप मानव के सत्यानाश का कारण बनता है, पाप से संताप मिलता है तथा धर्म आत्म-सुख का निमित्त है। देशविरति आनन्द का नमूना और पूर्ण त्याग में महामुनि भद्रबाहु का आदर्श हम सबके सामने है। अपने सामर्थ्य के अनुसार हमें साधना का रूप ग्रहण करना है। वीतराग की प्रेरणामयी वाणी का लाभ लेकर स्वयं साधना करने से लौकिक और पारलौकिक दोनो तरह का कल्याण होगा और आत्मिक शान्ति प्राप्त होगी।

• जो व्यक्ति जरूरतमंदो के साथ बांटकर रोटी खाता है और हिंसा नही करता, वह संसार में रहते हुए भी परमात्मा की गोद में रहता है।

—तिरुवल्लुवर



अहिंसा, दया और करुणा की धारा जीवन में प्रवाहित हो !*

□ आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा.

जीवन निर्माण हेतु ज्ञान और संस्कार दोनों की आवश्यकता है। बिना जाने कल्याण का मार्ग क्या है, पाप का मार्ग क्या है, नही कहा जा सकता। तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी में :—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।। दश. अ. ४ गाथा ११

जीवन का सार क्या ? जानकर क्या करना चाहिए ? जाना हुआ व्यक्ति क्या करता है ? आज इस पर कुछ चिन्तन करें।

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावतं वियाणिया ।। सुय. १/४

ज्ञान लेने का, श्रवण कर लेने का और हिताहित के मार्ग के चिन्तन से निर्णायक भूमिका प्राप्त कर लेने का मात्र कारण अहिंसा है। ज्ञानी दूसरों को पीड़ा नही देता। ज्ञानी अपने समान सबको समझता है। ज्ञानी आत्मभाव में विचरण करता है। यही सिद्धान्त है, यही विज्ञान है, यही धर्म का सार है।

दया है तो धर्म है :

भारतीय संस्कृति में व्यवहार अथवा परमार्थ के जितने भी माप-तोल है, जितने भी निर्णय और निश्चय करने वाले सिद्धान्त है, वे सब दया पर आधारित है। सिद्धान्त की सूक्तियों में ऐसे कई उदाहरण मिलते है :—

तुगं न मंदराओ, आगासओ विसालयं नत्थि ।
जह तह जयम्मिजाणसु, धम्ममहिंसा समं नत्थि ।।

जैसे पर्वतों में सुमेरु से बढकर कोई नही, विशालता मे आकाश से बढ़ कर कोई विस्तृत नही, वैसे ही सम्पूर्ण धर्मों में अहिंसा से बढकर कोई धर्म नही। यहाँ का आहार—पेय, वस्त्र-परिधान, रहन-सहन, आजीविका चलाने के साधन, जीवन के जितने भी व्यवहार है, सब दया से तोले जा रहे है। खाना कौनसा ? जिसमे कम से कम हिंसा हो। मांसाहार का क्यों निषेध किया गया ? मांसाहार मानव का खाद्य नही, आहार नहीं। मांसाहार से जीवन की मूलभूत करुणा भावना समाप्त होती है। आदमी नृशस बनता है। जिसके घट मे दया नहीं तो कुछ भी नही। उर्दू के शायर ने कहा है—

* १० मार्च, १९९३ को महावीर भवन, लाखन कोटडी, अजमेर में दिये गये प्रवचन का सम्पादित अंश।

अगर तेरे दिल में दया ही नहीं,
समझ ले तुझे दिल मिला ही नहीं।

दया है तो धर्म है। दया के माहात्म्य को समझने के लिए प्रभु महावीर ने 'दशवैकालिक सूत्र' में कहा :—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं ।
अहिंसा णिउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ।। द. अ. ६ गाथा ६

धर्म के अनेक अंग हैं, मार्ग हैं, तथ्य हैं। उन सब में पहला स्थान अहिंसा का है। सम्पूर्ण जीवों को पीड़ा से रहित बनाने वाली अहिंसा है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सम्पूर्ण जीवों में जीने की इच्छा है, मरना कोई नहीं चाहता। नरक के नारकियों से लेकर नरेन्द्र-देवेन्द्र तक भी जीने की चाहना करने वाले हैं। जो जीना चाहता है, वह दूसरों को जिलाना चाहता है। जो मारता है, उसे मरना पड़ता है। काटता है, उसे कटना पड़ता है। दुःख देता है, उसे दुःख भोगना पड़ता है।

अहिंसा सब पापों का परिमार्जन है :

अहिंसा से बढकर कोई धर्म नहीं। अहिंसा सब पापों का परिमार्जन है। हिंसा का कोई परिमार्जन नही। एक व्यक्ति झूठ बोलता है, कल उसका मन शांत हो सकता है, पश्चात्ताप करके झूठ से ग्लानि हो जाय और वह सत्यवादी भी बन सकता है। मतलब झूठ बोलने वाला अपने पाप धो सकता है। चोरी के पाप में लिप्त व्यक्ति की भावना दण्ड से बदल सकती है। रोहिणेय जैसा चोर जिसने सैकडों का माल हड़पा लेकिन ज्योंही उसे चोरी से घृणा हुई, चोरी का पाप छूट गया। झूठ-चोरी के पाप धोये जा सकते हैं, अहंकार का पाप साफ किया जा सकता है पर जिसका जीवन हरण कर लिया, क्या आप उसके प्राणों को लौटा सकते है ? जीवन से रहित किये जीव को फिर से जीवन-दान नहीं दे सकते। आप तो छद्मस्थ है। अनन्त शक्तिमान वीतराग भगवन्त भी प्राण रहित को प्राण नही दे सकते। आज एक व्यक्ति का दिल दूसरे व्यक्ति में लगाया जा सकता है, किसी की आंख दूसरे व्यक्ति की आँख में बैठाई जा सकती है, अंगों का परिवर्तन तो हो सकता है लेकिन प्राणी को प्राण रहित करने के बाद उसमे फिर से प्राण नही दिये जा सकते। इसलिए सबसे बड़ा पाप हिंसा है। यह बात आपके समझ मे आई या नही ? मैं कह रहा हूँ इससे नहीं, आपके समझ में आनी चाहिए।

अनेक शास्त्रों का सार कह रहा हूँ—तथ्यपूर्ण कह रहा हूँ। आपकी माता आपके जन्म पर आप पर दया नहीं करती और इधर जन्म हुआ उधर गला घोंट दिया जाता तो सामायिक कौन करता ? शील कौन पालता ? आप प्राणयुक्त हैं इसीलिए आप यहाँ बैठे हैं, व्याख्यान श्रवण कर रहे हैं, सामायिक

हो रही है। दया नहीं करने वाला सम्पूर्ण पापों को करता है। चोरी करने वाला एक पाप करता है, झूठ बोलने वाला एक पाप करता है पर जो हिंसा करता है वह सम्पूर्ण पाप करता है। दया है तो जीवन है। जीवन है तो धर्म है।

आज अहिंसा धर्म कितना उपेक्षित है ?

अब, दूसरी तरह से चिन्तन करें। अहिंसा को परमोधर्म कहा। अहिंसा धर्म का मूल है, आज हम इस मूल धर्म को कितना उपेक्षित कर रहे है ? दूसरे शब्दों में आप धर्म से कितने दूर हटते जा रहे है ? हिंसा कितनी व कैसी अनर्थकारी है, आप चिन्तन करेंगे तो रोंगटे खडे हो जायेंगे। खाना पहले भी खाया जाता था, आज भी खाया जाता है लेकिन पहले मन उतना काला नहीं था। आज क्या-क्या बनावट करके डिजाइनो में सब्जियाँ काटी जा रही है। खाने मे एक ही चीज चार दिन लगातार आ जाय तो माथा ठनक जायगा।

आज खान-पान में हिंसा बढ़ी है। जैननामधारी मांसाहारी बन रहे हैं। जैसे केक, बिस्कुट, खाद्य पदार्थ, दवाओं में कैसे हिंसाकारी पदार्थ काम में लिये जा रहे है, चिन्तन करें। जो पदार्थ तामसी कहलाते थे, खाने योग्य नहीं माने जाते थे, उनको आज सामूहिक रूप में काम में लिया जा रहा है। आज शादी हो–विवाह हो या पार्टियाँ, आप में से कई एक लहसुन-प्याज तक काम में लेते है। इसे क्या कहा जाय ? क्या यह दया का रूप हो सकता है ? क्या आपके मन में दया माता की कोई भावना है ? व्याख्यान के अन्त में 'दया सुखां री बेलड़ी' बोलने वाले क्या बोल रहे है, इस पर चिन्तन करने की आवश्यकता है।

कल तक सूती या ऊनी कपड़े पहनने वाले आपके बच्चे आज चमड़े की जर्सी किस शान से पहनते है ? चमड़े की जर्सी कैसे बनती है आपने गंभीरता से सोचा ही नहीं। पहले बहिन बाजार से निकलती थी तब उसमें शर्म के भाव सहज दिखलाई पड़ते थे परन्तु आज बहिने शान से चमड़े का मनी बैग लटका कर चलती हैं। वह चमड़ा कैसे प्राप्त होता है, उसका उन्हें ध्यान तक नहीं। आप पुराने लोग तो फिर भी कपड़े की थैली हाथ में लेकर निकल जायेंगे परन्तु आपके बच्चे थैली के बजाय बैग रखना पसन्द करते है, क्यों ? आप थोड़ा चिन्तन तो करे कि चमड़े के बैग कैसे बनते है ? जिन्दे हालात में चमड़ी उतारना तो दूर, थोड़ा गर्म पानी डाल दे तो क्या महसूस होता है ? जब आपको गर्म पानी डालना भी सुखदायी माफिक नहीं होता तो कल्पना कीजिए जिन्दे जानवरों पर गर्म-गर्म पानी डालकर चमड़ी उतारी जाती है और उस चमड़ी से पर्स-बैग बनाये जाते है। क्या यह जीव दया में धर्म मानने वालों के काम में लेने योग्य है ? आपके सामने डॉक्टर इंजेक्शन लेकर खडा हो जाये तो कइयों को पसीना आ जाता है। जब एक सुई नहीं देखी जाती तो ऐसे करुणाशील लोग शान से चमड़े के बैग-पर्स कैसे काम में लेते हैं ? उन्हें तो सोचना चाहिए

कि इस तरह की सामग्री का उपयोग हिंसा को बढ़ावा देना है, उसमें भागीदारी डालना है, दुःख को निमन्त्रण देना है।

आहार व्यवहार की क्या बात कहूँ ! औषधियों में भी कैसी-कैसी वस्तुएं मिलायी जा रही है ? हड्डी, मांस, चमड़ी, खून क्या-क्या उपयोग में नही आ रहे हैं ? आप सोचने बैठेंगे तो रोंगटे खड़े हो जायेंगे।

अनर्थकारी हिंसा से बचें :

महान् पुरुषों का उपदेश है—मानव ! जो दे नही सकता, उसको ले भी मत। तू धन दे सकता है, सामान दे सकता है, बेटा-बेटी दे सकता है पर प्राणी को प्राण रहित करने के बाद पुनः प्राण नही दे सकता, इसलिए किसी जीव के प्राण हरण का तुझे क्या अधिकार है ? अनर्थकारी अनावश्यक भयंकर पाप कर्म क्यो कर रहा है ?

जीवन चलाने के लिए हिंसा होती है, करनी भी पड़ती है पर अनर्थ की हिंसाएँ हो रही हैं उससे बचना चाहिये। आप गृहस्थ है तो मकान की जरूरत हो सकती है, श्रावक उसमें भी उपयोग रखे तो अल्पारंभी रह सकता है परन्तु आज अनर्थ की हिंसा बढ रही है। बंगला बनायेंगे तो बगीचा भी बना लेंगे। अनर्थकारी हिंसा के एक-दो नही, कई-कई नाम गिनाये जा सकते है। मनोरंजन के लिए हिंसा करते विचार नही होता। आज मनोरंजन के लिए मेडे लड़ाये जाते है, मुर्गे लड़ाये जाते है, घोड़े दौड़ाये जाते है। घोड़ों की रेसें होती है। कौनसा घोड़ा फर्स्ट आता है, इसके लिए उन्हे मार-पीटकर तेज दौड़ाया जाता है। यह भी हिंसा में सम्मिलित है, अनर्थकारी है।

कई हिंसाएँ रूढियो के कारण होती है। आपने सुन रखा होगा—मिश्र के बादशाह का जब देहावसान होता है तो उसकी रानियों को जिन्दा ही उनके साथ दफनाया जाता है। अमुक मात्रा मे घोड़े, हाथी, दासी-दासियां दफना दिये जाते और यह माना जाता है कि वे उन्हे परभव मे आगे मिल जाएँगे। आपके घर में भी कोई बच्चा मर गया तो आप भी दूसरे दिन दूध का प्याला लेकर जाते हैं। जिन्दो को दूध मिले न भी मिले, पर मरने के बाद दूध का प्याला रखने की रूढ़ि है।

कुरीतियों के कारण भी हिंसाएँ हो रही है। धन के लिए क्या-क्या नहीं होता है ? बचपन मे आंखे निकाल कर बेची जा रही है, बच्चो के अंग-प्रत्यंग बेचे जाते है, बच्चों से भीख मंगवाई जा रही है। आज पैसों की प्राप्ति के लिए कैसे-कैसे तरीके अपनाये जा रहे है, आप जानते है।

मैंने सुना है कि आन्ध्र प्रदेश मे एक कत्लखाना जैन बन्धु के द्वारा खोला जा रहा है। खुद के पास लाखों की सम्पदा है पर धन की लालसा के लिए कत्लखाना खुलवाने की बात पर विचार आता है कि ऐसा धन इकट्ठा करके

कहाँ ले जायगा ? एक तरफ ऐसे भी लोग है जो एक-एक जानवर को छुड़ाते है, दूसरी तरफ ऐसे भी मिल सकते है जो कत्लखाना खुलवाने में भागीदार बनते हैं। आप एक वर्ष में जितने जानवर बचायेंगे, कत्लखाने में एक दिन में उससे कई गुणा प्राण रहित हो जायेंगे। आपको अहिंसा का स्वरूप समझना है तो आप इन सब बातों पर गंभीरता से चिन्तन करें।

हिंसा के कैसे-कैसे रूप :

आज हिंसा के कैसे-कैसे रूप है, साधारण तौर पर ध्यान में ही नहीं आते। मैंने कहीं पढा है कि ब्रिटेन में चिकित्सा सम्बन्धी खोज करने के लिए पचास लाख पशुओं को काटा जाता हैं। किसी जानवर को काटने पर कैसी वेदना होती है इसको समझने के लिए आप अपने पर से विचार करें। आप अपनी अंगुली पर वार करके देखें। आप अपनी अंगुली को काट नहीं सकते पर कभी तवे पर रोटी डालते समय अंगुली तवे से छू जाय तो भी वेदना होती है, इसका आपको अनुभव होगा। आपको शायद अनुभव हो या न भी हो पर बहिनों को अनुभव है कि अनजाने में तवे से अंगुली छू जाने पर पीड़ा होती है। जब मात्र छू जाने पर वेदना हो सकती है तो काटने पर कितनी वेदना होती होगी ?

आज कुत्तों पर प्रयोग होते है, बिल्लियों पर प्रयोग होते हैं। खरगोशों के कान में तेजाब डाला जाता है जिससे कान फूलता है, खरगोश भागता है, खरगोश के कान से निकले खून की नेलपालिश बनती है। ऐसी हिंसाकारी वस्तुओं के प्रयोग में आपको कितना संकोच है, जरा अपने से पूछे ?

आज किसे कहें, कौन सुने ? आप में से कइयों को हमारे पास आने की फुर्सत नही और कुछ लोग संतों के पास आकर सुन भी ले तो सोचते हैं हमें क्या ? किसी के बच्चा न हो तो वह कहाँ-कहाँ नहीं जाता। डॉक्टर के पास जायगा, भैरू-भवानी की मनौती करेगा और कई तो नासमझ महाराज तक के पास यह कहने उपस्थित हो जायेंगे कि बाबजी ! बच्चा नहीं हुआ। बच्चा नहीं होने पर तो स्थान-स्थान पर जायेंगे, मनौतियां मनायेंगे और बच्चा हो जाय तो उसे १० मिनट संस्कार देने की, दया के स्वरूप को समझाने की, किसी को दुःख नही देने की बात कहने की फुर्सत नहीं।

कई ऐसे भी है जो ताश-चौपड़ में टाइम गंवा देंगे, इधर-उधर की बातो में समय बर्बाद कर देंगे लेकिन अपने बच्चों को जिन्हे संस्कार की जरूरत है, उन्हें संभालने की आप में अधिकाश को फुर्सत नहीं। जरूरत है बच्चों में संस्कार देने की। आपने संस्कार नहीं दिये तो हिसा का यह रूप बन्द नही होगा। मैं कह रहा था कि फैशन के कारण हिसा बढ़ रही है, मनोरंजन के कारण हिसा वढ रही है वैसे ही राजनैतिक कारणों से भी हिसा बढ़ रही है।

राजनीति में हिंसा की बात कहूँ—एक-एक दिन में लाखों मौत के घाट

उतार दिये गये। आज निर्दोष लोगों को कैसे सताया जा रहा है, किस प्रकार यातनाएँ दी जा रही है, कहे तो दिल कांप उठे आपका।

मन में दया नहीं तो कुछ भी नहीं.

धर्म का मूल दया है। कबीर ने कहा—

भावे जाओ द्वारका, भावे जावो गया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सबमें मोरी दया।।

चाहे द्वारिका जाओ, चाहे मथुरा, पुष्कर जाओ या गिरनार, मन में दया नहीं तो सब तीर्थों में जाकर भी दुःख से बचोगे नहीं।

कहते है—पढ़ लिख गया, डिग्री प्राप्त करली, पी-एच. डी. करली, करोड़ों पद कंठस्थ कर लिये, बोलने का कहें तो घण्टों बोल सकता है किन्तु तेरे मन में दया नही तो कुछ भी नहीं। बिना कारण दूसरों को दुःख नहीं देना चाहिये, यह नहीं सीखा तो कुछ नही सीखा।

आपने अहिंसा परमोधर्म को जान लिया, जीवन में करुणा और दया का आचरण आ गया तो मानिये स्वर्ग के दरवाजे खुलते देर नही लगेगी। जिसके मन मे दया है, वह झूठ बोलते डरेगा। मन में करुणा है तो वह किसी को सतायेगा नही, दुःख नही पहुँचायेगा। अहिंसा को जीवन में उतारने वाला क्रोध नही करेगा, मान-माया-लोभ उसके पास नही फटकेंगे, वह पापों से बचा रह सकेगा। जिसके घट में दया माता का निवास है उसके लिये बहुत कुछ कहा जा सकता है। ज्यादा कहने का अभी समय नहीं है, आप यत्किंचित् भी दया की आराधना कर अनर्थकारी आवश्यक हिंसा के पाप से बचने का प्रयास करेंगे तो वीतराग वाणी के श्रवण का सही लाभ प्राप्त कर सकेंगे। 'आचारांग' सूत्र में जिनेश्वर भगवन्तों के वचन मिलते है कि यह धर्म शाश्वत है, नित्य है, ध्रुव है, अनादिकालीन है। संसार रहेगा तब तक अहिंसा धर्म रहेगा। दूसरे-दूसरे धर्मों का लोप हो जायेगा। भरत-एरावत्त की दृष्टि से पंचम काल समाप्त हो जाने के बाद एक प्रहर रहेगा. छट्ठा आरा शुरू होगा तब व्रत रूप धर्म नही रहेगा, न सत्य पालन की प्रतिज्ञा रहेगी न अणुव्रती का संकल्प रहेगा तथापि दया रहेगी।

ससार के जितने भी जीव है वे सब सुख-शांति की इच्छा रखने वाले हैं। दुःख, वेदना, कष्ट, पीड़ा कोई नही चाहता। एक धर्म सब को इष्ट है, वह है अहिंसा। अहिंसा सब धर्मो का सार है। 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र के प्रथम संवर द्वार मे तीर्थंकर प्रभु महावीर ने अहिंसा भगवती का गुणगान करते हुए कहा है—यह अहिंसा भगवती डरे प्राणियो को अभय देने वाली है,

शरण देने वाली है । चोरी की बुरी आदत के कारण चोर पकड़ा गया, उसे महाराजा ने फांसी की सजा सुनाई । महाराजा सुनवाई कर रहे थे, उस समय महाराजा की चारों रानियाँ उसे देख रही थी । शरीर से सुन्दर, कांतिवाला युवक था । मौत का नाम सुनकर काँप उठा । उधर रक्षण की भावना से रानी को दया आ गई । रानी ने महाराजा से कहा—यह डरा हुआ है, इसे एक दिन के लिये मुझे दे दिया जाय । महाराजा ने एक दिन के लिये चोर को रानी के सुपुर्द कर दिया ।

चोर को नहलाया गया, अच्छे वस्त्र पहनाये गये, भोग-उपभोग की सामग्री दी गई पर चोर के भीतर में मरने का भय था, उसे भोग-उपभोग की सामग्री प्राप्त होने पर भी कोई आनन्द नही । क्यों ? मौत की तलवार सिर पर जो लटकी हुई थी । एक एक करके तीन रानियों ने एक-एक दिन चोर को खिलाया-पिलाया । चौथी रानी की बारी आई । उसने महाराजा से कहा—मुझे एक दिन नही, यदि आप देना ही चाहते हैं तो इस चोर को अभयदान दे दीजिये ।

अभयदान श्रेष्ठ है । अभयदान दया है, अहिंसा है । नीति के वचन में कहूँ—

दया गई तो धर्म गया, धर्म गया तो कुछ रहा नही ।
सब कुछ देकर धर्म रख लिया, तो तेरा कुछ गया नही ।।

संसार में ऐसे लोग भी हैं जिन्होने दया के लिए सब कुछ दिया, प्राणो तक का समर्पण कर दिया । दया समकित देने वाली है, दया स्वर्ग दिलाने वाली है । हाथी के भव में सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले 'ज्ञाता धर्म' के अधिकारी मेघकुमार की बात आपने कई वार श्रवण की है । मै उसे पुनः नहीं दोहराना चाहता पर आपके ध्यान मे आये इसलिये कहना चाहता हूँ कि एक जीव को बचाने वाला सम्यक्त्व प्राप्त कर रहा है । जीवन भर मे उस हाथी ने कितनी हिंसाएँ की, कितने पेड़ उखाड़े, लेकिन एक जीव की दया की भावना से उसे मोक्ष मार्ग में प्रवेश करने का प्रमाण-पत्र प्राप्त हो गया । जीव दया मे अपने आपकी दया भी है, दूसरे जीवों की दया भी है ।

आप हिंसा कब करते है ? आपके शरीर मे मवाद हो और उसमें एक कीड़ा पड़ जाय, सहन नही होता । घर में मच्छर हो जाय, आप क्या करते है ? आप जरा चिन्तन तो करें । आपने धर्म को ऐसा विपरीत कर दिया कि आज अहिंसा या दया भी हास्य का कारण बन गई है । धर्मी के विपरीत आचरण से धर्म बदनाम होता है । लिलोत्री के त्याग करना, स्नान के त्याग करना कब शोभा देगा ? अगर लिलोत्री के त्याग करने वाले अपनी बहू पर घासलेट डालकर तूली लगा दें तो क्या धर्म बदनाम नही होगा ?

तीर्थंकर प्रभु महावीर ने धर्म का क्या यही रूप बताया है कि घर वालों को मारे जाओ और पानी छानकर पीओ ? दया के स्वरूप को समझने की जरूरत है। पहले पंचेन्द्रिय की दया करनी चाहिये या एकेन्द्रिय की ? आज आप जमीकन्द छोड़ सकते है पर स्वधर्मी के साथ प्रेम से नही रह सकते तो इससे क्या धर्म की प्रभावना बढ़ती है ? एक भाई आया और उससे पूछा—क्या नियम है ? बोला—बावजी ! मारे सगला नियम है। पास बैठा दूसरा भाई बोला—महाराज ! यह रोज सामायिक करता है, हरी नही खाता पर घर में भाई-भाई ऐसे लडते है कि पूछो मत। ऐसे विपरीत आचरण वाले भाई धर्म को बदनाम करते है।

भगवान महावीर ने कहा—दया स्वर्ग दिलाने वाली है। चण्डकौशिक जैसा साँप जिसने भगवान को नही छोड़ा पर जब अहिंसा की भावना बन गई तो चीटियों की दया करके आठवे स्वर्ग का अधिकारी बन गया। चण्डकौशिक में जब दया की भावना आ गई तो उसने अपना शरीर का हलन-चलन वन्द कर दिया। उसने विचार किया कि मेरे हिलने पर शरीर पर रही चीटियो की घात हो सकती है।

आप सामायिक करते हैं, धर्म-ध्यान करते है। आपका सामायिक-पौषध कब तक ? थोड़ी सी वेदना हुई नही कि धर्म-ध्यान सब छूट जाता है। आप में कई तो सहज रूप से कहते भी हैं 'आपत् काले मर्यादा नास्ति।' आप अहिंसा धर्म के मर्म को समझे तो आपको अपने शरीर की नही धर्म की फिकर होगी। शरीर आज है, कल नहीं रहेगा। इधर कष्ट आया उधर धर्म छोड़ दिया, यह रूप दया धर्म का नही है—

चार वेद मुख से पढ़िया, समझ बिना सब झूठ।
जीव दया पाली नहीं, तो सब माथा कूट ॥

दया है तो वह सम्यक्त्व के प्रकाश को निर्मल रखेगी। दया है तो आप व्रतों में आगे बढेंगे। दया है तो सत्य-शील सदाचार और अन्य-अन्य धर्म होगे। दया नही तो कुछ भी नहीं।

नीति कहती है—सब कुछ चला गया तो भी कुछ नहीं गया, यदि एक दया है तो सब कुछ रह गया—

न तद् दानं, न तद् ध्यानं, न तद् ज्ञानं, न तद्तपः।
न सा दीक्षा, न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ॥

जहाँ दया नहीं तो दान दान नहीं, दया नहीं तो ध्यान ध्यान नहीं, दया नहीं तो तप तप नही। आप भी कुछ देते है। कुत्ते को रोटी, कबूतर को

दाना, गाय को घास। जैसे आप किसी को कुछ देते हैं शिकारी भी कुछ देता है। आपके देने का उद्देश्य किसी को साता पहुँचाना है। शिकारी भी देता है पर उसका उद्देश्य साता पहुँचाना नहीं, जाल में पकड़ना है। आप किसी को देकर शीशी में उतारना चाहते है तो आपका वह देना भी पाप है। देने को तो आप ग्राहक को भी कुछ देते है। आज ग्राहक आते ही उसे चाय, ठण्डा देते है, क्यों ? आप उसे आकर्षित और प्रभावित करना चाहते हैं जिससे वह आपका माल खरीदे। नीति कहती है—दया नहीं तो दान दान नहीं है।

आज टी. वी. से भी ज्ञान मिलने की बात कही जाती है। कैसा ज्ञान ? चोरी का ज्ञान, किसी की जेब साफ करने का ज्ञान ! आज सुनते हैं मुसाफिरों को कोई दवा सुंघा दी जाती है और लूटकर माल साफ कर लिया जाता है। ट्रेनों में चाय के साथ नशीली दवा मिलाकर पिला देते है। बेहोश होने पर सामान लेकर चम्पत हो जाते है, इस तरह का ज्ञान, ज्ञान नहीं है।

बगुला क्या करता है ? एक टांग पर खड़ा रहता है लेकिन दया नहीं इसलिये उसका ध्यान, ध्यान नहीं। वह एक टांग पर खड़ा रहकर बाट जोहता है कि कब मछली आये और कब वह उसे पकड़े। बिल्ली भी कोने में चुपचाप बैठी रहती है। किस लिये ? उसका ध्यान चूहे की ओर रहता है ताकि ज्यों ही चूहा आये, उसे पकड़े।

व्याख्यान में बैठने वालों में भी कुछ भाई इस बात का ध्यान रखते है कि कौन आया, कौन नहीं आया। कई सामायिक लेकर बैठते हैं, उसमें से भी कुछ भाई महाराज को देखें, नहीं भी देखे पर नई साड़ी पहन कर कौन आई, उसे देखेंगे।

जिसमें हितचिन्तन-करुणा की भावना और दयादृष्टि नहीं तो वह ध्यान, ध्यान नहीं। खड़े-खड़े सूख जायेंगे, उल्टे लटक जायेंगे, भगवान ने ऐसे तप को बाल तप कहा है। वह अज्ञान तप है। तप का मतलब अपने आपको तपाना है, अगर तप होता तो कमठ की जिन्दगी बरबाद नहीं होती। शास्त्र कह रहा है कि वह तप, तप नहीं जहां दया नहीं, वह व्रत, व्रत नहीं जिसमें दया नहीं, वह आचरण, आचरण नहीं जिसमें दया नहीं। दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की भावना है तो वह दीक्षा, दीक्षा नहीं।

धर्म के सिद्धान्त का महत्त्व दया से है। सब धर्मों में दया ही श्रेष्ठ है। दया के दो भेद है—एक द्रव्य दया, एक भाव दया। उठते-बैठते,

तीर्थंकर प्रभु महावीर ने धर्म का क्या यही रूप बताया है कि घर वालों को मारे जाओ और पानी छानकर पीओ ? दया के स्वरूप को समझने की जरुरत है। पहले पंचेन्द्रिय की दया करनी चाहिये या एकेन्द्रिय की ? आज आप जमीकन्द छोड़ सकते है पर स्वधर्मी के साथ प्रेम से नही रह सकते तो इससे क्या धर्म की प्रभावना बढ़ती है ? एक भाई आया और उससे पूछा—क्या नियम है ? बोला—बावजी ! मारे सगला नियम है। पास बैठा दूसरा भाई बोला—महाराज ! यह रोज सामायिक करता है, हरी नही खाता पर घर में भाई-भाई ऐसे लड़ते है कि पूछो मत ! ऐसे विपरीत आचरण वाले भाई धर्म को बदनाम करते हैं।

भगवान महावीर ने कहा—दया स्वर्ग दिलाने वाली है । चण्डकौशिक जैसा साँप जिसने भगवान को नहीं छोड़ा पर जब अहिंसा की भावना बन गई तो चींटियों की दया करके आठवे स्वर्ग का अधिकारी बन गया । चण्डकौशिक में जब दया की भावना आ गई तो उसने अपना शरीर का हलन-चलन बन्द कर दिया। उसने विचार किया कि मेरे हिलने पर शरीर पर रही चीटियों की घात हो सकती है।

आप सामायिक करते हैं, धर्म-ध्यान करते हैं। आपका सामायिक-पौषध कब तक ? थोड़ी सी वेदना हुई नही कि धर्म-ध्यान सब छूट जाता है। आप में कई तो सहज रूप से कहते भी है 'आपत कालै मर्यादा नास्ति ।' आप अहिंसा धर्म के मर्म को समझें तो आपको अपने शरीर की नही धर्म की फिकर होगी। शरीर आज है, कल नहीं रहेगा। इधर कष्ट आया उधर धर्म छोड़ दिया, यह रूप दया धर्म का नही है—

चार वेद मुख से पढ़िया, समझ बिना सब झूठ।
जीव दया पाली नहीं, तो सब माथा कूट ॥

दया है तो वह सम्यक्त्व के प्रकाश को निर्मल रखेगी। दया है तो आप व्रतों मे आगे बढ़ेंगे । दया है तो सत्य-शील सदाचार और अन्य-अन्य धर्म होगे। दया नही तो कुछ भी नही।

नीति कहती है—सब कुछ चला गया तो भी कुछ नहीं गया, यदि ए[illegible] दया है तो सब कुछ रह गया—

न तद् दानं, न तद् ध्यानं, न तद् ज्ञानं, न तद्तपः ।
न सा दीक्षा, न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ॥

जहाँ दया नही तो दान दान नहीं, दया नही तो ध्यान ध्यान न[illegible] दया नहीं तो तप तप नहीं। आप भी कुछ देते हैं। कुत्ते को रोटी, कबूतर

खाने-पीते कभी हिंसा होने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता और बाहर में व्यावहारिक दया होते हुए भी मन में करुणा भाव नहीं है तो हिंसा का पाप लगता है।

मन में करुणा और दया होनी चाहिए। जिसके मन में करुणा और दया होगी वह अनर्थ की हिंसा नहीं करेगा और प्रयोग से काम करते हुए भी हिंसा में कमी करेगा। दया की भावना वाले ऐसे लोग भी है जो दूसरो के प्राणों को बचाने के लिये अपने प्राण अर्पण कर दें।

तीर्थंकर प्रभु महावीर ने आठ प्रकार के हिंसक कहे हैं—

अनुमंता, विशसिता, निहंता क्रय विक्रयी।
संस्कर्ता, चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातकाः॥

मारने वाला हिंसक है, कहने वाला, अनुमोदन करने वाला, बनाने वाला, बेचने वाला, लाने वाला, लाकर देने वाला ये सब क्या है?

आप एक सिद्धान्त, एक धर्म के मूल को पकड़कर चलिये कि जीवन मे अनावश्यक हिंसा नहीं हो। आप आवश्यक का सर्वथा त्याग नहीं कर सके तो भी मर्यादित करके चलेंगे तो बहुत कुछ हिंसा के पाप से बचे रह सकेंगे।

नीति कहती है—

दुःख दिया दुःख होत है, सुख दिया सुख होत।

तू रहम करेगा तो रहमान तेरे पर रहम करेगा। हर धर्म, हर पंथ, हर ग्रन्थ इस विषय में एक मत वाले हैं। जीव हिंसा को कोई धर्म नहीं मानता। जहां कहा भी गया है वहां दृष्टि-भेद है। ज्योंही ज्ञान का प्रकाश हुआ नहीं कि उसकी दृष्टि बदल जायगी।

हिंसा करना धर्म नही है। आप सम्पूर्ण पापों को नहीं छोड सकते तो मर्यादा करके कम करें। पहले पंचेन्द्रिय के साथ करुणा लाइये। पंचेन्द्रिय जीवो पर दया और करुणा के भाव होने पर अन्यान्य जीवों पर भी दया के भाव आने स्वाभाविक हैं। कीड़ियों के प्रति आपके मन में कोमलता के भाव रहें और अपने भाइयों के प्रति द्वेष और घृणा के भाव रहे तो कहना होगा कि अहिंसा धर्म को आपने अभी जाना ही नही। दया या अहिंसा के महत्त्व को समझने की जरूरत है। आप दया को घट में रखकर आगे बढ़ेंगे तो इस लोक-परलोक में शान्ति-आनन्द पा सकेंगे।

★



अहिंसा का विवेक जागृत करें !*

☐ उपाध्याय श्री मानचन्द्र जी म० सा०

वीतरागता के लिए ज्ञानियों ने एक संकेत दिया वह सूत्र है नि:संगता। नि:संगता अर्थात् संग से रहित होना। संग पर वस्तु का होता है। अपनी वस्तु का संग तो हमेशा से ही है। संयोग-वियोग पर से होता है। आत्मा का वीतराग भाव आत्मा के पास निरन्तर रहा हुआ है। आत्मा किसी गति में चला जाय, जिस किसी स्थान पर रहे उसमें वीतराग भाव रहेगा। विकारी अवस्था पर विजय प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक साधना है, संतजन, श्रावकजन और जितनी भी मुमुक्षु आत्माएँ है सब विकारी अवस्था दूर करके वीतराग भाव पाने के लिए प्रयास करती है। सच्ची अहिसा की स्थिति में वीतराग भाव होता है। जानियों ने राग-द्वेष को भी हिंसा का कारण माना है। जहां तक राग-द्वेष हैं वहाँ तक पूर्ण अहिसा नही हो सकती।

जैन अहिंसा का वैशिष्ट्य :

(जितने धर्म है, जितने पथ हैं, उन सबने अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया है। धर्म का प्राण अहिसा है। फिर भी सबकी अहिसा एक समान नहीं है। ईसा की अहिंसा भी है तो बौद्ध की अहिसा भी है, अहिसा को सनातनी भी मानते हैं, जैनी भी मानते है। कुरान में भी हिंसा का निषेध किया गया है। अहिसा का रूप सब धर्मो में है किन्तु सबकी सीमाएँ अलग-अलग है। ईसाइयो की अहिसा मानव तक सीमित है। मानव बचता है तो दूसरे प्राणियों के प्राणों के हरण में उन्हें संकोच नही होता। बौद्धों की अहिसा में प्राणी को मारेंगे नही परन्तु मरे जानवर का मांस सेवन करने में उन्हें ऐतराज नही होगा। सनातन धर्म की अहिंसा बस प्राणियों तक सीमित है पर पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय में जीव-हिसा की जैसी सूक्ष्म व्याख्या जैन धर्म में है वैसी सनातन धर्म में कल्पना नही है।) किसी गाड़ी में जानवर जोता जा रहा है, उस गाड़ी में बैठने के लिए सनातनी एतराज करेंगे पर जिसमे जानवर नही जोते जाते, सनातनी उसमें बैठने में अधर्म या हिसा नही मानते।

जैनियों की अहिंसा बहुत बारीक है। महात्मा गांधी के जीवन पर जैनियों की छाप पड़ी। गांधीजी ने अहिंसा की बदौलत स्वाधीनता आन्दोलन छेडा और देश की स्वतन्त्रता की बात पूरी की। भगवान् महावीर की अहिसा केवल स्थूल प्राणो के लिए नही है। त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, पर्याप्ता-अपर्याप्ता

*६ मार्च, १९९३ को लाखनकोटडी, अजमेर मे दिये गये प्रवचन का सम्पादित अश।

सभी जीवों की हिंसा के परित्याग का रूप जैनियों की अहिंसा में समाहित है। राग-द्वेष को भी हिंसा के रूप में माना गया। राग-द्वेष जहाँ भी हैं वहाँ अपने आत्मीय गुणों का घात होता है। जहाँ आत्मीय गुणों में रुकावट आए वहां हिंसा हो सकती है। राग-द्वेष को हिंसा का मूल कारण माना है इसलिए रागात्मक प्रवृत्ति से बचा रहना भी अहिंसा का स्वरूप है।

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा का अन्तर :

दूसरे-दूसरे धर्मों में द्रव्य हिंसा को महत्त्व दिया लेकिन जैनियों की अहिंसा में द्रव्य और भाव दोनो हिंसाओं के निषेध की बात कही, इसीलिए जैनियों की अहिंसा बहुत बारीक है। व्यवहार और निश्चय दोनों रूपों में हिंसा है, अहिंसा है। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा का जितना सूक्ष्म स्वरूप जैन दर्शन में है उतना अन्यान्य धर्मों में कहीं नहीं है। द्रव्य हिंसा उतना कर्म बन्ध का कारण नही जितनी कि भाव हिंसा। भाव हिंसा बाहर से तो दिखलाई नहीं पड़ती परन्तु अन्तर में कर्म बन्धन का अधिक निमित्त उपस्थित करती है। जब तक हिंसा क्या है नहीं समझेंगे, वहाँ तक अहिंसा का स्वरूप नहीं समझा जा सकता। अहिंसा को जानने के लिए हिंसा को समझना जरूरी है। हिंसा क्या है, कैसे होती है, क्यों त्याज्य है, इन सबको पहिचानने के बाद अहिंसा का पालन सहज हो सकता है। द्रव्य हिंसा योगों के निमित्त से होती है। भाव हिंसा कषायो के निमित्त से। हिंसा के प्रधान दो कारण है, एक योग दूसरा कषाय। जिसने कषायों को जीत लिया, राग-द्वेष पर विजय पा ली, उनसे हिंसा नही होती।

द्रव्य हिंसा नही हो ऐसे संस्कार तो हममें हैं। किसी श्रावक से कहा जाय—यह मक्खी चल रही है इसे मार दे तो वह उसे नही मारेगा। मारने का कहने पर जवाब में वह कहेगा—मैं जैन हूँ, मैं किसी जीव को नहीं मारता। द्रव्य हिंसा करे, ऐसे संस्कार उसमें नही है। द्रव्य हिंसा नहीं करने वाला राग को उतना बुरा नही मानता।

अट्ठारह पापो में पहला पाप है—प्राणातिपात। जैसे प्राणी की घात नहीं करने के संस्कार है, वैसे दूसरे पापों से बचने के संस्कार नही। थोड़े से प्रलोभन के लिए झूठ बोल जायेंगे। इनकम टैक्स-सेल्स टैक्स की चोरी को आप चोरी मानते है, या नही ? चोरी चाहे इनकम टैक्स की हो, चाहे सेल्स टैक्स की हो, चोरी तो चोरी ही है पर उसे आप कितना मानते है ?

मैं द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा की बात कह रहा हूँ। कभी-कभी द्रव्य हिंसा नहीं होते हुए भी भाव हिंसा हो जाती है और भाव हिंसा से कर्म बंधते है। 'भगवती सूत्र' मे उल्लेख है कि एक सातवी नरक से निकलने वाला जलचर जन्तु पुनः सातवीं नरक मे चला जाता है। एक हजार योजन लम्बे मच्छ की भौंहों पर रहने वाला तंदुल मच्छ जो मन वाला है, वह हजार योजन लम्बे

मच्छ से ज्यादा कर्म-बन्ध कर लेता है। मच्छ हजारों जल-जन्तुओं को खाता रहता है। फिर भी मन नहीं होने के कारण वह भाव हिंसा का अधिकारी नहीं बनता। वह मरकर नारकी में चला जाता है पर वह पहली नरक से आगे नहीं जाता। परन्तु उस मच्छ की भौहों पर बैठा तेन्दुल मच्छ जिसके मन भी है, वह सोचता है कि मेरी इतनी बड़ी देह हो तो मै एक भी जानवर को नही बचने दूँ, सबके सबको खा जाऊँ। इस भावना से ऐसे कर्म का बन्ध कर लेता है कि वह मर कर सातवी नरक में जाता है। तेन्दुल मच्छ का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त का है। देह छोटी है पर मन है इस कारण भाव हिंसा से वह सातवी नरक का मेहमान बनता है और जो द्रव्य हिंसा करता है, लम्बा आयुष्य है वह मरकर नरक में जायगा तो पहली नरक से आगे नहीं। आप द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के इस अन्तर को समझें।

मनुष्य के मन है। मन है तो बन्ध और मोक्ष का कारण है। एक संत प्रवचन कर रहे थे प्रवचन सभा मे ठाकुर साहब भी बैठे थे तो उनके कुंवर सा० भी। प्रवचन में अहिंसा का विषय चल रहा था। महाराज ने शिकार को लेकर प्रवचन प्रारम्भ किया। प्राणियों को मारना बड़ा पाप है। पाप से क्या हानियाँ होती हैं? प्रवचन के माध्यम से महाराज समझा रहे थे। प्रवचन समाप्त होते ही कुँवर साहब पूछने लगे—महाराज! जीव मरता है तो आयुष्य समाप्त होने पर मरता है या मारने से मरता है? महाराज प्रत्युत्तर में कहते हैं—निश्चय से तो आयुष्य समाप्त होने पर मरता है और निमित्त से मारने पर मरता है।

कुंवर साहब आगे कहते हैं—महाराज! मैं एक दिन शिकार के लिए गया। हिरणों की टोली थी। मैं जिस हिरण को मारना चाहता था वह तो आगे निकल जाने से बच गया और दूसरा हिरण जिसे मैं मारना नहीं चाहता था, उसे गोली लगी। जिसको मारना नहीं चाहता था उसे गोली लगी और वह मारा गया। महाराज ने कहा—द्रव्य हिंसा मरने वाले के लिए हुई, भाव हिंसा नही मरा उसके प्रति हो गई।

अनर्थदण्ड से बचें :

ज्ञानी कहते है भावना के साथ बहुत सारे कर्म बन्ध होते हैं। आरम्भ की अनुमोदना करके भी कर्म बन्ध हो जाते है। आप श्रावक है, आपके बारह अणुव्रत है उसमें बारहवां व्रत है अनर्थ दण्ड। अनर्थ दण्ड में बिना कारण हिंसा होती है। कुछ हिंसा मतलब से होती है वही बिना मतलब से भी हिंसा होती है उसे अनर्थ दण्ड कहा गया है। आप गृहस्थ है इसलिये अर्थ दण्ड से नही बच सकते, परन्तु अनर्थ दण्ड से तो बचना ही चाहिये।

आज अनर्थ दण्ड से बचने की ओर प्रायः कम ख्याल जाता है। आप कहीं भोजन करने जायें, भोजन कर लिया पर वहाँ तक सीमित नहीं रहते किन्तु भोजन सामग्री को देखकर एक-दूसरे को कहकर अनुमोदना करते है। आप

गृहस्वामी को खुश करने के लिए कहते है—रसोई बहुत बढिया बनी है। आपका इतना कह देना कि खाना बहुत बढ़िया बना है हिसा की अनुमोदना हो गई। आप भोजन करके रवाना हो गए, जैसा बना था, खा लिया, यह अनर्थ दण्ड है परन्तु गृहस्वामी को खुश करने अथवा भोजन की तारीफ बार-बार करने से अनर्थ दण्ड का कर्म बन्धन होता है, इससे बचें।

आप कहां-कहां अनुमोदना करके कर्म बन्धन करते है, इसका कही कोई हिसाब ही नही। किसी का मकान देखा तो उसकी अनुमोदना कर देगे, किसी का कपड़ा देखा तो उसकी अनुमोदना कर देगे, जेवर देखा तो जेवर की अनुमोदना कर देगे। अच्छे भले समझदार आदमी भाषा का बचाव भले ही कर ले भावों का बचाव नही कर पाते, इससे अनर्थ दण्ड कर्म बधते है।

प्राचीन समय में श्रावक छः काय के आरम्भ से बचने का जैसा ख्याल रखते थे, वैसी रूपरेखा आज कम देखने को मिलती है। पाप कर्म से बचना विवेकी श्रावक का कर्तव्य है। अनर्थ दण्ड से जितने-जितने बचे रहेगे, उतनी-उतनी भाव हिंसा से बचा रहा जा सकेगा। अर्थ दण्ड की अपेक्षा अनर्थ दण्ड ज्यादा होता है। आज कोई सलाह मागे, नही मांगे फिर भी कई भाई अपनी सलाह देने से नही चूकते। ऐसे भाई अनर्थ दण्ड से कर्मबन्ध के स्वरूप को नही जानते, इसलिए बिना पूछे सलाह देते है। आप बोलते है :—

अवभ्काणाचरिए पमायाचरिए हिसप्पयाणे पावकम्मोवएसे

आदमी बुरा चिन्तन करके भी कर्मबन्ध कर लेता है। बिल्ली के कहने मात्र से छीका नही टूटता, ऐसे ही बिना मतलब के बात करना, बिना प्रयोजन सलाह देना ये सब कर्म बन्ध के कारण है, अनर्थ दण्ड है। कई भाई टोना करते है, कामण करते है यह सब अनर्थ दण्ड का सेवन है। प्रमादवश बर्तन रख दिया और रात मे सो गये। मक्खी-मच्छर मरते है यह हिंसा अनर्थ दण्ड का पाप है। जरूरत है तब बिजली का उपयोग करे यह अर्थ दण्ड है परन्तु जरूरत नहीं है फिर भी बिजली जल रही है। दातून एक लोटे में भी हो सकता है पर नल खोल दिया, कितना पानी व्यर्थ गया, उसका कोई हिसाब ही नही। आप स्नान करते है, एक बाल्टी मे भी स्नान हो सकता है परन्तु घंटों नल के नीचे बैठने वाले अनर्थ दण्ड के स्वरूप को जानते ही नहीं कि बिना मतलब क्यों पाप कर्म का बन्ध किया जाय ?

भगवान ने छः काया के जीवो से बचने के लिए उपदेश दिया। अहिंसा व्रत को लेकर छः जीवनी बताई। आप जब तक हिसा के रूप को समझेगे नहीं, अहिंसा की पालना कैसे करेगे ? यतनापूर्वक कर्म बन्ध से बचना गृहस्थ जीवन के लिए भी जरूरी है। आज कई भाई केवल देखा देखी अनर्थ दण्ड के

भागी भागी बनते है। चाय पीने वाले चाय पियेंगे तो थोड़ी, चाय बचाकर रखते हैं। चाय कप में बची रहेगी तो उसमें मक्खी गिरने की सम्भावना है, जीव हिंसा हो सकती है, यह अनर्थ दण्ड है। पुराने जमाने के कई श्रावक थाली धोकर पीते थे। उनका लक्ष्य जीव-हिंसा के पाप से बचा रहने का था।

अहिंसा का विवेक जागृत करें :

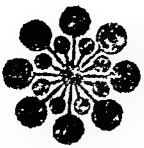
पुराने श्रावकों के विवेक की मैं क्या बात कहूँ। वे हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र दूसरों को दे, वह तो दूर की बात, वे तो अपने घर का सरौता या चाकू तक दूसरों को नही देते थे। आज इतना उपयोग नहीं रहा। इससे अनर्थ दण्ड का पापकर्म, अनर्थ दण्ड की हिंसा बढ़ी है। एक बहिन घर मे जरूरत के अनुसार आचार डाले, वहाँ तक तो ठीक परन्तु वह बहिन घर-घर जाकर कहे—मैं आचार डालू, मेरे हाथ का आचार साल भर खराब नहीं होता—ऐसा कहना और करना अनर्थ दण्ड रूप हिंसा है। बिना मतलब की हिसा से बचने के लिए ज्ञानियों ने अनेक बातें बताई है। ज्ञानियों की बातों को हृदयंगम नहीं किया जा सकता है, इसलिए अनर्थ दण्ड बढ रहा है। किसी की लड़की बड़ी हो गई तो कहेगा—इसकी शादी कर देना। उसके शादी करने या कहने का कोई मतलब नहीं, परन्तु कहे बिना नहीं रहा जाता—

तेल नहीं, ताकलो नहीं, काढ़ती फिरे पुआ।
पूछे ताछे कोई नही, हूँ लाडा री भुआ ॥

किसी को कहेगा—मकान बना ले। किसी का खेत है तो कहेगा—बो दे। वह बोये तो क्या, न बोये तो क्या, परन्तु जिसे कहे बिना नही रहा जाता वह अनर्थ दण्ड कर्म का बन्ध कर लेता है। बिना मांगे सलाह देने को तैयार रहना अनर्थ दण्ड है, भाव हिंसा का कारण बन सकता है।

भगवान ने अनर्थ दण्ड से बचने को कहा है। व्यर्थ में अनुमोदन कर कर्म-बन्ध से बचा रहना श्रावक का धर्म है, अहिंसा का सुन्दर रूप है। आप द्रव्य हिंसा से बचें, अनुमोदन रूप भाव हिंसा से बचे। आप भाव हिंसा से बचेगे तो आत्मिक गुणों की घात नही होगी। द्वेष से बचना उतना कठिन नहीं है, जितना कि राग से। आप वीतराग वाणी जीवन मे उतारेगे तो सुख, शान्ति और आनन्द के भागीदार बनेगे।





Relevance of Ahimsa

☐ Shri D. R. Mehta

We are living in a paradoxical situation. While on the one hand, modern civilisation is characterised by a concern for fellow human beings, on the other, the foremost problem of our age is growing violence, both in thought and action. A child in Europe may have sympathy and extend help to one of his ilk in Africa who may not have adequate food to eat or medicine to save his body against disease. As never before, this spirit of compassion has permeated state policies and the result is that we have so many enlightened welfare states in the world in which the poor and weak are taken care of at public expense. There are many international organisations as well which are equally concerned and are making significant contribution in arousing conscience as also directly alleviating human misery and suffering But juxtaposed is the spread of violence at individual, national and international levels, on scales which are unprecedented The crime rate has increased many-fold because of growing greed, intolerance, other undesirable and unchecked propensities, and ready availability of sophisticated weapons. Indeed, in some countries, holding firearms is a fundamental right of citizens. Terrorism is becoming common and respectable.

At the international level, the situation is horrendous. The expenditure on arms and armaments has increased many-fold because of hatred and intolerance of other countries and their ideologies. The most shuddering situation is in the form of unabated development and stockpiling of nuclear weapons and their delivery systems. Two small rudimentary atom bombs used at Hiroshima and Nagasaki killed and maimed several lakhs of people Much bigger and more sophisticated fission and fusion weapons and multi-headed intercontinental ballastic missiles are now capable of destroying the entire life on this planet several times over. Use of one such bomb or device either by design or accident would result in immediate retaliation and escalate into a total nuclear war and complete holocaust

More and more people all over the world are realising that the answer to present problem of violence is to be found in a morality which replaces ravenaus greed with contentment, hate with tolerance, and killing with reverence for life. There are many enlightened and eminent scientists, intellectuals and religious leaders who are talking in this positive language. At the common man's level also, awareness to these dangers of violence is growing. Many protest groups are contributing their mite in arousing the human conscience further. Principles of Ahimsa, Satya, Aparigraha, Anekantwad, etc. assume great relevance in this context

One of the basic commandments of Jainism is Ahimsa. Ahimsa is Parmodharma Acharang Sutra states, "thus say all the perfect souls and blessed ones, whether past, present or to come—thus they speak, thus they declare, thus they proclaim : All things breathing, all things existing, all things living, all beings whatever, should not be slain or treated with violence, or insulted, or tortured, or driven away. This is the pure unchanging eternal law, which the wise ones who know the world have proclaimed, among the earnest and the non-earnest, among the loyal and the non-loyal, among those who have given up punishing others and those who have not done so, among those who are weak and those who are not, among those who delight in worldly ties and those who do not. This is the truth. So it is. Thus it is declared in this religion"

Jainism believes in the plurality and equality of living creatures. Since no body wants to be hurt or killed, the general rule should be that nobody should be hurt or killed. This rule of conduct is not confined only to man but extends even to the smallest of small creatures It is amazing that more than 2500 years ago, when scientific devices to detect micro creatures were not available, Mahavir stated that there were small living creatures in wind and water and enjoined his followers to avoid, to the extent possible, their killing as well.

This kind of comprehensive concept of Ahimsa is unkown in the philosophical world Indeed, Albert Schweitzer, while dealing with Jainism in his book *Indian Thought and Its Development* said

that "the laying down of the commandment not to kill and not to damage is one of the greatest events in the spiritual history of mankind.......So far as we know it is for the first time clearly expressed by Jainism".

The concept of Ahimsa as developed by Jainism has many significant features. These are :

(i) Ahimsa is not be practised at the physical level only but at mental one as well Apart from *Jivā* or *Dravya* Ahimsa there is a *Bhav* Ahimsa In another form, it is stated that there should be no Himsa by "*Man*" (mind), "*Vachan*" (speech), or "*Kaya*" (body) Even hurting feelings is himsa,

(ii) The concept of Ahimsa means that one would not kill, get killing done, or approve any killing

(iii) Himsa or violence and "*Parigraha*" or possession are intimately connected In fact, the biggest cause of Himsa is possession. Thus to achieve Ahimsa, physical possession and the spirit of possession would have to be restricted.

Jainism believes that the first steps of Ahimsa would have to be taken at the individual level Individuals though their number may be small, would have to truly and sincerely practise Ahimsa in their daily life Cruelty and killing of even small creatures brutalises a man Indeed, one of the ways of preparing good soldiers in the past was to ask them to kill animals so that they got hardened and, in war were capable of killing man.

In the present day world, with religion getting separated from daily life and spreading commercialisation killing has increased manyfold and sensitivity to life, whether animal or human, has declined in proportion. The need, therefore, is that this trend should be reversed and man should be made more humane not only in relation to man but also for other living creatures With personal commitment to Ahimsa and personal transformation of individual, the real remedy to violence would be found.

One of the major problems with many of the protest groups trying to fight against violence at national and international levels is that personally they are not non-violent. One of the reasoas why Gandhiji also could not succeed was that a large number of his followers were wanting to be non-violent at the social level but were violent at the personal level. On 15th August, 1947, Gandhiji was the most disillusioned man in this world because his emphasis on purity of personal conduct as a pre-condition for purity of social conduct was not heeded by his own followers.

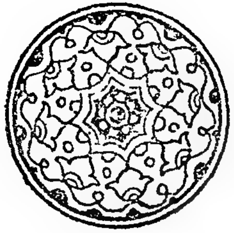
As mentioned earlier, part of Himsa grows from acquisitiveness, Jainism does not subscribe to forced poverty but suggests that wants should be minimised voluntarily and there should be no grabbing at any level. Many economic systems today are based only on promoting wants rather than curbing them. This is having disastrous results. One of them is that we are exhausting the non-replenishable resources of this world, another is that material goods and money are becoming the measures of man Internationally, this spirit is leading to regional and world conflicts. Here again, the start would have to be made from the individual and his mind would have to be changed.

Another malady of our age is general intolerance. While science has been a great boon both in promoting material prosperity and rationalism. it has made our thinking, even in areas other than science, extremely definitive. We learn that two and two can only be four and tend to carry the same certitude into social matters, though they are of a different character. The result is that those who do not agree with us are treated as wrong. Earlier dogmatism was based on ignorance Now it is caused by certitude arising out of rational thinking. What is not being realised is that knowledge is relative The faculties that we possess are limited Even as compared to small creatures, our senses are much less developed. For example, dog may have a far better sense of smell and an eagle may have far more developed eye sight Even in comparison with such creatures, when our senses are so poor, how can we claim absolute knowledge.

Jainism has its philosophy of Syadvad. It is a seven-fold logic which replaces certitude with relativity in thinking. According to this principle, one may be right or one may be wrong. Even the opponent may be right. If one acquires this mental attitude, one cannot but be tolerant. In this there is no place for dogmatism. This is one of the great contributions of Jainism to world thought; its application to personal conduct could make the world a safe place. The present ideological conflicts that we witness today would not be as intense as they are now if this principle could permeate the minds of adversaries.

It is also worth mentioning here that, mistakenly, the negative aspect of Ahimsa has been over-emphasised at the expense of its positive form. While non-killing is certainly essential, Ahimsa in its positive form means reverence for life, which in turn calls for compassion and service. In Jainism, for attaining Moksha Samyak Jnan (pure knowledge), Samyak Darshan (pure doctrine), and Samyak Charitra (pure conduct) are essential. To achieve Samyak Darshan or pure doctrine there are five requirements, one of them being "Anukampa" or compassion. Besides, the definition of Ahimsa is compassion, according to one of the Shastras (Vishesh Awashyak Sutra) which deals with the Ahimsa in 60 ways. Mahavir also speaks of "Maitri" "Vatsalya", "Vayavach" etc It seems that the later Acharyas, who had more of logic than realisation tended to ignore this aspect. If by doctrine, one has to be the friend of all creatures, one is expected not only to indulge in their non-killing but also to help them. In one of the stories relating to the life of Adinath, it is indicated that he attained Tirthankarhood because in one of his earlier lives he treated the people well as a Vaidya. The need, therefore, is to reinforce this compassionate aspect of Ahimsa.

—Deputy Governor, Reserve Bank of India, Bombay



प्राणिहिंसा से बढ़कर कोई अकार्य नहीं

□ आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी म. सा.

यों तो दुनिया में बहुत से अकार्य है, जिन्हें मनुष्य कु-संस्कारवश करता आ रहा है, परन्तु उन सबमें सबसे निकृष्ट अकार्य है—'प्राणिहिंसा'। इसलिए गौतम महर्षि ने गौतमकुलक के ५२वें जीवनसूत्र में स्पष्ट बता दिया है।

"न पाणिहिंसा परमं अकज्जं।"

'प्राणिहिंसा से बढकर संसार में कोई अकार्य नहीं है।'

प्रश्न होता है—प्राणिहिंसा क्या है? उसके मुख्य-मुख्य कितने रूप हैं? वही सबसे बढ़कर अकार्य क्यों है?

प्राणिहिंसा क्या है?

हिंसा के स्थान पर जैनशास्त्रों में यत्र-तत्र 'प्राणातिपात' शब्द अधिकांश रूप में प्रयुक्त है। प्राणातिपात का सीधा-सा अर्थ है—प्राणों का अतिपात—विनाश करना। प्राण का अर्थ केवल श्वासोच्छ्वास ही नही है, जैनधर्म का यह पारिभाषिक शब्द है। जैनशास्त्रों में १० प्राण माने गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण, (२) चक्षुरिन्द्रियबलप्राण, (३) घ्राणेन्द्रियबलप्राण, (४) रसनेन्द्रियबलप्राण, (५) स्पर्शेन्द्रियबलप्राण, (६) मनोबलप्राण, (७) वचनबलप्राण, (८) कायबलप्राण, (९) श्वासोच्छ्वासबलप्राण और (१०) आयुष्यबलप्राण।

इन दस प्राणों में से जितने जिस प्राणी के नियत है, उतने प्राणों को धारण करने वाला 'प्राणी' कहलाता है। प्राणियों के उक्त १० प्राणों मे से किसी भी प्राण का विघात या वियोजीकरण करना प्राणों से रहित कर देना प्राणातिपात या प्राणिहिंसा है।

बहुत से स्थूल दृष्टि वाले व्यक्ति यह सोचते है कि किसी का श्वास बन्द कर दिया—रोक दिया अथवा किसी का आयुष्य खत्म कर दिया—इतना ही प्राणातिपात या हिंसा का अर्थ है। लेकिन यह अर्थ अधूरा और एकांगी है। किसी प्राणी का दम घोंट देना या श्वास रोक देना या आयुष्य खत्म कर देना तो प्राणातिपात या हिंसा है ही। इसके अलावा भी पाँच इन्द्रियाँ और मन, वचन और काया ये तीन बल भी प्राण है, इनका विघात या वियोग कर देना भी हिंसा है।

जैसा कि शीलांकाचार्य ने 'सूत्रकृतांगवृत्ति' मे कहा है—

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्, तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥[1]

अर्थात्—पॉच इन्द्रियॉ, तीन बल (मन, वचन और काया), श्वासोच्छ्-वास एवं वायु, ये दस प्राण तीर्थंकर भगवान ने कहे है। उनका वियोग करना—उनसे प्राणी को रहित कर देना ही हिंसा है।

हॉ, तो मै कह रहा था कि केवल एक-दो लोकप्रसिद्ध प्राणों का ही नही, दस प्राणों में से किसी भी प्राण से जीव को रहित कर देना हिंसा है। बहुत से लोग किसी प्राणी का दम घोट देने या श्वास रोक देने को हिंसा नही मानते। प्राचीन काल मे एक खारपिटक मत था, जो किसी को तलवार, बंदूक, लाठी आदि शस्त्र से मार डालने को ही हिंसा मानता था। किसी दुःखी या पीड़ित व्यक्ति के श्वास बंद कर देने को वह हिंसा नही मानता था बल्कि इसे 'घटचटकमोक्ष'[2] कहा जाता था। जैसे घडे में चिड़िया को बद करके चारों ओर से उस घड़े का मुँह बन्द कर देने पर चिड़िया अपने आप ही जीवन से मुक्त हो जाती है उसी तरह इस मत वाले लोग इस जीवन से मुक्त होने के इच्छुक व्यक्ति को एक ऐसे कमरे मे बंद कर देते थे, जिसमे कही से भी हवा का प्रवेश नही होता था। फलत. वह व्यक्ति दो-चार मिनट मे ही श्वास बद होने से मर जाता था परन्तु यह सरासर प्राणविघात है। इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है। किसी का कान फोड़ देना, उसकी श्रवण शक्ति को नष्ट कर देना अथवा दण्ड देने हेतु कानो में गर्म शीशे का रस डाल देना, कान काट लेना, यह श्रोत्रेन्द्रिय-बलरूप प्राण का विघात है। इसी प्रकार किसी की आँख फोड देना, आँखों की देखने की शक्ति नष्ट कर देना, आँखो में सलाई भोककर उन्हे खत्म कर देना, यह चक्षुरिन्द्रियबलरूप प्राण का विनाश है। घ्राणेन्द्रिय (नाक) काट लेना, नाक की घ्राण (गन्ध) ग्रहण की शक्ति विनष्ट कर देना भी घ्राणेन्द्रियबलप्राण से रहित करना है। रसनेन्द्रिय (जीभ) काट लेना, या जीभ की चखने या बोलने की शक्ति नष्ट कर देना रसनेन्द्रियबलप्राण से रहित करना है, इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय (खास तौर से जननेन्द्रिय) को काट लेना या उसकी शक्ति नष्ट कर देना स्पर्शेन्द्रियबल-प्राणातिपात है। किसी की मानस शक्ति को नष्ट कर देना, उसके मन की मनन-चिन्तन करने की शक्ति को समाप्त कर देना, उसे पागल या विक्षिप्त कर देना, मनोबलप्राण का अतिपात है। इसी प्रकार

---

१ सूत्रकृतागसूत्रवृत्ति १।१।३

२. ...नां विनेयविश्वासनायदर्शयताम् ।
...टकमोक्ष श्राद्धेयं नैव खारपिटकानाम् ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ८८

किसी की वाचिक शक्ति को—बोलने की शक्ति को नष्ट कर देना, गूंगा बना देना, वाचिकबल को विपरीत कर देना वचनबल प्राणातिपात है। इसी प्रकार किसी के शरीर को क्षत-विक्षत (घायल) कर देना, शस्त्र से मारपीट देना, शरीर को तीखे नोकदार शस्त्र से गोद देना, शरीर के अंगोपागों को काट डालना, शरीर को हानि पहुँचाकर बेडोल कर देना, ऐसा कर देना जिससे शरीर से उठा-बैठा न जा सके, यह सब कायबलप्राण का अतिपात (विघात) है। इसी प्रकार किसी का श्वासोच्छ्वास रोक देना, तथा किसी को आयुष्य से रहित कर देना, ये दोनों प्राणातिपात (हिंसा) के प्रकार तो प्रसिद्ध ही है।

प्राणियों के ये १० प्राण एक प्रकार से बल हैं, जीवनी शक्तियाँ है। इन प्राणों के सहारे प्राणी अपनी निर्धारित या पूर्वबद्ध आयुष्यबन्ध तक जीवित रहता है परन्तु प्राणिहिंसा करने वाला उसे अकाल में ही—समय से पहले ही—नष्ट कर देता है, यही हिसा है। पूर्वकर्मोदयवश किसी प्राणी के इन १० प्राणों में से किसी भी प्राण का स्वतः (किसी भी निमित्त से) नष्ट हो जाना, हिसा नहीं है। इसी प्रकार प्राणायाम करने के लिए स्वय रेचक-पूरक-कुंभक करना, श्वास रोकना, बाहर निकालना, अंदर लेना प्राणातिपात या हिसा नही है, और न ही कायोत्सर्ग, मौन, त्राटक या अन्य ध्यान, योगाभ्यास या योगासन करते समय पाँचों इन्द्रियों तथा मन, वचन, काया को स्वयं रोकना, स्थिर एवं एकाग्र करना प्राणातिपात नही है और न ही सकाम निर्जरा एवं कर्मक्षय हेतु किये जाने वाले अनशन, अवमौदर्य, कायक्लेश आदि किसी भी तप द्वारा स्वेच्छा से शरीर को कृश करना, इन्द्रियों को मन्दविषय बनाना या शरीर को मन्दकषाय बनाना, प्राणातिपात है। यह शरीर, इन्द्रियों आदि, पर अत्याचार नही है, स्वेच्छा से स्वीकृत तप है, आत्मविकास के अनुकूल शरीर इन्द्रियों और मन को बनाने की एक संयम प्रक्रिया है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा :

इसलिए हिसा होना और हिसा करना, इन दोनों में महदन्तर है। इन दोनों के पीछे परिणामों मे अन्तर है। इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—एक डॉक्टर बहुत ही सहृदय, नामी और परोपकारी है। उसके पास एक दिन ऐसा रोगी आया, जिसका रोग दुसाध्य था। डॉक्टर ने उसके स्वास्थ्य की जाँच करके कहा—"इसका आपरेशन होगा। आपरेशन बड़ा जोखिमी है।" रोगी और उसके घर वाले आपरेशन कराने के लिए सहमत हो गये। डॉक्टर ने विधिवत् आपरेशन करना शुरू किया। पहले तो आपरेशन ठीक चला। किन्तु सावधानी से आपरेशन करते हुए भी अकस्मात् रोगी की एक नस कट गई, इससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गई। डॉक्टर ने रोगी को जान-बूझकर मारा नहीं, उसके हृदय में रोगी की मृत्यु के लिए बहुत पश्चात्ताप है। रोगी के रिश्तेदारों को उसने अश्रुपूर्ण आँखो से यह समाचार सुनाया, इससे डॉक्टर की

प्रेक्टिस को भी थोडा धक्का लगा। मगर डॉक्टर ने रोगी की हिंसा की नहीं है, उसकी हिंसा हो गई है।

अब एक और दृष्टान्त, इससे ठीक विपरीत समझ लीजिए। एक ऐसा डॉक्टर है, जिसे मालूम हो गया कि रोगी के पास काफी धन है, साथ में लाया है, नौकर के सिवाय इसका कोई रिश्तेदार साथ मे आया नही है। डॉक्टर ने रोगी को ऑपरेशन की सलाह दी। रोगी सहमत हो गया। डॉक्टर ने रोगी का ऑपरेशन करते-करते ही एक नस जान-बूझकर काट दी, जिससे रोगी की तत्काल मृत्यु हो गई। लोभी डॉक्टर ने रोगी की वह थैली तुरन्त अपने कब्जे में करली और झूठे आँसू बहाते हुए नौकर को रोगी की मृत्यु की सूचना दी। वह वेचारा क्या कर सकता था? यहाँ डॉक्टर ने रोगी की हिंसा की है, हुई नही है।

अब एक तीसरा दृष्टान्त लीजिए, एक लोभी डॉक्टर का। उसने देखा कि रोगी अपने साथ वहुत पूजी लाया है। रोगी से उसने कहा कि तुम्हारा रोग दु:साध्य है, इलाज कर रहा हूँ, भगवान् करेगा तो ठीक हो जाएगा। इलाज करते-करते डॉक्टर के मन मे लोभ जागा। एक दिन उसने रोगी की दवा में जहर की पुड़िया घोलकर कहा—"लो यह दवा पी जाओ, इससे तुम्हारा रोग समूल नष्ट हो जाएगा।" डॉक्टर पर विश्वास करके वह दवा पी गया। भाग्यवश वह जहर ही उसके लिए अमृत गया। कहावत है—'विपस्य विपमौपधम्' विप का निवारण करने हेतु विषमय औषध होता है। रोगी एकदम स्वस्थ हो गया। रोग नष्ट हुआ जानकर रोगी और उसके रिश्तेदारों से डॉक्टर को वहुत धन्यवाद और इनाम दिया। किन्तु डॉक्टर का मनोरथ सफल न हुआ। वह मन से और कर्म से रोगी की हत्या कर चुका था, यह तो रोगी का आयुष्यवल प्रवल था कि वह जिदा रह गया। इस दृष्टान्त में डॉक्टर ने जान-बूझकर हिंसा करने की चेष्टा की है। अत. हिंसा करने का अपराधी डॉक्टर हो चुका है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की चौभंगी इस प्रकार बताई है—

१—एक में द्रव्य से हिंसा होती है, भाव से नही।

२—दूसरा द्रव्य से भी हिंसा करता है, भाव से भी।

३—तीसरा भाव से हिंसा करता है, द्रव्य से नही।

४—चौथा न द्रव्य से हिंसा करता है, न भाव से।

पूर्वोक्त तीन दृष्टान्त क्रमश. प्रथम, द्वितीय और तृतीय भंग के स्वामी के हैं। चौथा भंग शून्य है।

एक व्यक्ति मच्छीमार है, वह घर से मछली पकड़ने का जाल लेकर चला है। नदी में जाल डालने पर चाहे वह एक भी मछली न पकड़ सका हो, फिर भी भाव से उसने मछलियों की हिंसा कर दी है, इसलिए वह हिंसा का भागी हो गया, भले ही उसने एक भी मछली न पकड़ी हो या न मारी हो। अथवा एक व्यक्ति ऐसा है जिसने स्वयं हिंसा नहीं की है, दूसरा ही व्यक्ति उसके किसी दुश्मन को मार रहा है, किन्तु जिस समय वह दूसरा व्यक्ति उसके शत्रु को मार रहा है, उस समय वह खड़ा-खड़ा कह रहा है—"अच्छा हुआ, इसको तो ऐसी ही सजा मिलनी चाहिए थी। यह इसी दण्ड के योग्य है।" इसमें मारने वाले को तो फल मिलता ही है, किन्तु जिस व्यक्ति ने बिलकुल प्रहार नहीं किया है, केवल दूसरे के द्वारा की जाने वाली हिंसा का जोरशोर से समर्थन—अनुमोदन करता है इसलिए हिंसा न करने पर भी ऐसा व्यक्ति हिंसा के फल का भागी हो गया।

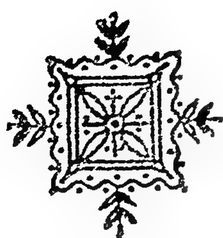
एक अप्रमत्त साधु या वीतरागी साधु है, नदी पार करते है, किन्तु बहुत ही यतनापूर्वक; फिर भी कई जल-जन्तु उनके पैर के नीचे आकर (कुचल कर) मर जाते हैं, इतना होने के बावजूद भी उनके हिंसाजन्य पापकर्म का बन्ध नहीं होता और न ही उस हिंसा का फल मिलता है?[1]

हिंसा का लक्षण :

निष्कर्ष यह है कि हिंसा का—विशेषतः संकल्पजा हिंसा का—जब तक व्यक्ति त्याग नहीं करता, तब तक चाहे वह हिंसा न कर सके, किन्तु हिंसाजन्य पाप तो उसे लगता ही रहेगा। इसीलिए पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे बताया गया है कि व्यक्ति बाहर मे हिंसा चाहे कर सके या न कर सके, किन्तु अगर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि के वश हिंसा का परिणाम मन में आ गया तो हिंसा हो जाती है। जैसे—दियासलाई जलती है, तब वह चाहे दूसरों को जला सके या व्यक्ति सावधान हो तो न भी जला सके, परन्तु उसका अपना मुँह तो जल ही जाता है, उसी प्रकार कोई व्यक्ति दूसरों को हानि पहुँचा सके या न पहुँचा सके, दूसरों को मार सके या न मार सके। खुद अपने आप मे आत्म-हिंसा तो कर ही लेता है। जब भी रागादि या कषायादि का भाव उत्पन्न हुआ कि स्वहिंसा हो जाती है।

---

१. अविधायापि हिंसा, हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा, हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥—पुरु० सि० ५१॥



वात्सल्य भाव

☐ आचार्य श्री नानेश

आज मनुष्यों की जो दयनीय दशा बन रही है, वे किनकी शरण में जाएँ ? दुःख से निवृत्ति लेने हेतु, जो परिपूर्ण सुखी है, उनकी शरण लेने से ही वे सुखी बन सकते है। पर दुःखी व्यक्ति के पास जाने से वे अपने दुःखों से निवृत्ति नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जैसे—एक भिखमंगा दूसरे भिखमगे से भूख-निवारण करने हेतु कहे, तो क्या वह भिखारी उस भिखमंगे की भूख मिटा सकता है ? उत्तर होगा—नही। ठीक इसी प्रकार संसार में सभी व्यक्ति दुःखी है। उनके पास जाने से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार भौतिक पदार्थो की याचना करने वाले, भौतिक पदार्थो में आसक्त संसारियों को भिखमंगे की उपमा दे दी जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। क्योंकि प्राय. सभी संसारी, तृष्णा के आवेग में बहते हुए भिखमगे के रूपक को ही धारण किये हुए है। यही नहीं देव, जो अमित ऐश्वर्य के स्वामी है, उनकी भी तृष्णा का अन्त नही है। बड़ी विचारणीय स्थिति है कि निजी स्वरूप को छोड़कर जीव पर-स्वरूप में रमण कर रहा है, उनमे ममत्व रख रहा है। ऐसी तृष्णा वाले चाहे लखपति, करोड़पति भी क्यों न हो, दूसरो के दुःख दूर करने मे समर्थ नही हो सकते है। पर जो पर-पदार्थो के व्यामोह मे न पडकर साधना के बलबूते पर आध्यात्मिक सम्पत्ति के स्वामी बन चुके है, उनका सान्निध्य, उनकी शरण ग्रहण करने से ही दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है। शांतिनाथ भगवान् जब चक्रवर्ती थे, तब उनके पास छः खण्ड की ऋद्धि थी, फिर भी आध्यात्मिक सुख की अपेक्षा रखने वाले, आध्यात्मिक लक्ष्मी को प्राप्त करने हेतु छः ही खण्डों का राज्य उन्होने छोड़ दिया। उन्होंने सोचा कि आत्मिक ऋद्धि अभी तक मुझे मिली नही है, यदि इस भौतिक ऋद्धि मे ही खुशी मनाता रहा तो मैं भिखारी ही रहूँगा। अतः छः खण्ड का राज्य छोड़कर वे अणगार बन गये। जैसा कि 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे यह बतलाया गया है कि—

"चइत्ता भारह वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ ।
'सन्ती' सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरम् ।।"

अर्थात्—शांति देने वाले शांतिनाथ नामक महासमृद्धिशाली चक्रवर्ती इस लोक में भरत क्षेत्र के, छः खड के राज्य को छोड़कर अर्थात् अतीव रमणीय कामभोगो का परित्याग करके प्रधान गति मोक्ष को प्राप्त हुए। जिनके ज्ञान में,

जिनके हृदय में संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति अपूर्व वात्सल्य-भाव था, ऐसे भाव के स्वामी, सभी के कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाले वीतराग देव बन गये। यदि हमारी आत्मा कर्म-प्रवाह से संसार रूपी वैतरणी में बहती हुई वीतराग भगवान् के वचनों पर दृढ आस्थावान् हो जाय, जो कि सम्यक्त्व का लक्षण है, उस लक्षण पर इतनी दृढ़ीभूत हो जाय कि सम्यक्त्व के सभी आचारों का भलीभाँति अपने जीवन में निर्वाह करती हुई एक दिन उस आध्यात्मिक शक्ति रूप श्री का वरण कर सके और उस प्रधान गति मोक्ष को प्राप्त कर सके।

आचरण करने योग्य आठ सम्यक्त्व के आचारों को भव्यात्माओं को आन्तरिक जीवन में ओत-प्रोत कर लेना चाहिये। सातवें स्थान पर जिस आचार का वर्णन आया है, वह है वात्सल्य। माता का पुत्र के प्रति अद्वितीय वात्सल्य रहता है, वह पुत्र के लिए सब कुछ सहन कर लेती है, अनन्य भाव से उसका परिपालन करती है। यह सारी चर्या उस माँ की वात्सल्य भावना का प्रतीक है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी पर सम्यक्दृष्टि का निःस्वार्थ वात्सल्य बन जाय तो प्रत्येक आत्मा के साथ अनन्य भाव पैदा किये जा सकते है। प्रत्येक के साथ आत्मवत् व्यवहार की स्थिति प्राप्त होती है। रूपक है—बिल्ली स्वयं की सन्तान को जन्म देने के बाद उन्हे अपने दाँतों के बीच में दबाकर सात घरों तक फिराती है, तब उन बच्चों की आँख खुलती है—ऐसा कहा जाता है। पर जब वह सात घरों तक बच्चे को दाँतों के बीच मे दबाकर घूमती है, तब अपने बच्चे को जरा भी आंच नही आने देती। लेकिन यदि किसी पक्षी का बच्चा उसके मुख में आ जाय तो वह उसको खा जाती है। यह तो अज्ञानवश पशु जाति की मोह अवस्था है, पर जो मानव चिन्तनशील है, वह अपने वात्सल्य भाव का विस्तार करना सीखे। स्व-पर का भेद भूलकर सबके साथ आत्मवत् व्यवहार करे। बच्चा जन्म लेता है और माता के स्तन में से दूध एकाएक आने लगता है, यह बच्चे के प्रति माता की वात्सल्यता का ही परिणाम है। जब भगवान् महावीर को चण्ड-कौशिक ने डक मारा, तो भगवान् के पैर के अंगुष्ठ से दूधवत् धारा छूट पड़ी। यह उनकी प्रत्येक आत्मा के प्रति अपूर्व आत्मीयता, अद्वितीय वात्सल्यता का [illegible] थी। यह माता के जीवन से भी बढकर भगवान् के जीवन का [illegible] था। डक मारने वाले के प्रति भी वह नि.स्वार्थ वात्सल्य [illegible] के रूप में निर्झरित हुई। प्रतिबोधित कर दिया उस [illegible] कहाँ है नि.स्वार्थ वात्सल्य भावना? कहाँ है वह [illegible]? कहाँ है साधर्मी के प्रति सहयोग की भावना?

एक समय का प्रसंग है। दुष्काल [illegible] वालों ने अन्न खरीद लिया और अपने [illegible] कई गरीब लोग क्षुधा से [illegible]। [illegible] "बहुरत्ना वसुन्धरा" इस [illegible]

सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रभु महावीर का अनुयायी विचार करने लगा कि मेरी यह सम्पत्ति यदि मैं साधर्मी भाइयों की मदद में नियोजित कर दूँ, तो इससे बढ़कर इस नश्वर सम्पत्ति का और क्या सदुपयोग होगा। ऐसा विचार कर खुले दिल से वह साधर्मी भाइयों के लिये हर तरह से साधन जुटाने लगा, वडी हवेली वना कर सब अनाथों का, गरीबों का पोषण करने लगा, बड़ी विनम्रता और आत्मीय भावना के साथ। तीन साल तक बराबर उनका परिपालन कर उन लोगों का भी धर्म के प्रति अहोभाव उत्पन्न किया।

समय परिवर्तनशील है। समय ने पलटा खाया, दुष्काल जब सुकाल में परिवर्तित हुआ तो सभी दुष्काल पीडित भाई-बहिन अपनी विनम्रता, कृतज्ञता जतलाते हुए बड़े विनम्र भावों के साथ उन सेठ सा. को कहने लगे कि— "महानुभाव ! आपने हमारी बहुत सुरक्षा की। आपने वात्सल्य भाव का बहुत सुन्दर अनूठा रूपक जगत् के सामने रखा। हम आपके बहुत आभारी है। अब हमें छुट्टी दीजिये। हम अपने घर जाना चाहते हैं।" तब सेठ कहने लगा कि वह तो आपने मुझे स्वर्णिम चान्स दिया। मेरा अहोभाग्य है कि मुझे आपकी सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आपने मेरे पर बहुत उपकार किया।

खयाल करिये कि उपकार किया सेठ ने उन लोगों पर, पर कह क्या रहा है कि "आपने मुझ पर बडा उपकार किया।" कितनी विनम्रता थी, सेठ के जीवन में। सेठ ने यथार्थ में प्रभु महावीर के सिद्धान्तों का रसपान किया था। सम्यक् दृष्टि के आचारों का भली भांति ज्ञान कर दृढ़ता से उसका पालन किया था।

आज के युग में तो देखने को मिलता है कि प्रथम तो कोई ऐसा स्वधर्मी वात्सल्य का व्यवहार ही नही करते है। यदि कही करते भी है तो उसके पीछे नाम कमाने की, यश फैलाने की भावना अधिक काम करती है। काम कम, नाम अधिक होना चाहिये। इस बात को मानने वाले व्यक्ति कभी भी स्वधर्मी वत्सल्यता का पूरा-पूरा लाभ नही प्राप्त कर सकते। वह सेठ, ऐसे लोगों में से नही था। वह दिये गये दान को भूमि मे गये बीज की तरह गुप्त और सुरक्षित रखने वाला था।

जब सुकाल हुआ और लोग जाने की तैयारी करने लगे तो सेठ ने उन्हे एक निवेदन किया कि एक प्रीतिभोज और देना चाहता हूँ। कृपा कर मुझे संतुष्ट कीजिये। लोगों ने बात मान ली। प्रीतिभोज की जोरदार तैयारियाँ की जाने लगीं। सभी को वह अपने हाथ से परोसकर जिमाने लगे। देखिये स्वधर्मी सेवा !

मुझे इसी बीच स्वर्गीय गुरुदेव श्री गणेशीलाल जी म सा के समय का प्रसंग याद आ रहा है। गुरुदेव का जब बगड़ी चातुर्मास था, तब चातुर्मास

करने वाले सेठ लक्ष्मीचंद जी धाड़ीवाल स्वयं स्वधर्मी भाइयों की सराहनीय सेवा करते थे। भोजनादि सभी कार्यों में भाग लेते थे। एक बार का प्रसंग है—कुछ भाई भोजन में अपनी खुराक का ध्यान नहीं रख पाये, जिससे उन्हें हैजे की शिकायत हो गयी। चेप की बीमारी होने से उनकी सेवा करने में नौकर-चाकर भी संकोच करने लगे। तो सेठ-सेठानी ने स्वयं ने उनको सम्भाला, उनकी सभी प्रकार से सेवा की और उन्हें स्वस्थ कर विदा किया। यह है साधर्मी के प्रति निःस्वार्थ वात्सल्य भाव।

हाँ! तो उस सेठ की बात कह रहा था मैं, जो सेठजी सभी को परोस रहे थे, उस समय उनके लड़के ने कहा—"पिताजी! मैं भी परोसूँगा।" तो उसे सहर्ष अनुमति दी गयी। वह लड़का जब परोस रहा था तो एक बहिन ने, जिसे किसी चीज की आवश्यकता थी, उसे माँगने हेतु उसने उस लड़के के वस्त्र को पकड़ कर कहा—"यहाँ भी परोसते जाइये।" पर वह नादान, वात्सल्य भावना से अनभिज्ञ, बोल उठा कि तीन-तीन साल हो गये, यहाँ टुकड़े खाते-खाते फिर भी अभी तक तृप्ति नहीं हुई क्या? पल्ला पकड़ते नहीं छूटा? बन्धुओ! ये कठोर शब्द, उस बहिन को क्या! जीमने वाले सभी भाई-बहिनों को इतनी ठेस पहुँचाने वाले हुए कि सब के सब एक साथ उठ गये, बिना पूरा भोजन किये ही रवाना होने लगे। जब सेठजी ने यह दृश्य देखा तो विचार करने लगे कि तीन साल तक जो वात्सल्य भावना का स्रोत मैंने बहाया, उस पर इस लड़के ने थोड़े से कठोर शब्द कहकर पानी फेर दिया। सेठजी उन लोगों को हाथ जोड़कर, पैरों में गिरकर माफी माँगने लगे। कहने लगे कि लड़के ने नादानी कर दी, आप उसे क्षमा कर दें। सभी सेठ की अपूर्व वात्सल्यता, विनम्रता से गद्‌गद् हो उठे। सेठ का पूरा सत्कार ग्रहण करके, सेठ को अन्तर आशीष देते हुए विदा हुए। अस्तु?

वात्सल्य भावना तो अन्तर की होती है। प्रभु महावीर ने कहा है कि—"हे आत्मन्! तू सम्पूर्ण विश्व के साथ वात्सल्य भाव रख। यदि इतना न हो सके तो कम से कम परिवार वालों के प्रति और साधर्मी भाइयों के प्रति तो अपनी वात्सल्य भावना का विस्तार होना चाहिये। वात्सल्य भाव रखने वालो को सबक लेना है कि समाज में रहते हुए कभी कुछ बोलने अथवा सुनने का प्रसंग आ जाए तो भी अपने क्षमा गुण का विकास कर. आत्मवत् व्यवहार का खयाल कर अपने वात्सल्य का निर्झर बहाते रहे। अपने जीवन में समागत समूल दुःखों से निवृत्ति पाने हेतु वीतराग वाणी में अवगाहन करते हुए सम्यक्त्व के सातवें आचार को जीवन में स्थान देंगे तो जीवन अतीव मंगलमय बन जाएगा। इन्हीं शुभ भावों के साथ।

• □ •

सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रभु महावीर का अनुयायी विचार करने लगा कि मेरी यह सम्पत्ति यदि मैं साधर्मी भाइयों की मदद में नियोजित कर दूँ, तो इससे बढकर इस नश्वर सम्पत्ति का और क्या सदुपयोग होगा। ऐसा विचार कर खुले दिल से वह साधर्मी भाइयों के लिये हर तरह से साधन जुटाने लगा, बड़ी हवेली बना कर सब अनाथों का, गरीबों का पोषण करने लगा, बड़ी विनम्रता और आत्मीय भावना के साथ। तीन साल तक बराबर उनका परिपालन कर उन लोगों का भी धर्म के प्रति अहोभाव उत्पन्न किया।

समय परिवर्तनशील है। समय ने पलटा खाया, दुष्काल जब सुकाल में परिवर्तित हुआ तो सभी दुष्काल पीड़ित भाई-बहिन अपनी विनम्रता, कृतज्ञता जतलाते हुए बड़े विनम्र भावों के साथ उन सेठ सा. को कहने लगे कि—"महानुभाव ! आपने हमारी बहुत सुरक्षा की। आपने वात्सल्य भाव का बहुत सुन्दर अनूठा रूपक जगत् के सामने रखा। हम आपके बहुत आभारी है। अब हमें छुट्टी दीजिये। हम अपने घर जाना चाहते हैं।" तब सेठ कहने लगा कि वह तो आपने मुझे स्वर्णिम चान्स दिया। मेरा अहोभाग्य है कि मुझे आपकी सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आपने मेरे पर बहुत उपकार किया।

खयाल करिये कि उपकार किया सेठ ने उन लोगों पर, पर कह क्या रहा है कि "आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया।" कितनी विनम्रता थी, सेठ के जीवन में। सेठ ने यथार्थ में प्रभु महावीर के सिद्धान्तों का रसपान किया था। सम्यक् दृष्टि के आचारों का भली भांति ज्ञान कर दृढ़ता से उसका पालन किया था।

आज के युग मे तो देखने को मिलता है कि प्रथम तो कोई ऐसा स्वधर्मी वात्सल्य का व्यवहार ही नही करते है। यदि कही करते भी है तो उसके पीछे नाम कमाने की, यश फैलाने की भावना अधिक काम करती है। काम कम, नाम अधिक होना चाहिये। इस बात को मानने वाले व्यक्ति कभी भी स्वधर्मी वत्सल्यता का पूरा-पूरा लाभ नही प्राप्त कर सकते। वह सेठ, ऐसे लोगों में से नहीं था। वह दिये गये दान को भूमि मे गये बीज की तरह गुप्त और सुरक्षित रखने वाला था।

जब सुकाल हुआ और लोग जाने की तैयारी करने लगे तो सेठ ने उन्हें एक निवेदन किया कि एक प्रीतिभोज और देना चाहता हूँ। कृपा कर मुझे सतुष्ट कीजिये। लोगो ने बात मान ली। प्रीतिभोज की जोरदार तैयारियाँ की जाने लगी। सभी को वह अपने हाथ से परोसकर जिमाने लगे। देखिये स्वधर्मी सेवा !

मुझे इसी बीच स्वर्गीय गुरुदेव श्री गणेशीलाल जी म सा के समय का प्रसंग याद आ रहा है। गुरुदेव का जब बगड़ी चातुर्मास था, तब चातुर्मास

करने वाले सेठ लक्ष्मीचंद जी धाड़ीवाल स्वयं स्वधर्मी भाइयों की सराहनीय सेवा करते थे। भोजनादि सभी कार्यो में भाग लेते थे। एक बार का प्रसंग है— कुछ भाई भोजन में अपनी खुराक का ध्यान नहीं रख पाये, जिससे उन्हें हैजे की शिकायत हो गयी। चेप की बीमारी होने से उनकी सेवा करने में नौकर-चाकर भी संकोच करने लगे। तो सेठ-सेठानी ने स्वयं ने उनको सम्भाला, उनकी सभी प्रकार से सेवा की और उन्हें स्वस्थ कर विदा किया। यह है साधर्मी के प्रति निःस्वार्थ वात्सल्य भाव।

हाँ! तो उस सेठ की बात कह रहा था मैं, जो सेठजी सभी को परोस रहे थे, उस समय उनके लड़के ने कहा—"पिताजी! मै भी परोसूँगा।" तो उसे सहर्ष अनुमति दी गयी। वह लड़का जब परोस रहा था तो एक बहिन ने, जिसे किसी चीज की आवश्यकता थी, उसे माँगने हेतु उसने उस लड़के के वस्त्र को पकड़ कर कहा—"यहाँ भी परोसते जाइये।" पर वह नादान, वात्सल्य भावना से अनभिज्ञ, बोल उठा कि तीन-तीन साल हो गये, यहाँ टुकड़े खाते-खाते फिर भी अभी तक तृप्ति नहीं हुई क्या? पल्ला पकड़ते नहीं छूटा? बन्धुओ! ये कठोर शब्द, उस बहिन को क्या! जीमने वाले सभी भाई-बहिनों को इतनी ठेस पहुँचाने वाले हुए कि सब के सब एक साथ उठ गये, बिना पूरा भोजन किये ही रवाना होने लगे। जब सेठजी ने यह दृश्य देखा तो विचार करने लगे कि तीन साल तक जो वात्सल्य भावना का स्रोत मैंने बहाया, उस पर इस लड़के ने थोड़े से कठोर शब्द कहकर पानी फेर दिया। सेठजी उन लोगों को हाथ जोड़कर, पैरों में गिरकर माफी माँगने लगे। कहने लगे कि लडके ने नादानी कर दी, आप उसे क्षमा कर दे। सभी सेठ की अपूर्व वात्सल्यता, विनम्रता से गद्गद् हो उठे। सेठ का पूरा सत्कार ग्रहण करके, सेठ को अन्तर आशीष देते हुए विदा हुए। अस्तु?

वात्सल्य भावना तो अन्तर की होती है। प्रभु महावीर ने कहा है कि—"हे आत्मन्! तू सम्पूर्ण विश्व के साथ वात्सल्य भाव रख। यदि इतना न हो सके तो कम से कम परिवार वालों के प्रति और साधर्मी भाइयों के प्रति तो अपनी वात्सल्य भावना का विस्तार होना चाहिये। वात्सल्य भाव रखने वालो को सबक लेना है कि समाज में रहते हुए कभी कुछ बोलने अथवा सुनने का प्रसंग आ जाए तो भी अपने क्षमा गुण का विकास कर. आत्मवत् व्यवहार का खयाल कर अपने वात्सल्य का निर्झर बहाते रहे। अपने जीवन में समागत समूल दुःखों से निवृत्ति पाने हेतु वीतराग वाणी में अवगाहन करते हुए सम्यक्त्व के सातवे आचार को जीवन में स्थान देगे तो जीवन अतीव मगलमय बन जाएगा। इन्ही शुभ भावों के साथ।

• □ •



अनुकम्पा की अवधारणा

□ आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

धर्म का प्रारम्भ : परहित का विचार करने से :

अपने हित एवं सुख-दुःख के समान दूसरो के हित और सुख-दुःख का विचार आने पर ही व्यक्ति के जीवन मे सच्चे धर्म का प्रारम्भ होता है। मुझे ही सुख मिले, दूसरों का चाहे जो हो, यह वृत्ति तो पशु-पक्षियो मे प्राय· होती है। मनुष्य में भी अगर यह स्वार्थवृत्ति हो, दूसरों के हित या सुख-दु.ख का विचार न करके अपने ही संकीर्ण स्वार्थ और सुख-दुःख को महत्त्व देने की वृत्ति—प्रवृत्ति हो, तो वह भी पशुवृत्ति ही समझनी चाहिए। केवल 'स्व' का ही विचार तो जीव को अनादि काल से मिला हुआ है, वही सब पापो का बीज है, वही संकीर्ण स्वार्थवृत्ति अधर्म का मूल है। समस्त पाप प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संकीर्ण स्वार्थवृत्ति मे से ही पनपते है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का जाल भी संकीर्ण स्वार्थ के इसी केन्द्र के आसपास बिछता है। किसी भी पाप के मूल की खोज करेगे तो आपको यही संकीर्ण 'स्व' का विचार ही प्रतीत होगा। पाप-वृत्ति और पाप-प्रवृत्ति को निर्मूल करना हो तो इस सकुचित स्वार्थ-वृत्ति के मिथ्यादर्शन का काटा अन्तर से निकालना ही होगा। इस सकुचित स्वार्थवृत्ति पर चोट पडने पर ही, अर्थात्—स्वार्थवृत्ति मन्द होने पर ही हृदय-भूमि में धर्म-वृक्ष अकुरित होता है। 'स्व' की सकुचित स्वार्थवृत्ति को 'सर्व' मे परिणत करने पर ही सच्चे माने मे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, अनुकम्पा, विनय, नम्रता, ऋजुता, पवित्रता, सयम, त्याग, तप आदि सद्धर्मो का पालन हो सकता है। दूसरों को अपना और अपने जैसा मानने, उनके हित, सुख-दुःख या जीवन को अपना हित, सुख-दु.ख या जीवन समझने पर ही व्यक्ति हिसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह, ईर्ष्या, दम्भ, छल, ठगी, मिथ्यात्व, क्रोध, अहंकार, आदि पापो को करने से रुक सकता है। दूसरे प्राणियो को आत्मीय मानने तथा उनके कष्ट या संकट को अपना कष्ट या सकट समझने पर कौन किस की हिंसा या चोरी करेगा? कौन किसके साथ झूठ या व्यभि-चार सेवन करेगा? कौन अत्यन्त जरूरी साधनों से अधिक परिग्रह रखकर या वस्तुओ का संग्रह करके दूसरो को संकट में डालेगा? व्यक्ति जब दूसरो को अपना समझ लेता है, तब क्या स्वयं ही स्वयं को धोखा देगा। एक हाथ दूसरे हाथ को मारेगा—पीटेगा? इसी 'आत्मीय भावना—आत्मवत् सर्वभूतेषु' की

१. यहाँ 'स्व' का अर्थ 'आत्मा' नही, परन्तु 'स्वार्थ' अर्थात्—'स्व-शरीर और उससे सम्बन्धित अन्य बातो को समझना चाहिए।' —सं०

भावना को तात्विक दृष्टि से समझाने के लिए श्रमण भगवान् महावीर ने 'आचारांग सूत्र' में स्पष्ट कहा है—

तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'हंतव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'परितावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'उद्द्वेयव्वं' ति मन्नसि।

—आचारांग १/५/५

अर्थात्—तुम वही हो, जिसे तुम मारना है, ऐसा समझते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम सताना है ऐसा मानते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम परिताप देना चाहते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम गुलाम बनाकर या कैद करके रखना चाहते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम डराना-धमकाना चाहते हो।

इससे स्पष्ट है, जो दूसरों को सताना-मारना या दुःखी करना चाहता है, वह अपने आपको सताता-मारता या दुःखी करता है। इसका तात्पर्य यह भी है कि जो दूसरों को सताता, मारता-पीटता या त्रास देता है, उसके कारण हुए घोर पाप कर्म के बन्ध के कारण स्वयं को ही उसके फलभोग के समय उतना ही नही बल्कि उससे भी अधिक त्रस्त, संतप्त एवं दुःखी होना पड़ता है।

निष्कर्ष यह है कि अहिंसादि धर्म का प्रारम्भ दूसरों के सुख-दुःख का भान, पर-पीड़ा त्याग; अथवा दुःखी मात्र के प्रति अत्यन्त दया—अनुकम्पा, गुणीजनों के प्रति अद्वेष, और सर्वत्र औचित्यपूर्वक व्यवहार से होता है। परार्थ भावना के बीजारोपण से ही धर्म का श्रीगणेश होता है। जब चित्त परार्थ-भावना से वासित होता है, तभी वह मनुष्य को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध करके मुक्ति तक ले जा सकता है। यही परार्थभावना आत्मवत् सर्वभूतेषु की या स्व-परहित की भावना ही अनुकम्पा के रूप में सम्यग्दृष्टि के जीवन में अवतरित होती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सम्यग्-दर्शनी को पहचानने परखने के जो पाँच लक्षण (चिह्न) बताये है, उनमें से एक महत्त्वपूर्ण लक्षण अनुकम्पा को बताया है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, उसके अन्तर में समग्र प्राणि जगत् के प्रति आत्मीयता का ऐसा निर्मल प्रवाह बहता रहता है कि उसका हृदय किसी भी प्राणी के दु.ख, कष्ट या संकट को देखकर द्रवित हो उठता है। यही नही, अपराधी, दुर्जन, पापी या अधर्मी को देखकर भी उसके अन्तर में अनुकम्पा—वात्सल्यमयी दृष्टि जाग उठती है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ आवश्यकता पड़ने पर अपने कर्तव्य या दायित्व के नाते अपराधी को दण्ड भी देता है, परन्तु अन्तर से उसके हृदय में उसके प्रति जरा भी द्वेष, रोष या दुष्ट बुद्धि नही होती, उसको सुधारने की, उसकी आत्मा का हित करने की

ही वृद्धि होती है। उस अपराधी को समाज के भयंकर कोप का भागी न होना पड़े, भविष्य में उसे उस अपराध के कारण घोर दुःख में न पड़ना पड़े, इस दृष्टि से सम्यक्त्वी आत्मा उसे यथोचित शारीरिक सजा भी देता है परन्तु सम्यग्दृष्टि के अनुकम्पा प्रवण हृदय मे उसका जरा भी नुकसान या अहित करने की वृत्ति नहीं होती।

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति की पहचान : अनुकम्पा

किसी व्यक्ति को भाव से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है या नही, इसकी एक पहचान अनुकम्पा से होती है। जिसकी अन्तरात्मा जीव सृष्टि के किसी भी प्राणी, व्यक्ति, समाज और समष्टि पर आ पड़े हुए दुःख और सकट को देखकर द्रवित नही होती, जिसके हृदय मे अनुकम्पा नही फूटती, समझ लो अभी वह जीव सम्यग्दर्शन से दूर है। सम्यग्दर्शन से ही धर्माचरण (दर्शनाचार) का प्रारम्भ होता है और जिसके जीवन में अनुकम्पा नहीं आई अभी उसमें सद्धर्म अकुरित ही नही हुआ। जिसका हृदय संवेदनशील नही, सहानुभूतिपरायण नहीं, सह-अस्तित्व की भावना से ओतप्रोत नहीं, परार्थ की वृत्ति से परिपूर्ण नही, वह अनुकम्पाहीन हृदय सम्यक्त्व रूप धर्म से दूर है। इसके विपरीत जिसके दिल में दुःखी को देखकर घृणा, आक्रोश, तिरस्कार, मत्सर, अहंकार, ईर्ष्या, वदले की भावना, उसे गिराने और अधिक दुःखी करने की वृत्ति प्रवल रूप से उभरती हो तो समझ लो उस पापाणहृदय निपट स्वार्थी व्यक्ति ने भी सम्यग्दर्शन का प्रकाश नहीं पाया है। वह अभी संकुचित स्वार्थ, कठोरता, अहंता-ममता आदि दुर्गुणों के गाढ़ अन्धकार से घिरा हुआ है। अतः अनुकम्पा इस बात की प्रतीति करा देती है कि जिस व्यक्ति मे प्राणि मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव जागृत हुआ है, किसी प्राणी के दुःख को जान-देखकर जिसका हृदय कम्पित हो उठता है, वह सम्यग्दृष्टि है, सम्यक्त्वी है।

अनुकम्पा क्या है, क्या नहीं ?

जब सम्यग्दृष्टि को परखने की एक निशानी अनुकम्पा है, तब प्रश्न होता है कि अनुकम्पा किसे कहते हैं ?

सामान्य रूप से अनुकम्पा का अर्थ होता है—परदुःखानुकूलं कम्पन—'अनुकम्पा'। इसका फलितार्थ यह है कि अपने-पराये के भेद या अन्य किसी पक्षपात के विना किसी भी धर्म, जाति, प्रान्त या राष्ट्र के दुःखी प्राणी को देख-सुनकर हृदय द्रवित या कम्पित हो उठना तथा उस दुःख को दूर करने को तत्पर होना– अनुकम्पा है। गुणभूषण श्रावकाचार में इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है—

> **सर्वजन्तुषु चित्तस्य, कृपार्द्रत्वं कृपालवः।**
> **सद्धर्मस्य परं बीजमनुकम्पां वदन्ति ताम्॥**

समस्त प्राणियों पर चित्त के दयार्द्र होने को तथा सद्धर्म के उत्कृष्ट बीज को दयालुगण 'अनुकम्पा' कहते है।

अनुकम्पा धारण करने वाले व्यक्ति की आत्मा दया से इतनी स्निग्ध या आर्द्र हो जाती है कि वह किसी भी मनुष्य या प्राणी को कष्ट, संकट या दुःख में पड़ा देखकर चुपचाप नहीं रह सकता। उसके हृदय में दु.खी को देख कर सहसा यह भावना उठती है कि "जैसे मै दुःख आ पड़ने पर उससे मुक्त होकर सुखी होना चाहता हूँ, वैसे यह जीव भी दु.ख मुक्त होकर सुखी होना चाहता है। दुःख जैसा मुझे कष्ट देता है, वैसा इसे भी देता होगा।" इस प्रकार दूसरे प्राणी या मानव को दुःखित या पीड़ित देखकर अनुकम्पाशील सम्यग्दृष्टि के हृदय में उसके अनुकूल अनुभूति जाग जाती है। वह दूसरे के दु.ख और कष्ट को अपना ही कष्ट या दु.ख समझने लगता है। भगवान् महावीर के इस कथन के प्रति उसकी दृढ़ श्रद्धा होती है—

'सव्वे पाणा पियाउया सुहमाया, दुक्खपडिकूला।'

—आचारांग १/२/३/२४०

सभी जीवों को आयुष्य प्रिय है। सभी जीव सुख चाहते है, दुःख सबको प्रतिकूल—अप्रिय लगता है। अनुकम्पा में प्राणि मात्र के साथ आत्मीयता, एकता या सहानुभूति होती है। वैसे दया, करुणा और अनुकम्पा में थोड़ा-सा अन्तर है। दया में दूसरों के साथ सहानुभूति होती है, साथ ही दया में प्रायः अहं-कर्तृत्व का भाव आ जाता है। करुणा में दूसरों को दुःखी देखकर आघात पहुँचता है। परन्तु अनुकम्पा में आत्मज्ञानपूर्वक आत्मीयता होती है। इसमें सर्वप्रथम मनुष्य अपनी आत्मा को भलीभाँति जान लेता है, आत्मा का हित या आत्मसुख किस में है? इसे समझ लेता है। फिर यह अनुभव करता है कि जैसा अपनी आत्मा है, वैसा ही दूसरे प्राणी का है। इसके अनुकम्पाशील व्यक्ति का अन्तःकरण दूसरों के प्रति आत्मीयता के कारण एकरस और समभावी बन जाता है। कहते है, एक व्यक्ति ने रामकृष्ण परमहंस के मना करने पर भी बैल की पीठ पर बेंत से मारा, उसके निशान रामकृष्ण परमहंस की पीठ पर पड़ गये। यह था अनुकम्पा का ज्वलन्त उदाहरण! रघुवंश में वर्णन आता है कि पार्वती को एक बिल्ली के बच्चे के प्रति इतनी आत्मीयता थी कि उसके मुँह पर किसी ने नोच लिया था, उसके निशान पार्वती के मुँह पर हो गये थे। इस प्रकार अनुकम्पाशील व्यक्ति का हृदय माता का-सा होता है। इसका कारण यह है कि दूसरों के सुख-दुःख का संवेदन अनुकम्पापरायण स्वयं अनुभव करता है। दूसरे का दुःख वह अपना ही दुःख समझता है। इसलिए वह ऐसा ही महसूस करता है कि मैं दूसरे का नही, अपना ही दुःख दूर कर रहा हूँ। वह अपनी शक्ति भर दूसरों के दुःख का निवारणोपाय करता है। अपने पैर में कांटा चुभने पर व्यक्ति जैसे हाथ से खींच कर निकाल लेता है, वैसे ही दूसरे के दुःख-

अहित अपने ही प्रतीत हुए और रहा न गया, इसलिए दूर किये। इस प्रकार सहज स्थिति बन गई। यही कारण है कि इसमें निःस्वार्थ भाव से दूसरे का दुःख दूर करने का नम्र प्रयत्न होता है, किसी प्रकार की आशा या अपेक्षा इसमें नहीं रखी जाती और न ही कर्तृत्व का अभिमान इसमें होता है, न ही फलाकांक्षा का भाव।

अनुकम्पा के विषय में किसी प्रकार की उलझन न रहे, इस दृष्टि से आचार्यों ने इसके दो भेद बताये हैं—द्रव्य-अनुकम्पा और भाव-अनुकम्पा। जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ और सुख-सुविधा की सामग्री जिन्हें प्राप्त है, परन्तु जो सद्धर्माचरण से रहित है, यथार्थ जीवन-दृष्टि से वंचित हैं, उनके प्रति करुणा से अन्तर द्रवित हो जाना तथा उन्हें सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो, ऐसी सद्भावनापूर्वक यथामति यथाशक्ति इस दिशा मे सच्चे अन्तःकरण से प्रयास करना—भाव अनुकम्पा है। अमितगति के अनुसार—

जन्माम्भोधौ कर्मणा भ्रम्यमाणे जीवग्रामे दुःखितेऽनेकभेदे ।
चित्तार्द्रत्वं यद् विधत्ते महात्मा तत्कारुण्यं दर्श्यते दर्शनीये ॥

अर्थात्—कर्मवश संसार समुद्र में भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के दुःखित जीवों को देखकर जो महान् आत्मा चित्त मे आर्द्रता दयालुता धारण करता है, उसी को तत्त्ववेत्ता दार्शनिक करुणा—भाव-अनुकम्पा कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि कर्मों के कारण जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि नाना-विध दुःखों को भोगते हुए, तथा चारों गतियों में भटकते हुए जीवों पर आत्मीयता लाकर जो दयार्द्र पुरुष उन्हे सम्यक्बोध देता है, दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताता है, आत्मिक सुख-प्राप्ति का उपाय बताता है उसकी इस सक्रिय आत्मौपम्य भावना को ज्ञानी पुरुष भाव-अनुकम्पा कहते हैं।

दूसरी ओर, जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ के अभाव मे पीडित एवं दुखित होते हुए आत्माओ को देखकर उनके प्रति अन्तर में सहानुभूति पैदा होना और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना द्रव्य-अनुकम्पा है।

यह स्मरण रहे—द्रव्य-अनुकम्पा के साथ भाव-अनुकम्पा होनी जरूरी है। भाव-अनुकम्पा मे अनुकम्पा का तत्त्वज्ञान होता है। उससे हृदय मे एकात्म-भावना, हृदय की कोमलता, दयार्द्रता, संवेदनशीलता, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना, समस्त प्राणियों में स्वतुल्य बुद्धि, सर्वात्मसमदृष्टि एव आत्मीयता, सहानुभूति आदि भी भाव-अनुकम्पा के अंग है। इसमे सर्वप्रथम आत्मा का तत्त्वज्ञान, फिर सर्वात्मैकत्व भावना पनपती है।

यह ध्यान रहे कि स्वयं व्यक्ति यदि साधन सम्पन्न हो, अथवा दूसरों से साधन दिलाने की प्रभावशील क्षमता हो तो साधनहीन के प्रति द्रव्य-अनुकम्पा

के बिना सहानुभूतिशून्य या आत्मीयता की भावना से रहित अध्यात्म या वैराग्य का कोरा उपदेश दे देने में भाव-अनुकम्पा की इति—समाप्ति नहीं हो जाती। आत्मतुल्य दृष्टि से जगत् के जीवों को देखने वाले व्यक्ति में ही सच्ची अनुकम्पा प्रकट होती है।[1]

कोई भी प्राणी दुःखी न हो, सभी प्राणी सुखी हों, तथा दूसरों को अज्ञानादिवश दुःखित देखकर निःस्वार्थ भाव से सुखी बनाने की भावना भी भावानुकम्पा है। भाव-अनुकम्पापूर्वक यथाशक्ति यथामति किसी दुःखी, पीड़ित आदि को सहायता देकर दुःख मिटाना द्रव्य-अनुकम्पा है। कई लोग कहते है कि हमारे पास धन इतना नहीं है कि हम अपना गृहस्थ जीवन चलाने के बाद कुछ बचत कर सके और उसमें से दीन-दुखियों की मदद कर सकें। परन्तु किसी भी दुःखित—पीड़ित को सहायता केवल धन से ही नहीं, किन्तु तन से शारीरिक सेवा देकर, वचन से सहानुभूति प्रगट करके, आश्वासन प्रोत्साहन तथा बौद्धिक सत्परामर्श-देकर अथवा दूसरों से सहायता दिलवा कर या दूसरों को सहायता देने का कहकर सहयोग प्रदान कर सकते है। कई निर्धन व्यक्तियों का हृदय भी इतना दयार्द्र एवं अनुकम्पाशील होता है कि वह स्वयं अपने खर्च में कतरव्योंत करके दुःखित और पीड़ित व्यक्ति को अर्थ-सहयोग दे देते है। उनकी परमार्थ भावना वह पीड़ित और दुःखित प्राणी को देखकर उसके दुःख दूर किये बिना रह ही नही सकती।

अमेरिका के तत्कालीन न्यायाधीश एब्राहिम लिंकन अपनी घोड़ा गाड़ी में बैठकर न्यायालय मे जा रहे थे। तभी रास्ते में उन्होंने एक सूअर को कीचड़ में फंसे हुए और निकलने के लिए छटपटाते देखा। उन्होंने अपने सईस या किसी नौकर को आदेश नही दिया। घोड़ागाड़ी रुकवाकर वह स्वयं उतरे और कीचड़ में फंसे हुए सूअर को पकड़कर बाहर निकाला। यद्यपि सूअर के द्वारा अंगों को फड़फड़ाने से कीचड़ उछल कर लिंकन के कपड़ों पर लग गया था। परन्तु सूअर के कष्ट को अपना कष्ट समझकर उन्होने उसे बाहर निकाल कर उसका कष्ट दूर कर दिया, इसका उन्हें बहुत सन्तोष था। सूअर की आत्मा को न्यायाधीश लिंकन ने अपनी आत्मा के तुल्य समझा। यह भाव-अनुकम्पापूर्वक द्रव्य-अनुकम्पा का जीता-जागता उदाहरण है।

---

१ अनुकम्पा दुःखितेषु अपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा, पक्षपातेन तु करुणा स्वपुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येव। सा चाऽनुकम्पा द्रव्यतो भावतश्च भवति। द्रव्यतः सत्या शक्तौ दुःखप्रतीकारेण, भावत आर्द्रहृदयत्वेन।

—योगशास्त्र प्रकाश २, श्लो. १५ टीका

'आत्मौपम्येन सर्वं पश्यतो हि सा (अनुकम्पा) स्यात्।'

—पंचलिंगी प्रकरण गाथा १ टीका

भारत के दो टुकड़े जिस सांप्रदायिक कट्टरता के फलस्वरूप हुए थे, वह ज्ञान के अंकुश से रहित थी, इसलिए यह जरूरी है कि हम ज्ञान, दया और धर्म की त्रिपुटी को सदैव याद रखे।

दिल में दया रहे तो वैर नही रह सकता—

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥"

—योगदर्शन : २/४५

(अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उसके सान्निध्य में वैर छूट जाता है।)

वैर से हिंसा की भावना बनी रहती है, जो साधना को दूषित कर देती है—

"यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः ॥"

—गीताः १२/१५

(जो न किसी प्राणी को उद्विग्न करता है और न स्वयं ही किसी अन्य प्राणी के व्यवहार से उद्विग्न होता है (वही साधक हो सकता है।)

हिंसा का निषेध करते हुए आदेश दिया गया है—

"मा हिंसीः 'पुरुषं' जगत् ॥ —यजुर्वेद १६/३

(मनुष्य और जंगम (गाय, कबूतर आदि) प्राणियों की हिंसा मत करो।)

दया को करुणा भी कह सकते है। एक बौद्ध ग्रन्थ मे 'करुणा' की बहुत अच्छी परिभाषा और व्युत्पत्ति इन शब्दों मे पायी जाती है—

"परदुक्खे सति साधुनं हृदयकम्पनं करोतिति करुणा, किणाति मा परदुक्खं हिंसति विनासेति, इति करुणा।" बुद्धि दिमाग्गः ६/६२

(दूसरों के दुःख में सज्जनों के हृदय को जो कंपा देती है वह करुणा है, दूसरों के दुःख को जो खरीद लेती है, नष्ट कर देती है, वह करुणा कहलाती है।)

"यत्नादपि परक्लेश, हंतु या हृदि जायते।
इच्छा भूमिसुर श्रेष्ठ, सा दया परिकीर्तिता ॥"

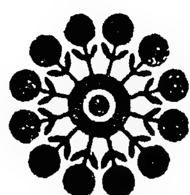
—शब्दस्तोममहानिधिः २११

(हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! पराये दुःख को प्रयत्न पूर्वक दूर करने के लिए हृदय मे जो इच्छा पैदा होती है, वही 'दया' कही जाती है।)

निर्दय हृदय मे सद्गुण अंकुरित नही हो सकते हैं, दया जिस व्यक्ति के हृदय में निवास करती है, वह 'दयालु' कहलाता है और उसकी समस्त प्रवृत्तियो का सामूहिक नाम है दयालुता।

पवित्र मार्ग का अनुसरण करने वालों को 'दयालुता' नामक दिव्य सद्गुण की साधना अवश्य करनी चाहिये।

□□



दया-माता की आराधना

। , जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म० सा०

कभी-कभी चिकने कर्म सामुदायिक रूप से बाँधे और भोगे जाते हैं। जैसे बहुत-से लोग कोई मेला देखने गये और बहुत राजी हुए, किसी ऐसे स्थान पर गये जहाँ जीवों का बध होता है और वध को देखकर खुशी मनायी, तो ऐसे प्रसंगों पर सामूहिक कर्म बंधन होता है और सामूहिक रूप में उनको भोगना भी पड़ता है।

माताजी के स्थान पर बकरों और भैंसों का वध किया जाता है। लोग अज्ञानवश होकर समझते है कि ऐसा करके वे माताजी को प्रसन्न कर रहे हैं और उनको प्रसन्न करेंगे तो हमें भी प्रसन्नता प्राप्त होगी। ऐसा सोचना मूर्खता है। लोग माताजी का स्वरूप भूल गये हैं और उसको प्रसन्न करने का तरीका भी भूल गये हैं। इसी कारण वे नृशंस और अनार्य तरीके आज भी काम में लाते है। सच समझो तो हम साधु लोग माताजी के सच्चे पुजारी हैं। हम उनके पडे है और प्रतिदिन उनकी पूजा किया करते है। हम तो रात-दिन उनका स्मरण किया करते है। यह ओघा, पूंजणी और मुहपत्ती जो हमारे पास है, माताजी की सेवा-पूजा के लिए ही है। उन माताजी की महिमा कम नहीं है। अगर उनका सच्चा स्वरूप समझ कर कोई उनकी ठीक तरह उपासना करे तो उसे किसी चीज की कमी नहीं रहती। वह वलदेव बन सकता है और तीर्थंकर भी बन सकता है। वह माताजी वरदान देती हैं कि तुम ऐसे बन जाओ। उनके आशीर्वाद से धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्र आदि सभी कुछ प्राप्त होता है। हे भाइयो! तुम भी उन सच्ची माताजी के स्वरूप को समझो और उनकी उपासना करो। वह कौन-सी माता है?

थाने मनाऊँ देवी शाशता, म्हारी दया माता ॥ ध्रुव ॥

सर्व मनोरथों को पूरा करने वाली और सुख देने वाली उन माता का नाम है—दया माता! वह अखण्ड है, अविनाशी है और अजन्मा है! यह दया-माता सच्ची-माता है। कोई कहता है कि मैने किसी गरीब को पाँच रुपये दिये है! पर मै कहता हूं कि तुम देने वाले कौन हो? असल में तो तुम्हारे दिल में दया माता आई थी और उसी के हुक्म से तुम्हे देने पड़े। माताजी के हुक्म के विना क्या पत्ता हिल सकता है?

या सम देवी नहीं कोई दूजी, हाथां हाथ हजूर।
तूठां तत्क्षण फले भावना, दुख जावे सब दूर ॥

देखो, दया माता पधारे तो उन्हें प्रसन्न कर लो। दूसरे देव को प्रसन्न करोगे तो न मालूम कितने समय वाद फल की प्राप्ति होगी, मगर इन माताजी की यह विशेषता है कि सन्तुष्ट होने पर वे तत्काल फल प्रदान करती हैं। इनके समान तीन लोक मे और कोई देव या देवी नही है। यह हाथों हाथ फल देने वाली है। एक महीना तो दूर, एक मुहूर्त्त की भी देर नही लगती है।

वच्चा पैसा माँगता है, पैसे के लिए हठ करता है; मगर आप उसे डॉट देते हैं, 'हट-हट' कर देते हैं। मगर ज्यों ही वह ज्यादा रोता है और आपके दिल में दया आ जाती है। वस, उसी समय आप पैसा जेव से निकालते हैं और उसे दे देते हैं। छोटा वच्चा रोता है तो माता सव काम छोड़ कर झट उसको दूध पिलाने लगती है। यह सब दया-माता का ही प्रताप है। दया-माता प्रसन्न हुई कि उसी समय कामना सिद्ध हुई। दया-माता की कृपा से सभी कामनाएँ सिद्ध होती हैं।

जिसने दया-माता की मान्यता, आराधना, सेवा-पूजा नही की, उसकी क्या स्थिति होती है, यह वात किससे छुपी है? ऐसे लोग हर तरह से दुखी होते है। वे भीख के लिए गली-गली भटकते फिरते है, फिर भी पेट भर अन्न नहीं पाते! "अरे वावूजी भूखा मरूँ हूं, रोटी को टुकड़ो दे ओ नी!" की दीनता पूर्ण आवाजें लगाते फिरते है! जिन्होंने दया-माता का गुणगान नहीं किया, जिन्होंने अपने मनो-मन्दिर में दया देवी को विराजमान नही किया, उन्हें दुःख और दरिद्रता का सामना करना पड़ता है। अतएव अगर अपना भला चाहते हो, सब मनोरथ पूरे करना चाहते हो तो दया-माता की सेवा करो।

लोग पत्थर को सिन्दूर लगाते हैं और माता कह कर उसकी पूजा करते है। परन्तु यह नहीं समझते कि असली माता तो उन्हीं के घट में विराजमान है। अशिक्षित और अपढ लोग ही इस भ्रम में पड़े हो, सो वात नहीं है; वरन् वहुतेरे सेठ, साहूकार और राजा लोग भी इसी भ्रम में पड़े हुए हैं। वे असली माता को भूल गये है और उलटी मान्यता पकड़ वैठे हैं। इसका इतना दुष्परिणाम आया है कि वयान नहीं किया जा सकता। 'मेरा वच्चा अच्छा हो जायेगा तो वकरा चढाऊँगा या पाड़ा चढ़ाऊँगा' इस प्रकार की निर्दयता पूर्ण मनोभावना लोगों की वन गई है! यह माताजी की मान्यता नही है, मजाक है, आराधना नही विराधना है; माताजी को राजी करना नहीं, वरन् नाराज करना है। ऐसे लोग माताजी को जगत् की माता मानते हे, सव जीव धारियों को उनका पुत्र समझते है और फिर भी उनके ही सामने, उन्हीं के निमित्त, उनके पुत्रों के प्राण लेते हैं? क्या इससे कभी माता प्रसन्न हो सकती है? क्या कोई माता अपने वच्चे का वलिदान चाह सकती है और उससे सन्तुष्ट हो सकती है? शेरनी जैसी क्रूर समझी जाने वाली माता भी

अपनी सन्तान की रक्षा करती है तो क्या सारे संसार की रक्षा नही चाहेगी ? अवश्य चाहेगी। यही नहीं, अगर वह सच्ची माता है तो अपनी सन्तान का घात करने वाले से बदला लिये बिना नही रहेगी।

कई लोग कहते है—क्या करे, जब बच्चा बीमार हो जाय तो उसको बचाने के लिए ऐसा करना पड़ता है। मगर उन्हें सोचना चाहिए कि एक प्राणी की हत्या से दूसरे प्राणी की रक्षा नही हो सकती। वह बालक, जो अकाल में मर रहा है, पहले ऐसे ही काम करके आया होगा। उसने किसी के प्राण लिये होंगे, पाप का उपार्जन किया होगा। इसी कारण वह अकाल मृत्यु का शिकार हो रहा है। वह पाप के फल को भोग रहा है। उस पाप के फल को नवीन पाप करके किस प्रकार रोका जा सकता है ? बकरे के प्राण ले लेने से बालक के प्राण कैसे बच जाएंगे ? अगर बालक थोड़ी उम्र लेकर आया है तो वह बचेगा नहीं, और तुम बकरे के प्राण लेकर पाप के भागी अलग ही बन जाओगे।

मैं यह नहीं कहता कि बीमार बालक का इलाज मत करवाओ और उसे बचाने का प्रयत्न मत करो। मै तो मानवोचित विवेक से काम लेने की बात कह रहा हूं। मैं यह कहता हूं कि कीचड़ को कीचड़ से धोने का प्रयास मत करो। खून के दाग को खून से धोने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है ! इसी प्रकार हिंसा-जनित पाप-कर्म के फल से बचने के लिए हिसा को मत अपनाओ। दया-माता की करुणामयी मुद्रा को अपने सामने रख कर ही कुछ करो। दया को बिसार कर काम करोगे तो अच्छा करने चलोगे और बुरा फल पाओगे। बकरा और पाड़ा जैसे पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या से किसी का कल्याण होना सम्भव नहीं है। यह राक्षसी कृत्य है, अनार्यो का अनुकरण करना है। विवेकवान् आर्यपुरुष ऐसे कृत्य भूल कर भी नही करेगा। भगवान् ऋषभदेव के आदेश को स्मरण रक्खो। उन्होने कहा कि सभी जीवों को अपना-अपना जीवन प्रिय है। सभी जीवित रहना पसन्द करते है। क्या पशु, क्या पक्षी और क्या कीड़ा-मकोड़ा, सभी में जिजीविषा है—जीवित रहने की इच्छा है। अतएव उनके जीवन का घात मत करो। तुम बड़े हो और अधिक सामर्थ्यवान् हो तो तुम्हें अधिकार नहीं कि अपने से छोटो के प्राण लूट लो। बड़े भाई का काम छोटे भाई की रक्षा करना है। मनुष्य बड़ा भाई है, पशु-पक्षी उसके छोटे भाई है। उनकी रक्षा करो। कम से कम अपनी ओर से तो उन्हे कष्ट मत पहुँचाओ।

भाइयो ! दया समस्त दुखों की एक अमोघ दवा है। अगर आप दया-देवी को दिल मे बिठला लोगे तो आपके सारे दुःख और सारी दरिद्रता दूर हो जायगी। निश्चित समझो कि दया-माता के विरुद्ध प्रवृत्ति करने से ही सारे दुःख होते है। अगर दया माता का सच्चा स्वरूप समझ कर उसकी

आराधना करोगे तो वह तुम्हारी रक्षा करेगी और तुम्हे सुख मिलेगा । इसे कभी विस्मरण मत करो । यह असली माता है और आखिर जगत् की माता है । इस माता की सवारी कौन-सी है ?

ज्ञानरूप सिंह की असवारी, तप-तिरशूलां हाथ ।
हाक धाक करती दुश्मन पर, करे रिपु की घात ।।

दया-माता ज्ञान रूपी सिंह पर सवार है । भगवान् ऋषभदेव का और अन्य तीर्थंकरों का जो दर्शन है, जो सिद्धान्त है उनके द्वारा उपदिष्ट जो द्वादशांगी है, और आपके अन्तस्तल में रहने वाला जो शुद्ध विवेक है, वही ज्ञान है और उसी पर दया-माता की सवारी है । 'पढमं नाणं तओ दया' अर्थात् ज्ञान आता है और फिर दया आकर उस पर बैठ जाती है । इस दया-माता के हाथ मे तपस्या का तीखा त्रिशूल है । तपस्या रूपी त्रिशूल से दया-माता अपने शत्रुओं का संहार करती है । दया का शत्रु कौन है ? हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, लोभ, काम, क्रोध, मद, मोह आदि अवगुण ही इसके शत्रु है । दया-माता तपस्या के त्रिशूल का प्रयोग करके इन सब पाप रूप रिपुओं का समूल संहार कर डालती है ।

जहाँ दया की देवी नही होती, वहाँ वड़े से वड़े अनर्थ होते हैं । अमेरिका से दया-देवी हट गई तो उसने परमाणु वम के द्वारा हजारों लाखों जापानियों के प्राण ले लिये । यह घटना एक संकेत है, इशारा है । इससे यह बात साफ हो जाती है कि जगत् की स्थिति दया पर ही निर्भर है । अगर दुनिया से दया उठ जायगी तो प्रलय मच जायगा ! दया के अभाव मे भाई, भाई के प्राणो का ग्राहक वन जायगा । एक राष्ट्र, दूसरे राष्ट्र का सहार कर डालेगा । कोई सुख-चैन से नही रह पाएगा । दया की वदौलत ही सारे सद्गुण हैं । दया के अभाव में एक भी सदुगुण नही टिक सकता । अतएव क्या आत्मा के कल्याण के लिए, क्या देश के कल्याण के लिए और क्या जगत् के कल्याण के लिए, दया ही एक मात्र समर्थ साधन है ! दया के विना संसार का त्राण नहीं है । शान्ति की सैकडों योजनाएँ वनाई जाएँ, मगर वे विफल ही होंगी, अगर उनके मूल मे दया नही होगी । क्योंकि शान्ति का मूल आधार दया ही है ।

अष्ट कर्म का मुण्ड तोड़ कर, धरी रुंड की माल ।
अष्ट प्रकारे धार विभूति, गले मोतियन की माल ।।

आत्मा को दुःख देने वाले आठ कर्म है । काम, क्रोध आदि दुर्गुणों को उत्पन्न करने वाले भी यही है । अतएव यह आत्मा के दुश्मन हैं । जव दया-माता घट मे आकर विराजमान हो जाती है तो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन आठो कर्मो के सिर काट लेती है और आशीर्वाद देती है—जा, तू केवल ज्ञान का भागी हो; तुझे

अनन्त दर्शन और निराबाध सुख प्राप्त होगा ! दया-माता इन आठों कर्मों के सिर की माला अपने गले में पहन लेती है और नौ तत्त्व रूपी मोतियों का नव लड़ा हार पहनती है। इस माता के भी चार हाथ है :—

दानादिक चउ भेद विराजे, भुजा-दण्ड विस्तार ।
विनय-मुकुट सिर ऊपर सोहे, ऐसो कियो सिणगार ।।

दया-माता की चार भुजाएँ है। दोनो तरफ दो दो हाथ है । पहला दान का, दूसरा शील का, तीसरा तपस्या का और चौथा भावना का है। जो आदमी दान नही देता, समझ लो कि उसने दया-माता का पहला हाथ तोड़ दिया है । जो ब्रह्मचर्य नहीं पालता उसने दूसरा हाथ तोड़ दिया है, तपस्या नहीं की तो तीसरा हाथ खण्डित कर दिया और जो भावना नही भाता, उसने चौथा हाथ काट डाला है ! ऐसा जीव मर कर वनस्पतिकाय आदि में जन्म लेगा, जहाँ उसे हाथ-पैर नही मिलेगे । इसके विपरीत, जो भाग्यशाली पुरुष दया-माता के चारों हाथों का जतन करेगा, उसे परिपूर्ण अवयवों वाला सुन्दर शरीर मिलेगा और वह ऐसे सुख का भागी होगा कि सपने मे भी दुःख का सामना नही करना पड़ेगा।

भाइयो ! इस दया-माता की महिमा का क्या पूछना ? उसका प्रभाव अपरिमित है, उसका महात्म्य अनन्त है ! उसके गुणों का वर्णन करना सम्भव नही है। दया-माता के मस्तक पर विनय का अर्थात् नम्रता का सुन्दर मुकुट सुशोभित होता है । जिस मनुष्य में नम्रता हो, समझना चाहिए कि उसने दया-माता के मस्तक पर मुकुट चढ़ाया है । नम्रता का मुकुट चढ़ाने वाला इस लोक में और परलोक में मानव-समाज का मुकुटमणि हो जाता है। सब के आदर और सम्मान का पात्र होता है। सभी उसकी प्रशसा करते है । वह सर्वत्र सम्माननीय होता है । अतएव जिसे जो चीज पसन्द हो, जो जैसा फल प्राप्त करना चाहता हो, वह दया-माता की वैसी ही आराधना करे।

कोई पूछे कि दया-माता का मन्दिर कहाँ है ? उसका उत्तर यह है :—

मोक्ष-मन्दिर की है तू वासी, खासा सुख दातार ।
चार तीर्थ थारे आवे यातरी, भरा रहै तव द्वार ।।

भाई ! इस दया-माता का मन्दिर मोक्ष में है । आप कहोगे कि यह मन्दिर तो बड़ी दूर है ! मगर जिसे जरूरत होगी, तो जाएगा ही । जिसे धन की आवश्यकता होती है, वह देश-विदेश की परवाह नही करता । दूर-पास की गिनती नहीं करता। वह तो अपने प्रयोजन को सिद्ध करने की ही भावना रखता है। जिसे मोक्ष चाहिए, उसे पुरुषार्थ भी करना चाहिए । प्रयत्न भी करना चाहिए।

दूसरी माताजी के पास तो लोग कभी-कभी दशहरे आदि के अवसर पर ही जाते है, मगर दया-माता की सेवा मे सदैव यात्री आते रहते हैं। उनका दरबार सदा भरा रहता है। देखो इन दया-माता के हम पन्डे हैं और इनकी उपासना के लिए तुम सब आये हो और प्रतिदिन आते हो! हमारी यह दया-माता अनन्त वरदायिनी है। अगर इन्हे प्रसन्न नही करोगे तो तुम्हारी क्या दशा होगी ? जानते हो, माता रुष्ट हो जाती है तो वह बच्चे को दूध नहीं पिलाती है। इसलिए हम प्रतिदिन और प्रतिक्षण दया-माता को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहते हैं। हम गाँव-गाँव में दया-माता का धाम बनाते और चलाते हैं। दया-माता की पूजा में चारों तीर्थ सम्मिलित होते है। दूसरी माताजी के यहाँ तो नवरात्रि के समय ही बाजे बजते है, किन्तु यहाँ—

सतरह विधि संयम को थारे, बाजा का झणकार।
ध्यान ध्वजा थारे उड़े शिखर पर, लाग रही धूंधकार ॥

सत्तरह प्रकार का संयम जिसका साधु और साध्वी पालन कर रहे हैं, वही दया-देवी के स्थान पर रात-दिन बजने वाले नगाड़े है। दया-माता के मन्दिर पर ध्यान रूपी ध्वजा चढाई जाती है। जिसे ध्वजा चढानी हो, वह ध्यान की ध्वजा चढ़ा कर अपने कल्याण की ध्वजा फहरा सकता है। कम से कम चार लोगस्स का सवेरे, दोपहर और शाम को तथा हो सके तो बारह बजे रात को ध्यान करना। जिसे लोगस्स का पाठ न आता हो, उसे नवकार मंत्र का ही ध्यान करना चाहिए। दया-देवी को किसी कपड़े की ध्वजा नही चाहिए। वह ध्यान की ध्वजा से सन्तुष्ट होगी। और फिर क्या है :—

ऋद्धि सिद्धि नव निधि दाता, भरे अखूट भण्डार।
अष्ट पहर थारा मगल गावे, हो रया मंगलाचार ॥

दया-माता सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि देने वाली है, उसके अनुग्रह से नव-निधियों की प्राप्ति होती है। वह ऐसा भण्डार भर देती है कि फिर कभी खाली ही नहीं होता। आठ प्रवचनों की आराधना करने वाला कर्मो की कोटी खपाता है और उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थंकर गोत्र बाँधता है। जहाँ दया-माता है, वहाँ सब प्रकार का आनन्द होता है। किसी प्रकार का दुःख दारिद्रय उसके आस-पास नहीं फटकता!

□□□



धर्म की रीढ़ : अहिंसा

□ उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

धर्म ने मानव जाति की जो अनेकानेक दिव्य विभूतियाँ प्रदान की हैं, अहिंसा उन सब में उत्कृष्ट है। अहिंसा ही मानव की आकृति में मानवत्व और देवत्व के प्राणों की प्रतिष्ठा करती है। कभी-कभी ध्यान आता है—मानव-मन में यदि अहिंसा की कोमल कमनीय भावना न होती तो इसकी क्या स्थिति होती ? मनुष्य ने परिवार, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किया, मगर इन सब का मूलाधार अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव में परिवार-समाज और राष्ट्र का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकते। मानव-जाति के महान् मनीषियों ने अब तक के विराट् और गम्भीरतम चिन्तन का सर्वोत्कृष्ट सार यदि कुछ है तो वह अहिंसा ही है।

स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।[1]

व्यक्ति और समाज के जीवन का प्रधान अवलम्बन अहिंसा है। अहिंसा के प्राण ही उसमें स्पन्दित दिखाई देते है। जिस प्रकार श्वासोच्छ्वास प्राण के अभाव मे व्यक्ति जीवित नही रह सकता, इसी प्रकार अहिसा के प्राण के बिना भी व्यक्ति और समाज जीवित नही रह सकता।

अहिंसा आत्मा का स्वभाव है :

पाश्चात्य सभ्यता की गन्दगी को, बिना विचार और विवेक के, शिरोधार्य करने वाले नासमझ लोग धर्म के विरुद्ध कितना ही विष-वमन क्यों न करे, धर्म आत्मा में एक रस है। वह आत्मा का स्व-भाव है, अतएव आत्मा की तरह ही अमर है, उसकी आदि नही, अन्त भी नही। इसलिए अहिंसा भी अमर है। वह प्राणिमात्र में नैसर्गिक है। घोर से घोर हिसक समझे जाने वाले प्राणी के अन्तरतर में भी अहिंसा के किंचित् सौम्य कण विद्यमान रहते हैं। अगर हम विचार के लोचनों में उसके हृदय के आन्तरिक रूप को देख पाएँ तो वहाँ भी अहिसा भगवती का परम सुन्दर स्वरूप प्रतिष्ठित मिलेगा।

हिस्र जन्तुओं पर विचार करते ही हमारा ध्यान सर्वप्रथम सिह की ओर आकर्षित होता है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार भी 'हिस् धातु के 'सिह' शब्द

१. वृहद् स्वयम्भूस्तोत्र

व्युत्पन्न हुआ है। वास्तव में सिंह अत्यन्त खूँखार जानवर है और उसकी स्मृति ही साधारण मनुष्य के हृदय को प्रकम्पित कर देती है। सामना हो जाने पर तो कहना ही क्या है? बड़े-बड़े शूरवीरों के भी देवता कूच कर जाते हैं और होश-हवास गायब हो जाते हैं। मगर क्या कभी सोचा है आपने कि उस घोर हिंस्र प्राणी के कलेजे में भी करुणा की कोमल मूर्ति विद्यमान रहती है, जो अहिंसा का एक ही रूप है। अगर सिंह में अहिंसा की वृत्ति न होती तो सिंहजाति इस धरातल से कभी की समाप्त हो गई होती। सद्य:प्रसूत सिंह शावक की प्राणरक्षा कौन करता है? तब वह अपनी शक्ति के बल पर जीवित नहीं रहता, वरन् सिंह-सिंहिनी की अहिंसा-करुणा की वृत्ति ही उसके प्राणों का संरक्षण और संपोषण करती है। इसीलिए कहता हूं कि अहिंसा आत्मा का स्वभाव है और जो जिसका स्वभाव है, वह उससे पूरी तरह अलग नहीं हो सकता।

अहिंसा का इतिवृत्त :

अहिंसा का इतिवृत्त क्या है? वह कब इस धराधाम पर अवतरित हुई? किस लोकोत्तर महापुरुष के मस्तिष्क में उसने जन्म लिया? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है और न हो सकता है। पुरातन होने ही से कोई वस्तु उपादेय हो और नूतन होने से हेय हो जाय, यह हेयोपादेय की कोई कसौटी नहीं है। अहिंसा अगर इस युग का आविष्कार होती तो भी अपनी विशिष्टता के कारण वह उपादेय ही होती; मगर ऐसा है नहीं। वस्तुतः अहिंसा सनातन सत्य है और किसी भी काल में उसके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि अनादि काल से अहिंसा का एक ही रूप रहा है और युग के चिन्तन का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में अहिंसा का स्वरूप अत्यन्त विराट् है और वह हमारे सहस्रों रोगों की एकमात्र अमोघ औषध है। इसी अतीत में वह नाना रूपों में मानव-जाति के समक्ष प्रस्तुत हुई है और जब समाज में जिस रोग ने अपना सिर उठाया; उसके एक विशिष्ट रूप ने उसका प्रतिकार किया है।

जैन इतिहास के वेत्ता भलीभाँति जानते हैं कि भगवान अरिष्टनेमि ने, जिनका उल्लेख वेदों में भी मिलता है, किस प्रभावशाली तरीके से हिंसा का प्रतिकार किया था! तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग में जिह्वा-लोलुपता ने अपना आसुरी स्वरूप ग्रहण कर लिया था। वे मांसभक्षी हो गये थे। तब विवाह के ऐन अवसर पर अरिष्टनेमि तोरण से वापिस लौट गये पशुओं की सहानुभूति में। श्रीकृष्ण ने सौ-सौ बार मनुहार की, परन्तु अरिष्टनेमि के उस सत्याग्रह को वे भंग न कर सके। उनके इस त्याग ने क्षत्रियों के नेत्र खोल दिये।

भगवान पार्श्वनाथ ने अपनी कुमारावस्था में नाग जैसे विषधर की भी रक्षा के लिए एक महान् गिने जाने वाले तपस्वी से मोर्चा लिया और अहिंसा की सूक्ष्मता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

भगवान महावीर के युग में हिंसा ने धर्म से नाम पर पुनः सिर उठाया तो भगवान ने शक्ति के साथ उसका सामना किया है और बड़े-बड़े याज्ञिकों को अहिंसा देवी के चरणों मे झुकाया। उनके समय में वैचारिक संघर्ष ने उग्र और भीषण रूप धारण किया था। दार्शनिक विद्वान् विद्यामद से मतवाले होकर परस्पर एक-दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपना गौरव मानते थे और ऐसा करते हुए सत्य की हत्या करने में संकोच नही करते थे। तब त्रिशला-नन्दन ने अनेकान्त के रूप में वैचारिक अहिंसा का मधुर शंखनाद किया और जगत् को एक सन्मार्ग प्रदर्शित किया।

भारत का राजशासन विदेशियों ने हथिया लिया और देश गुलाम बन गया तो गाँधीजी को अहिसा की पुरातन विरासत की स्मृति आई। उन्होंने गुलामी की दीनता जनक व्याधि को दूर करने के लिए अहिंसा की रामबाण औषध का प्रयोग किया। उसका एक नया सामूहिक प्रयोग जनता के सामने आया और वह शान के साथ सफल हुआ।

विनोबाजी ने आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में फैली विषमता की बीमारी पर अहिसा का प्रयोग किया।

अहिंसा और विश्वशान्ति :

अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न युगों में अहिसा हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार की कठिन समस्याओं को सुलझाने का साधन रही है और इसी से उसके नये-नये पहलू जनता के सामने आते रहे है। वास्तव मे अहिसा की उपयोगिता अमर्याद और शक्ति अचिन्त्य है।

इस युग मे विज्ञान के दानव ने जो भयानक हिसा के साधन प्रस्तुत किये है उन्हे देखकर विश्व के विचारशील नेता चिन्तित हो उठे है और अहिसात्मक उपायो से उनके प्रतिकार का विचार और प्रचार कर रहे है। अहिसा के अतिरिक्त विश्वशान्ति का दूसरा कोई उपाय नही हो सकता।

अहिंसा और पशुजगत् :

इतना सब कुछ होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि शासनक्षेत्र मे अहिसा का व्यापक स्वरूप समझा गया है। ऐसा लगता है कि हमारे देश के राजकर्ता अहिसा को मानव-जाति तक ही सीमित रखना चाहते है। मगर यह जगत् मनुष्य-जाति में ही अशेष नही है। बहुत बड़ी दुनिया मानवेतर जीव-धारियो की भी है, जिन्हें हमारी तरह वाणी प्राप्त नही है और जो अपने विराट् संगठन और यूनियन नही बना सकते और चिल्लाहट नही मचा सकते। उन दीन-हीन प्राणियों के प्रति, जो हमारे ही परिवार के अविकसित और अबोध सदस्य है, हमारा क्या कर्तव्य है? जब तक हमारी करुणा की विमल धारा उन तक नही पहुँचती, तब तक अहिसा लगड़ी ही रहेगी और उसमें पूरी

क्षमता नहीं आ सकेगी। अगर हम चाहते है कि एक देश दूसरे देश के प्रति, एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति और एक जाति दूसरी जाति के प्रति अहिंसक व्यवहार करे और मनुष्य का अन्तःकरण हिंसा के दानवी संस्कार से छुटकारा पा ले तो हमें अपने परिवार के उन छोटे सदस्यों के प्रति भी सदय बनना पड़ेगा। जब तक हम मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी दयाशील न होंगे, तब तक हृदय में क्रूरता, कठोरता और हिंसा-भावना बनी रहेगी और जब हृदय में निर्दयता और हिंसाभावना विद्यमान होगी तो उसका प्रयोग मनुष्य, मनुष्य के प्रति भी करने से नहीं चूकेगा। अतएव मनुष्येतर प्राणी, प्राणी होने के नाते भी करुणा के पात्र है और इसलिए भी कि इस प्रकार की करुणा के अभाव में मनुष्य, मनुष्य के प्रति पूरी तरह करुणाशील नहीं बन सकता।

जिसका एक पंख काट दिया गया हो, ऐसे पक्षी से व्योम में उड़ान भरने की आशा नही की जा सकती। एक टांग के बल पर मनुष्य दुरूह पथ पर चल कर अपनी दूर की मंजिल तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार एकांगी अहिंसा भी अपने उद्देश्य को पूरा नही कर सकती—मानव के मन में से हिंसा के संस्कारों का समूल उन्मूलन नही कर सकती।

अहिंसा एक जीवनव्यवहार्य सिद्धान्त है। वह वाणी विलास नहीं है। तथापि यह आशा नही की जा सकती कि प्रत्येक दशा में, प्रत्येक मनुष्य उसका पूर्णरूपेण व्यवहार करेगा। मनुष्य को अहिंसा के पथ पर ही चलना चाहिए और जितना सम्भव हो, अग्रसर होते जाना चाहिए। किन्तु हमारे चलने की एक सीमा है, अतएव अहिंसा को भी हम सीमित कर ले और उसके आगे की अहिंसा को अहिंसा ही न समझें, यह बुद्धिमत्ता नही। शास्त्र कहता है—

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तस्स सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अयरामरं ठाणं ॥

—धर्मसंग्रह

मनुष्य अपने कर्तव्य का, धर्म का या सिद्धान्त का जितना व्यवहार (आचरण) कर सकता हो, करे किन्तु जिस अंश का व्यवहार करना उसकी शक्ति से परे हो, उस पर भी श्रद्धा अवश्य रक्खे, उसे प्राप्य माने और प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न करे। इस प्रकार श्रद्धाशील पुरुष को एक न एक दिन मुक्ति मिल जाती है।

हिंसा क्या है ?

जीवन में अहिंसा का अमल कितनी सीमा में किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में अहिंसा क्या है और हिंसा क्या है ? साधारणतया किसी भी प्राणी को प्राणों से वियुक्त करना हिंसा समझा जाता है; परन्तु हिंसा की यह व्याख्या परिपूर्ण नहीं है।

प्राणों का विनाश होना द्रव्य-हिंसा है, मगर द्रव्यहिंसा तभी हिंसा के पाप में परिगणित होती है, जब वह प्रमाद-कषाय से प्रेरित हो। प्रमाद-कषाय ही वास्तविक हिंसा है और जैनागम उसे भाव-हिंसा कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

यत्खलु कषाययोगात्, प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं, सुनिश्चितता भवति सा हिंसा॥

क्रोध आदि कषायों के योग से किसी भी प्राणी के या अपने निज के प्राणों का व्यपरोपण करना निश्चित रूप से हिंसा है। और—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषानेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

—पुरुषार्थसिद्ध युपाय

जैनागमों में हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत, विशद और गहन मीमांसा की गई है। किसी अन्य धर्म के शास्त्रों में ऐसी मीमांसा नही मिलती इसका कारण यही है कि समग्र जैनाचार का आधार अहिंसा ही है।

कृत्य और अकृत्य की कसौटी :

क्या कृत्य है और क्या अकृत्य है, इसकी प्रमुख कसौटी अहिंसा ही है। सत्य भी धर्म है, अस्तेय भी उपादेय है, ब्रह्मचय भी आराधनीय है, पर यह सब धर्म अहिंसा धर्म की ही शाखाये है। कहा भी है—

आत्मपरिणामहिंसन—हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवल—मुदाहृतं शिष्यबोधाय॥

असत्य भाषण, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—इन सब पापों के आचरण से आत्मा के परिणामों की हिंसा होती है। अतएव भाव-हिंसा के कारण होने से ये सभी पाप हिंसा ही है। तथापि स्फुट रूप से समझाने के लिए और जिज्ञासु जन किसी प्रकार के भ्रम में न पड़ जायें, इस दृष्टि से असत्यभाषण आदि की पृथक् गणना की गई है।

तात्पर्य यह है कि अहिंसा ही सम्यक्चारित्र और पापाचार का मापक दंड है। समस्त कर्तव्यों में अहिसा ही मूर्धन्य कर्तव्य है। अतएव आगमों मे उसके बारीक से बारीक व्याख्या उपलब्ध होना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक व्यक्ति में इतनी योग्यता नहीं हो सकती कि वह अहिंसा विषयक समग्र श्रुत का अध्ययन और मनन कर सके। ऐसे जिज्ञासुओं के लिए आचार्य अमृतचन्द्र अहिंसाविषयक मन्थन का मक्खन प्रस्तुत करते हुए कहते है—जैनागमों में प्रतिपादित हिंसा-अहिंसा का संक्षिप्त सार यही है कि रागादि कलुषित भावों का प्रादुर्भाव न होना अहिंसा है और कलुषित भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है।

हिंसा-अहिंसा का भेद समझ में आ जाता है।

प्राचीन काल में हिंसा के साधन आज की भाँति शक्तिशाली और दूर-दूर तक व्यापक प्रभाव डालने वाले नहीं थे। आज जब ऐसे अगणित साधन निर्मित हो चुके हैं और हिंसा अत्यन्त शक्तिशाली बन गई है, तब उसका प्रतिकार करने के लिए अहिंसा को भी अत्यधिक सक्षम बनाने की आवश्यकता है। इसी कारण अहिंसा के पक्ष में भी जोरदार आवाज उठने लगी है। अहिंसा के भक्तों और अनुयायियों को चाहिए कि अहिंसक वातावरण के निर्माण में पूर्णरूपेण सहयोग दें।

त्याग : त्यागी

कर्म से, धन से अथवा सन्तान से विद्वानों ने अमृत रूप मोक्ष नहीं प्राप्त किया है।

—अज्ञात

छोटी वस्तुओं की अपेक्षा बड़ी वस्तुओं का त्याग है।

—मॉन्टेन

जिस आदमी की त्याग की भावना अपनी जाति के आगे नहीं बढ़ती, वह स्वयं स्वार्थी होता है और अपनी जाति को भी स्वार्थी बनाता है।

—महात्मा गाँधी

त्याग का प्रेम के साथ गहरा संबंध है—ऐसा संबंध है कि यह निश्चय करना कठिन है कि कौन आगे है और कौन पीछे। प्रेम के बिना त्याग नहीं होता और त्याग के बिना प्रेम असम्भव है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है।

—जयशंकर प्रसाद

त्याग के समान कोई सुख नहीं है।

—महात्मा गाँधी

त्याग के सिवा इस संसार में कोई शक्ति नहीं है।

—स्वामी रामतीर्थ

त्याग से पाप का मूलधन चुकता है और दान से पाप का व्याज।

—विनोबा भावे

पतझड़ हुए बिना पेड़ों में फल नही लगते हैं।

—रज्जब जी



अहिंसा के नामों की सार्थकता

☐ अनुयोग प्रवर्तक श्री कन्हैयालजी म. 'कमल'

दसवें अंग आगम 'प्रश्न व्याकरण' के संवर द्वार में प्रथम संवर अहिंसा है । इसमें अहिसा के निम्नलिखित नामों की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है—

१. निर्वाण २, निवृत्ति ३. समाधि ४. शक्ति ५. कीर्ति ६. कान्ति ७. रति ८. विरति ६. श्रुतांग १०. तृप्ति ११. दया १२. विमुक्ति १३. क्षान्ति १४. सम्यक्त्व आराधना १५. महती १६. बोधि १७. बुद्धि १८ धृति १६. समृद्धि २०. ऋद्धि २१. वृद्धि २२. स्थिति २३. पुष्टि २४. नन्दा २५. भद्रा २६. विशुद्धि २७. लब्धि २८. विशिष्ट दृष्टि २६. कल्याण ३०. मंगल ३१. प्रमोद ३२. विभूति ३३. रक्षा ३४. सिद्धावास ३५. अनाश्रव ३६. केवलिस्थान ३७. शिव ३८. समिति ३६. शील ४०. संयम ४१. शील परिग्रह ४२. संवर ४३. गुप्ति ४४. व्यवसाय ४५. उन्नति ४६. यज्ञ ४७. आयतन ४८. यजन ४६. अप्रभाव ५०, आश्वासन ५१. विश्वास ५२. अभय ५३. अमारि ५४. चोंक्ख ५५. पवित्र ५६. शुचि ५७. पूजा ५८. विमला ५६ प्रभासा ६०. निर्मला ।

१. **निर्वाण** :—जिस साधक के मन से कामदेव के पांचों काम-बाण निकल गये है, वह निर्वाण है । कामदेव का जन्म मन से होता है, इसलिए कामदेव को मनसिज कहा जाता है अथवा कामदेव मन को मथने वाला है, इसलिए मन्मथ कहा जाता है । कामदेव के पांच बाण प्रसिद्ध हैं :—

उन्मादन स्तापनश्च, शोषण स्तम्मन स्तथा ।
समोहनश्चकामस्य, पंच बाणा प्रकीर्तिता ।।

जहां उन्माद नही है, वहां अहिसा है, जहां ताप (संताप परिताप) नहीं है, वहाँ अहिसा है, जहाँ शोषण नही है, वहां अहिंसा है, जहां स्तम्भन नही है, वहॉ अहिसा है, जहां संमोहन नही है वहा अहिसा है । ये पांचों बाण जिसके मन से निकल गये हैं वहां निर्वाण है—अतएव निर्वाण अहिसा है ।

१. **निर्वाण**—वात (वायु) रहित स्थिति निर्वाण है । जहां वायु जैसी चंचलता नही है अर्थात् स्थिरता है वहां अहिसा है ।

२. **निवृत्ति**—वृत्तियाॅ तीन प्रकार की है—१. कृषि २. पशुपालन और ३. वाणिज्य । जीवन-निर्वाह के लिए किए जाने वाले कार्य वृत्ति कहे जाते है । उक्त तीन वृत्तियो से जहाॅ निवृत्ति है वहाॅ अहिसा है ।

३. **समाधि** :—सम भाव की प्राप्ति समाधि है। जहाँ समत्व की भावना है वहाँ अहिंसा है अथवा आधि-मन की व्यथा जहाँ समत्व से समाप्त हो गई है वहाँ समाधि अहिंसा है।

४. **शक्ति** :—शक्ति दो प्रकार की है—१. शारीरिक शक्ति और २. आध्यात्मिक शक्ति। शारीरिक शक्ति पाशविक शक्ति है। आध्यात्मिक शक्ति अहिंसा है।

५. **कीर्ति** :—अहिंसा परम—उत्कृष्ट धर्म है, अतः अहिंसक की कीर्ति सर्वत्र होती है।

६. **कान्ति** :—क अन्ति कान्ति अर्थात् कष्टों का अन्त होना, कान्ति है। कष्टों वाले व्यक्ति का मुँह म्लान रहता है और कष्ट रहित व्यक्ति का मुँह कान्ति युक्त होता है। जहाँ कष्ट नही है वहाँ अहिंसा है।

७. **रति** :—र से रज ति—तितिक्षा। रज की तितिक्षा रति है। रज से यहाँ कर्म-रज ग्रहण करे। कर्म-रज के त्याग की इच्छा ही अहिंसा है। पापे रतिं मा कुथा।

८ **विरति** :—विगता रति, विरति। रति—मैथुन का पर्यायवाची है। मैथुन से निवृत्ति अहिंसा है।

९. **श्रुतांग** :—श्रुत आगम में प्रतिपादित संवर का एक अंग अहिंसा है।

१०. **तृप्ति** :—'तृ' से तृष्णा समाप्ति। यहाँ अंतिम अक्षर लेकर शब्द रचना की गई है। तृष्णा की समाप्ति ही तृप्ति है। अतएव तृप्ति अहिंसा है।

११. **दया** :—'द' से दर्द 'या' से याद। अपने दर्द को याद रखकर दूसरे के दर्द को समझना ही दया है। अतएव दया अहिंसा है।

१२. **विमुक्ति** :—'वि' विशिष्ट मुक्ति विमुक्ति अर्थात् सर्वथा मुक्ति, बन्धन से मुक्त करना अहिंसा है। बन्धन दो प्रकार के है—१. द्रव्य बन्धन, २. भाव बन्धन। अहिंसा का आराधक इन दोनों बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

१३. **क्षान्ति** :—'क्ष अन्ति क्षान्ति' 'क्ष' से क्षत—दुःख, भय, खतरा आदि का अन्त होना क्षान्ति है, अतएव क्षान्ति अहिंसा है।

१४. **सम्यकत्व** :—आराधना—जहाँ सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना है वहाँ अहिंसा है।

१५. **महती** :—अहिंसा मन की चंचलता को हत करने वाली है अर्थात् अहिंसा चंचलता को समाप्त करके मन को स्थिर करने वाली है।

१६. **बोधि** :—आत्मबोध होना अहिंसा है। अनन्तकाल से यह आत्मा आत्मबोध से रहित रहा है अतः संसार में भव-भ्रमण करता रहा है।

१७. **बुद्धि** :—बुराई को जानने का ज्ञान बुद्धि है । दूसरे की बुराई को तो हर कोई जान लेता है पर अपनी बुराई को जानने वाले बहुत कम हैं, बुद्धि से अपनी बुराई को जानना और उससे बचना अहिंसा है।

१८. **धृति** :—धृष्टता की इति अर्थात् समाप्ति धृति है । 'धृ' धृष्टता इति । यहाँ अन्तिम अक्षर से शब्द रचना की गई है। जो अहिंसा की साधना करता है बह धृति वाला होता है। जो धृति रहित होता है वह अहिंसा की आराधना नहीं कर सकता है।

१६. **समृद्धि** :—समभाव की ऋद्धि समृद्धि है । सच्ची समृद्धि अहिंसा है।

२०. **ऋद्धि** :—'ऋ' ऋजुता—सरलता की 'ध' ऋद्धि है । जहाँ हार्दिक सरलता है वहां अहिसा है।

२१. **वृद्धि** :—बृध विस्तृत—धि ज्ञान, विशाल धि—वृद्धि ।जहाँ वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना है वहाँ अहिंसा है।

२२. **स्थिति** :—स्थिरता की इति पूर्णता अर्थात् पूर्ण स्थिरता अहिसा है।

२३. **पुष्टि** :—'पु' पुण्य, पवित्र 'इष्टि' इच्छा-पुष्टि । पवित्र इच्छा अहिसा है।

२४. **नन्दा** :—आनन्द की आप्ति-प्राप्ति नन्दा है, अतएव नन्दा अहिसा है।

२५. **भद्रा** :—भद्र—कल्याण आप्ति-प्राप्ति भद्रा। प्राणी मात्र के कल्याण की कामना भद्रा है, अतएव भद्रा अहिसा है।

२६. **विशुद्धि** :—'विशिष्टा शुद्धि विशुद्धि।' शुद्धि दो प्रकार की है—१. शरीर-शुद्धि २. आत्म-शुद्धि। शरीर की शुद्धि करने वाले अनेक हैं। आत्म-शुद्धि करने वाले विरले है। शरीर-शुद्धि और आत्म-शुद्धि करने वाले अत्यल्प है, अतएव विशुद्धि अहिंसा है।

२७. **लब्धि** :—लाभ की 'धि' लब्धि है । लाभ दो प्रकार के हैं—१. लौकिक लाभ, २. लोकोत्तर लाभ । ये दोनों प्रकार के लाभ अहिंसा से प्राप्त होते है, अतएव लब्धि अहिंसा है।

२८. **विशिष्ट दृष्टि** :—दृष्टियां दो प्रकार की हैं—१. सामान्य दृष्टि २. विशिष्ट दृष्टि । सामान्य दृष्टि वाले अनेक है। विशिष्ट दृष्टि वाले विरले है। अथवा दृष्टियां दो प्रकार की है, १. सम्यग्दृष्टि २. मिथ्यादृष्टि । मिथ्यादृष्टि वाले तो अनेक है। सम्यग्दृष्टि वाले विरले हैं। सम्यग्दृष्टि ही विशिष्ट है। जहाँ सम्यग्दृष्टि है वहां अहिंसा है।

२६. **कल्याण** :—'सर्वे भवन्तु सुखिनः' यह प्राणीमात्र के कल्याण की कामना अहिंसा है। 'कल्ये प्राप्त अण्येते शब्धते इति कल्याणं' कल्य प्रातःकाल का पर्यायवाची है।

३०. **मंगल** :—'मं दुःखं गलति इति मंगल' दुखों का गल जाना, नष्ट हो जाना मंगल है, अतएव मंगल अहिंसा है।

३१. **प्रमोद** :—अहिंसा से प्रसन्नता होती है। अथवा प्रवल मोह का दमन अहिंसा है। आठ कर्मों में से सबसे प्रवल मोहनीय कर्म है, उसका दमन अहिंसा से होता है।

३२. **विभूति** :—'विशिष्ट भूति विभूति' यहां भूति ऐश्वर्य का सूचक है। विशिष्ट ऐश्वर्य की इति—पूर्णता अहिंसा से होती है।

३३. **रक्षा** :—'र' रहता है 'क्षा' क्षायक भाव। क्षायक भाव का रहना अहिंसा है। सब भावों में क्षायक भाव सर्वोत्तम भाव है। कर्मों का क्षय क्षायक भाव से होता है। इसलिए अहिंसा क्षायक भाव है।

३४. **सिद्धावास** :—सिद्धत्व का आवास अहिंसा मे है।

३५. **अनाश्रव** :—कर्मो का आना आश्रव है। अहिंसा से कर्मो का आना अवरुद्ध होता है अतः अहिंसा अनाश्रव है।

३६. **केवलिस्थान** :—कैवल्य की प्राप्ति अहिंसा से होती है, इसलिए अहिंसा केवलिस्थान है।

३७. **शिव** :—'शि' शिक्षण 'व' वर श्रेष्ठ है, अहिंसा का शिक्षणसर्वश्रेष्ठ है इसलिए अहिंसा शिव है।

३८. **समिति** :—विवेकपूर्वक चलना, वोलना आदि पांचों समितियां अहिंसा के विधेयात्मक रूप है इसलिए अहिसा समिति है।

३९. **शील** :—'शी' शीर्ष स्थान—'ल' लब्ध प्राप्त। 'अहिसा परमोधर्म।' इस सूक्त से सब धर्मो में अहिंसा को शीर्ष स्थान—सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, इसलिए अहिसा शील है।

४०. **संयम** :—इन्द्रियों का और मन का नियमन संयम है। सयमी ही अहिसा का साधक होता है, इसलिए संयम अहिंसा है।

४१. **शील परिग्रह** :—यहाँ शील स्वभाव का सूचक है। शील का परिग्रह ग्रहण करना अर्थात् स्वभाव का ग्रहण करना शील परिग्रह है। अहिसा आत्म-स्वभाव है उसको ग्रहण करना ही शील परिग्रह है।

४२. **संवर** :—'स' समभाव 'वर' श्रेष्ठ। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ समभाव है अतएव संवर अहिंसा है।

४३. **गुप्ति** :—'गु' गुणों की प्राप्ति अर्थात् आत्म-गुणों की प्राप्ति गुप्ति है। सभी आत्म-गुण अहिंसा में समाविष्ट है अतएव अहिंसा गुप्ति है।

४४. **व्यवसाय** :—व्यवसाय दो प्रकार के होते हैं—१. लौकिक व्यवसाय २. लोकोत्तर व्यवसाय। अहिंसा लोकोत्तर व्यवसाय है।

४५. **उन्नति** :—यहाँ उन्नति अभ्युदय का सूचक है, उन्नति दो प्रकार की है—१. लौकिक उन्नति २. लोकोत्तर उन्नति। अहिंसा की साधना मे सफल होना लोकोत्तर उन्नति है।

४६. **यज्ञ** :—अहिंसा आत्मयज्ञ है। सभी यज्ञों से अहिंसा की आराधना श्रेष्ठ होती है इसलिए अहिंसा यज्ञ भी है।

४७. **आयतन** :—आत्म-स्वरूप में स्थित होने के लिए अहिंसा एक सर्वोत्तम आयतन है।

४८. **यजन** :—कर्मो का यजन करने के लिए अहिंसा पवित्र यजन है।

४९. **अप्रमाद** :—सावधानी से चलना, बैठना आदि सभी क्रियायें करना अहिंसा की आराधना है, अतएव अप्रमाद अहिंसा है।

५०. **आश्वासन** :—भयभीत को आश्वासन देना अहिंसा की सर्वश्रेष्ठ आराधना है।

५१. **विश्वास** :—'वि'–विद्यमान 'श्वास' विश्वास। जब तक श्वास है तब तक अर्थात् जीव-पर्यन्त मै तुम्हें धोखा नही दूंगा, विश्वासघात नहीं करूंगा, मैं तुम्हे यावज्जीवन समय-समय पर उचित एवं आवश्यक सहयोग देता रहूंगा, इस प्रकार का विश्वास देना अहिंसा है।

५२. **अभय** :—किसी भयभीत को भय न होने देना अहिंसा है। मेरे से या अन्य किसी से तुझे किसी प्रकार का भय न होने दूंगा, इस प्रकार अभय का आश्वासन देना अहिंसा है।

५३. **अमारि** :—महामारी से बचाना अमारि है अथवा अकाल मृत्यु से बचाना अमारि है।

५४. **चोखा** :—चारों ओर से क्षालन करना अर्थात् स्वच्छ करना। स्वच्छता दो प्रकार की है—१. द्रव्य स्वच्छता २. भाव स्वच्छता। निर्मल विचार भाव स्वच्छता है। अहिंसा से आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर स्वच्छ बनती है।

५५. **पवित्रता** :—यहां पवित्रता निष्पाप जीवन का सूचक है। पवित्रता दो प्रकार की है—द्रव्य पवित्रता २. भाव पवित्रता।

५६. **शुचि** :—'शु' शुद्धि 'चि' चित्त शुद्ध चित्त होना शुचि है। शुचि दो प्रकार की है—१. शारीरिक शुचि २. मानसिक शुचि। अहिंसा की साधना मानसिक शुचि वाला ही कर सकता है।

५७. **पूजा** :—'पू' पूर्ण हो जाना। अहिंसा से आत्म-शुद्धि पूर्ण हो जाती है।

५८. **विमला** :—'वि' विगत 'मला' विमला। मल दो प्रकार के है—१. शारीरिक मल २. मानसिक मल अथवा १. द्रव्यमल २. भावमल। दोनों प्रकार के मलों से मुक्त होने की सफल साधना अहिंसा से होती है।

५९. **प्रभासा** :—प्रभात सादृशी प्रभासा। अहिंसा प्रभात जैसी भावस्वर आभा वाली है।

६०. **निर्मलतरा** :—अहिंसा निर्मलतरा है। आत्मा को कर्म मल से सर्वथा मुक्त करने वाली अहिंसा है।

अहिंसा के इन साठ नामों की अति संक्षिप्त व्याख्या शब्द नय का अनुसरण करके की गई है। प्रत्येक शब्द के अर्थ उसकी मूल भावना के अनुरूप यहां दिए गए हैं। आगमज्ञ पाठक कहीं कुछ संशोधन करने के लिए सूचित करेंगे तो मैं उनकी सूचनायें हृदय से स्वीकार करने की भावना रखता हूं।

सूक्तियाँ

क्या बकरी क्या गाय है, क्या अपनो जाया।
सबको लोहू एक है, साहिब फरमाया॥
पीर पैगम्बर औलिया, सब मरने आया।
नाहक जीव न मारिये, पोपन को काया॥

साहब का कहना है कि सब प्राणियों का खून एक है, चाहे वह बकरी हो, गाय हो या अपनी सन्तान हो। पीर पैगम्बर और औलिया—सब एक न एक दिन मर जायेंगे। इसलिए अपने शरीर का पालन करने के लिए जीव को व्यर्थ मत मारिये।

—गुरु नानकदेव

अहिंसा प्रचण्ड शास्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है, वह भीरु से दूर भागती है। वह वीर पुरुष की शोभा है, उसका सर्वस्व है। वह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ है। वह चेतन है। वह आत्मा का विशेष गुण है।

—महात्मा गाँधी

अनेकों को जो एक रखती है, भेदों मे से अभेद ढूंढती है, वह अहिंसा है।

—विनोबा भावे



अहिंसा और निर्भयता

□ पं. र. श्री विनयचन्दजी म. सा.

जल अग्नि को शान्त कर सकता है, लेकिन वह उसी अवस्था में कर सकता है जबकि उसका खुलकर प्रयोग किया जाय। वन में दावानल लगी हो और उस पर किसी ने एक घड़ा पानी लाकर छिड़क दिया तो क्या वह बुझ जायेगी ? कदापि नहीं। यही बात अहिंसा के विषय में भी है। जीवन में तो अहिंसा का बूंदभर भी उपयोग नहीं करते है और चाहते है कि देशभर में घृणा और द्वेष का दावानल बुझ जाय तो यह कैसे सम्भव हो सकता है ? अग्नि शान्त करने के लिए पानी का अप्रतिबद्ध तीव्र प्रहार करने की आवश्यकता है। वैसे ही अहिंसा की भी जीवन में अजस्र धारा प्रवाहित करने की आवश्यकता है। अगर यह धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहेगी तो दुनिया में प्रदीप्त विद्वेष की लपटे सदा के लिए बुझती चली जायेगी। अहिंसा धर्म का प्राण है। प्राण रहित शरीर मे जिस प्रकार कीड़े पड़ जाते है और कुत्ते और कौवे नोचने लग जाते है। वैसे ही अहिंसा रहित धर्म भी मुर्दे के समान है, उससे समाज में सड़न पैदा हो जाती है।

अहिंसा और कायरता :

कुछ लोग अहिसा को कायरों का धर्म समझते हैं और उसे इसी सम्बोधन से पुकारते भी है। लेकिन उनका ऐसा मानना ठीक नही है। अहिसा कायरों का नहीं, वीरों का धर्म है। किसी दूसरों पर आक्रमण कर देना सरल है किन्तु दूसरों के आक्रमण को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेना ही सबसे वडी कठिन साधना है। माता कभी-कभी अपने बच्चे के हाथ की मार भी खाती है और ऊपर से उसे पुचकारती भी जाती है। यदि उसे माता की कायरता समझी जायगी तो फिर मातृ-प्रेम किसे कहा जायगा ? प्रेम में वह सहनशीलता न हो तो वह प्रेम फिर कहाँ रहा ? अत: अहिसा कायरों का नही, वीरों का धर्म है। अहिसा और कायरता में जमीन-आसमान का अन्तर है। अहिसा धर्म है तो कायरता पाप है। अहिंसा सम्यक्त्व है तो कायरता मिथ्यात्व है। अहिसा विश्व का शृंगार है तो कायरता एक प्रकार की कोढ़ है।

अहिंसा के सिद्धान्त पर जिसकी पूर्ण श्रद्धा है, वह भय को भी जीत लेता है। जो किसी के डर से या भय से हिंसा नहीं करता है वह मानसिक हिसा का शिकार कहा गया है। चूहा विल्ली के प्रति अहिसक है ऐसा नहीं कहा जा सकता; किन्तु वह निर्बल होने के कारण उस पर आक्रमण नहीं कर पाता है, यही उसकी कायरता है। जहाँ कायरता है वहाँ भले ही द्रव्य हिसा नहीं किन्तु भाव हिसा तो हो ही जाती है।

अहिंसा को समझने के लिए हिंसा के चार भेद समझ लेना आवश्यक है—

१. संकल्पिनी हिंसा—दूसरों का अहित सोचना।

२. उद्योगिक हिंसा—जीवन-निर्वाह के लिये १५ कर्मादान से होने वाली हिंसा।

३. आरम्भी हिंसा—पाक क्रिया (भोजनादि) से होने वाली हिंसा।

४. विरोधिनी हिंसा—अपने या पर (स्व-पर) की रक्षा के लिये की गई हिंसा।

गृहस्थों के लिए प्रथम हिंसा सर्वथा त्याज्य है। दूसरी हिंसा के लिए 'यत्नाचार' की आवश्यकता है। यत्नाचार को समझने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है।

अनहिलपुर के राजा पर मौका देखकर दूसरें राजा ने चढ़ाई कर दी। महाराजा बाहर गये हुए थे। महारानी ने मंत्री और राज्य कर्मचारियों से विचार-विनिमय किया और अपनी सेना भी शत्रु सेना के मुकाबले में खड़ी कर दी। मत्री जैन था, उसने चींटी की विराधना हो जाने से "मिच्छामि दुक्कड़म्" दिया। यह सुनकर एक सैनिक महारानी के पास पहुंचा और बोला—मंत्री तो चींटी मारने से भी डरता है तो वह सारा युद्ध कैसे कर सकेगा? दूसरे दिन मंत्री ने समय देखकर शत्रु सेना के पड़ाव में आग लगवा दी। हजारों सैनिक अपनी जान बचाने के लिये इधर-उधर भागने लगे। रानी ने यह सारा दृश्य देखा—तभी उसने मंत्री से पूछा—कल तो तुम एक चीटी के मर जाने से घबरा रहे थे। पर आज यह नर संहार कराते हुए तुम्हें वैसा क्यों नही हो रहा है? मंत्री ने उत्तर दिया—"जैन कभी भी अपनी ओर से प्रथम आक्रमण नही करता है, लेकिन कोई उस पर आक्रमण करता है तो वह उसका प्रतिकार अवश्य करता है। वह एक प्राणी की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व देने के लिये त्याग कर सकता है परन्तु अन्याय का मुकाबला करते समय उसको अपनी जान भी देना पड़े तो वह खुशी-खुशी उसके लिए सदा तैयार रहता है।" इससे आप यह भलीभांति समझ सकते है कि अहिंसा वीरो का धर्म है, कायरों का नही।

धर्म का सार :

हजारों नही लाखों वर्ष पहले भी पाँच और चार (५+४=९) नौ ही होते थे। किसी ने भी (५+४=९ किन्तु १० नही) पाँच और चार को दस नहीं कहा। कोई १० कह दे तो आप उसे क्या कहेंगे? गणित का सिद्धान्त सदा एक-सा ही रहता है। उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नही होता। आँख से देखना, कान से सुनना और जिह्वा से स्वाद का लेना यह प्रवृत्ति तीनों कालों मे एक-सी ही रहती है। आम की गुठली से आम, नीबू के बीज से नीबू,

गेहूं के बीज से गेहूं और जामुन के बीज से जामुन ही पैदा होगें, दूसरा और कुछ भी पैदा नहीं हो सकता । इसी प्रकार धर्म भी हमेशा अहिंसा में ही रहेगा ।

हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चिन कोई भी क्यों न हो, २ और २=४ ही कहेंगे । गणित शास्त्र में किसी भी जाति या धर्म वाले का मतभेद नहीं होता, इसी प्रकार अहिंसा के बारे में भी सभी समान आदरभाव रखते हैं ।

ग्रीस में 'जेनो' नामक एक ऐसा तत्ववेत्ता हो गया है जो अपने शरीर में कीड़े पड़ जाने पर भी उनके मर जाने के भय से कभी उन्हें बाहर नहीं निकालता था । कदाचित् वे स्वयं नीचे गिर जाते तो उन्हें वापस उठाकर उसी स्थान पर रख देता था । इसी तरह के उदाहरण आपको मुसलमान आदि सभी धर्मग्रथों और साहित्यों में मिल सकते है । अतः किसी न किसी रूप में प्रत्येक धर्म ने अहिंसा को माना ही है ।

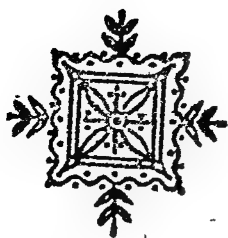
अहिंसा में परस्पर विरोधी शक्तियों के वैरभाव को दूर करने का सामर्थ्य रहा हुआ है । सिंह-बकरी, चूहा-बिल्ली, बिल्ली-कुत्ता, सर्प-नेवला ये स्वभाव से एक दूसरे के विरोधी है किन्तु अहिंसा के सम्मुख ये दोनों निःवैर और आराम की नींद लेते है । उनका जन्मजात वैर भी मिट जाता है । यह अहिंसक परमाणुओ का ही असर होता है । अहिंसक बनकर ही मनुष्य निर्भयता से जी सकता है ।

महात्मा गांधी के शब्दों में "हिंसा मृत्यु का कारण है तो अहिंसा जीवन का । हिंसा पशुबल है तो अहिंसा मनुष्य का बल है । हिंसा आसुरी शक्ति है तो अहिंसा दैविक शक्ति है ।" मनुष्य यदि पूर्ण रूप से अहिंसक बन जाय तो वह शस्त्रधारी सेना की अपेक्षा दूसरे की रक्षा करने में अधिक शक्तिशाली साबित हो सकता है । पूर्ण अहिंसक बनने के लिए दृढ़ श्रद्धा का होना अनिवार्य है । अहिंसा की शक्ति इतनी मंगलमय है कि जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी समान भाव से ले सकते हैं । यदि जीवन में सच्ची अहिंसा आ जाय तो राज्य में पुलिस, कोर्ट, कचहरी जैसी नियमों का पालन करवाने वाली संस्थाओं की जरा भी आवश्यकता नही रहे । अहिंसा भारतीय संस्कृति का जीवन-भूत तत्त्व है । जैन धर्म की ख्याति भी मुख्यतः अहिंसा से ही है । 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में—अहिंसा को भगवती कहा गया है—

"एस सा भगवती अहिंसा जा सा भियाणं वीवसरणं"

कि यह भगवती अहिंसा भयभीत जीवों को भी शरण प्रदान करने वाली है ।

□□□



अहिंसा : स्वरूप और चिन्तन

□ श्री रमेश मुनि शास्त्री

अहिंसा एक परम धर्म है। यह जैन आचार-संहिता के लिये प्राणवत् है। जैनाचार का अतीव विशाल व सुरम्य प्रासाद अहिंसा की सुदृढ नीव पर ही अत्यधिक आश्वस्तता के साथ आधारित है। अहिंसा मानव की शान्ति और सुख की जननी है। मानव और दानव मे अन्तर ही हिंसा और अहिंसा का है। मानव ज्यो-ज्यों हिंसक वनता जाता है, वह त्यों-त्यों दानवता के समीप होता चला जाता है और दानव ज्यो-ज्यो हिंसा का त्याग करता जाता है, यथार्थ मानवता के अत्युच्च गौरव से विभूपित होता चलता है। अहिंसा का सिद्धान्त वस्तुतः अतीव व्यापक व प्रभावकारी है। अहिंसक मानव मे स्वतः ही अनेकानेक सद्गुण विकसित होते चले जाते है और उसके भीतर की मानवीयता विशेष रूप से पुष्ट होती चली जाती है। वास्तविकता यह है कि अहिंसा सिद्धान्त की विराट् भूमिका मानव के मानस को ऐसा विस्तार प्रदान करती है कि वह सहज ही सृष्टि के समस्त प्राणियो को आत्मवत् स्वीकार करने लगता है, वह प्राणीमात्र का परम हितैषी हो जाता है और किसी की हानि करने की परिकल्पना से भी वह दूर, वहुत दूर हो जाता है।

यह 'सर्वप्राणातिपातविरति' की ऐसी अतीव विशिष्ट प्रतिज्ञा है जो मानव को अहिंसा महाव्रती और जीव मात्र का रक्षक वना देती है। वह किसी की भी हिंसा नही करने का संकल्प धारण करता है और उसका दृढ़ता के साथ पालन करता है। परिणामतः वह न केवल अन्य जनो की सुख-सृष्टि मे योगदान करता है, अपितु स्वयं अपने लिये भी अलौकिक सुख की संरचना कर लेता है। उसकी अन्तरात्मा राग, द्वेप, सर्व कलमप और दुर्भावो की दुरभि सन्धि से मुक्त होकर विशुद्ध एव प्रशान्त रहती है, आत्मतोष के अगाध सागर में निमग्न रहती है। अहिंसा धर्म के आराधक साधक के लिये यह एक संयम है और यही अन्य जन के लिये दया और रक्षा का विशेप भाव है। इसी भाव-श्लेप के कारण 'रक्षादया सर्वभूत क्षेमकारी' का प्रयोग अहिंसा के पर्याय रूप मे हुआ है। अहिंसा आत्मनिष्ठ है, आत्मा से उपजती है और समानता की सद्भावना से परिपुष्ट होती है। हिंसा की भावना से निवृत्त होने के पीछे अपने अनिष्ट की आशका विशेप रूप से काम करती है।

यह समूचा पृथ्वी-ग्रह नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं का एक अद्भुत समुच्चय है। विभिन्न रंग-रूप, आकार-आकृति, गुण-धर्मादि के धारक होने के कारण ये समस्त प्राणी वैभिन्न्ययुक्त एवं अनेक वर्गो में विभाजित हैं। बाह्य और प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर यह वैभिन्य स्वीकार करना ही पड़ता है, किन्तु यह एक अति स्थूल सत्य है। इसके अतिरिक्त एक अति सूक्ष्म सत्य और भी है, वह यह कि विभिन्न प्राणी वर्गो के घोर असाम्य के समानान्तर रूप में एक अमिट साम्य भी है। सभी प्राणी सचेतन है। सभी में आत्मा का निवास है। यह आत्मा सभी में एक-सी है। उदाहरणार्थ—मानव अन्य प्राणियों की अपेक्षा कई गुना अधिक सशक्त और विवेकशील है तथापि आत्मा की दृष्टि से उसका स्थान भी अन्य प्राणियों के समकक्ष ही है। मानव की अन्य कोई श्रेणी नहीं है। सचेतनता का धर्म मनुष्य का भी और अन्य प्राणियो का भी है। यह चैतन्य जीव वर्ण में ऐसा परिव्याप्त है कि इसी आधार पर जीवों को शेष अजीवों से पृथक् करके पहचाना जा सकता है। सुख-दुःख आदि की अनुभूति चैतन्य का ही परिणाम है। ये अनुभूतियाँ प्राणियों के लिए ही है, निर्जीव जड़-पदार्थो के लिये नही, क्योकि वे चेतना-शून्य होते है, ज्ञान-विहीन होते है।

समस्त चेतन जीव दुःख से बचना चाहते हैं और सुखमय जीवन की कामना करते हैं। सुख प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक लक्ष्य होता है और सुख-प्राप्ति के मार्ग में आगत बाधक परिस्थितियाँ दुःखानुभव का कारण बनती हैं। यह सत्य है कि आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं, चेतनतावश सभी को सुख-दुःख का अनुभव होता है। इस सम्बन्ध में मनुष्य और इतर जीवों में भेद नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सभी आत्माएँ सुखकामी और दुःखद्वेषो होती है। सुखाकाक्षा आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, सभी आत्माएँ सुख चाहती है। समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझना चाहिये। किसी के लिये ऐसा कार्य मत करो, जो तुम्हारे लिये कष्टकारी हो। दूसरो से तुम जैसा व्यवहार अपने लिये चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम भी दूसरों के साथ करो। जिस दिन तुम अपनी और दूसरो की आत्मा के मध्य भेद को विस्मृत कर दोगे, उसी दिन अहिसा की साधना भी सफल हो जायेगी। अपने प्राणो की सुरक्षा चाहने वालो का परम कर्तव्य यही है कि वे दूसरों के जीवन-रक्षा सम्बन्धो अधिकार को भी मान्यता दे। अहिसक व्यक्ति का उपदेश मात्र वाचिक नही होता, उसका समग्र जीवन ही अहिंसामय होता है। सर्व प्रकार से सर्व कालों में सर्व प्राणियो के साथ अभिद्रोह न करना 'अहिसा' है। विराट् भाव ही अहिसा का मूलाधार है। इसमें आत्मा-आत्मा में ऐक्य और अभेद की स्थिति रहती है। प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव, सभी के प्रति हितैषिता एव बन्धुता का भाव, सभी के साथ सह-अस्तित्व की स्वीकृति ही किसी को अहिसक बना सकती है।

अहिंसा के गुणनिष्पन्न ६० नाम हैं। संक्षेप में उनका स्वरूप इस प्रकार है :—

१. **निर्वाण** —मोक्ष प्रदाता होने से इसे निर्वाण कहा गया है।
२. **निवृत्ति**—समस्त पापों और समस्त दु:खों से निवृत्त कर शान्ति और सुख प्रदाता है।
३ **समाधि** —चित्त को शान्ति देने वाली।
४. **शक्ति**—मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करने वाली।
५. **कीर्ति** —यश:प्राप्ति करने वाली।
६ **कान्ति**—दीप्ति, तेज, सौन्दर्य बढ़ाने वाली।
७. **रति**—मन को प्रसन्नता देने वाली।
८. **विरति**—पापों से हटाने वाली।
९. **श्रुतांग**—श्रुत ज्ञान से उत्पन्न।
१०. **तृप्ति**—संतोष देने वाली।
११. **दया**—अनुकम्पा करने वाली।
१२. **विमुक्ति**—कर्म-बन्धन से छुड़ाने वाली।
१३. **क्षान्ति**—क्रोध का निग्रह करने वाली।
१४. **सम्यक्त्वाराधना**—सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म की आराधना कराने वाली।
१५. **महंती**—सभी व्रतो मे महत्त्व रखने वाली।
१६. **बोधि**—सम्यक्त्व प्रदान करने वाली।
१७. **बुद्धि**—निर्मल बुद्धि रूप।
१८. **धृति**—धैर्य युक्त।
१९. **समृद्धि**—समस्त प्रकार की सम्पन्नता से युक्त।
२०. **ऋद्धि**—आन्तरिक लक्ष्मी प्राप्त करने का कारण।
२१. **वृद्धि**—पुण्य प्रवृत्ति सम्पादन कर सुख-सामग्री बढ़ाने वाली।
२२. **स्थिति**—स्थायी निवास देने वाली।
२३. **पुष्टि**—पुण्य-संचय रूप पुष्टि देने वाली।
२४. **नन्दा**—स्व-पर को आनन्द देने वाली।
२५. **भद्रा**—स्व-पर का कल्याण करने वाली।
२६. **विशुद्धि**—पाप-मल को दूर कर आत्मा को निर्मल बनाने वाली।
२७. **लब्धि**—अनेक प्रकार की लब्धियाँ देने वाली।
२८. **विशिष्ट दृष्टि**—जिनेश्वर-प्रणीत स्याद्वादमय दृष्टि देने वाली।
२९. **कल्याण**—आत्मा को आरोग्य देने वाली।
३०. **मंगल**—अनिष्ट को मिटाने वाली या पाप को गलाने वाली।
३१. **प्रमोदा**—हर्ष उत्पन्न करने वाली।

३२. **विभूति**—सभी प्रकार के ऐश्वर्य देने वाली
३३. **रक्षा**—जीवों की रक्षा करने वाली।
३४. **सिद्धावास**—मोक्ष का शाश्वत स्थान देने वाली।
३५. **अनाश्रव**—आश्रव को रोकने वाली।
३६. **केवली स्थान**—केवल ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य आधार।
३७. **शिव**—उपद्रव रहित, स्थायी शान्ति देने वाली।
३८. **समिति**—निर्दोष प्रवृत्ति कराने वाली।
३९. **शील**—सदाचार रूपा।
४०. **संयम**—हिंसा से सर्वथा निवृत्ति या इन्द्रिय-दमन रूप।
४१. **शील-परिग्रह**—शुद्ध चारित्र रूप सदाचार का घर।
४२. **संवर**—कर्मों के आगमन को रोकने वाली।
४३. **गुप्ति**—मन, वचन, काया के अशुभ-व्यापार को रोकने वाली।
४४. **व्यवसाय**—शुभ अध्यवसाय रूप।
४५. **उच्छ्रय**—शुद्ध भावों में वृद्धि करने वाली।
४६. **यज्ञा**—भाव पूजा रूप।
४७. **आयतन**—गुणों का घर।
४८. **यजना**—अभय दान देने वाली, यतना-विवेक प्रदान करने वाली।
४९. **अप्रमाद**—प्रमाद को हटाने वाली।
५०. **आश्वासन**—कष्ट मे धैर्य देने वाली।
५१. **विश्वास**—विश्वास देने वाली।
५२. **अभय**—सब को निर्भय बनाने वाली।
५३. **आमाघात**—सभी प्राणियों के घात का निवारण करने वाली।
५४. **चोक्षा**—हृदय को स्वच्छ बनाने वाली।
५५. **पवित्रा**—हृदय को विशुद्ध बनाने वाली।
५६. **शुचि**—हिंसादि मलिन भावो से रहित कर हृदय शुद्ध बनाने वाली।
५७. **पूता**—पवित्र करने वाली, पूजा—देव पूजा रूप।
५८. **विमला**—विशेष रूप से मल-रहित करने वाली।
५९. **प्रभासा**—प्रकाश देने वाली, तेजयुक्त बनाने वाली।
६०. **निर्मलतर**—जीव को अत्यन्त विशुद्ध बनाने वाली।

अहिंसा अभया है। वह भीतों को शरण प्रदाता है। इसका आश्रय लेने वाला भयमुक्त हो जाता है और दूसरे जीवों को भयमुक्त बना देता है। पक्षियों के लिये आकाश-गमन भयप्रद नही होता। पृथ्वी पर वास या चलना उनके लिये भयप्रद है क्योंकि उन्हें हिंसक पशु और शिकारी मनुष्यो से भय बना रहता है, पर आकाश-गमन वे उपद्रव रहित होकर निश्चिन्तता से करते है। इसी प्रकार अहिंसक भयमुक्त होकर निश्चिन्त गमन करता है और पूर्व पापों का विनाश कर शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है।

जैसे प्यासे के लिये पानी और भूखों के लिये भोजन जीवन-प्रदाता है इसी प्रकार अहिंसा का अमृतपान कर जीव अमर वन जाता है। जैसे अगाध समुद्र में डूबे हुए प्राणी के लिये जलयान रक्षक होता है और उसका आश्रय लेकर वह पार पहुँच जाता है, उसी प्रकार अहिंसा रूपी पोत संसार-समुद्र से पार लगा देता है। जैसे पशुओं को अटवी में सिंह, व्याघ्र आदि से भय बना रहता है, पर पशुशाला उसको उपद्रव-रहित कर देती है, उसी प्रकार अहिंसा रूपी पशुशाला जीव रूपी पशुओ को संसाराटवी में विचरते हुए क्रोधादि रूप हिंस्र पशुओं से सुरक्षित कर देती है। औषधि जैसे रोगों को विनष्ट कर देती है और आरोग्य प्रदान करती है वैसे ही अहिंसा पाप रूप रोग को नष्ट कर देती है। भयंकर वन में पथ-भ्रष्ट मानवो को जैसे पथप्रदर्शक निष्कण्टक, सरल, उपद्रवरहित मार्ग वतलाकर भयमुक्त कर देता है, उसी प्रकार हिंसा के पथ पर चलने वाले पथभ्रष्ट मानवों को अहिंसा सत्पथ पर लगा देती है।

सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अहिंसा एक ऐसा उच्चकोटि का आध्यात्मिक धर्म है जो विराट् विश्व के समग्र चैतन्य को एक समानता के धरातल पर खड़ा कर देता है, उनके जीवन को अन्दर और वाहर दोनों ओर से आलोकित कर देता है।

संगठन और अहिंसा

श्री चम्पालाल छल्लाणी

एक संध्या में एक मुनि अपनी कुटिया के सामने ध्यान मग्न वैठे थे। ऊपर नील गगन में चिड़ियाँ अपने वसेरे को लौट रही थी। तभी मुनि को किसी की कातर चीख सुनाई दी। उन्होंने ऊपर देखा। एक वाज चिड़िया पर झपटा, वह चिड़िया को पंजे में पकडे ले जा रहा था। शेप चिडियाँ दूर-दूर थीं और डरी हुई थी। मुनि ने कहा—"हिंसा जगत् का नियम है। निर्वल जाति हिंसा को वढावा देती है, इसलिए संगठित होकर रहो।"

मुनि पुनः ध्यान मग्न हो गये। कई वर्षो वाद एक दिन फिर आँखे आकाश की ओर उठी। सूर्य अस्ताचल को जा रहा था। चिडिया आकाश में विचर रही थी। पर एक साथ। दूसरी ओर दो-तीन उदास वाज ताक रहे थे। चिडियाँ सकुशल चली गई। वाज केवल ताकते रहे। मुनि मुस्कराकर वोले—"हिंसक आततायी काले वाजो! तुम अव कही अन्यत्र चले जाओ। यहां की चिड़ियाँ तो संगठित हो गई है।" इतना कहकर मुनि फिर ध्यान-मग्न हो गये। यह है सगठित शक्ति में अहिंसा।

—आर. के. वोस रोड, धुबड़ी (असम)



अहिंसा की साधना

☐ महात्मा गांधी

१. आम तौर पर लोग सत्य का स्थूल अर्थ सत्यवादिता ही समझते है लेकिन सत्य वाणी में सत्य के पालन का पूरा समावेश नहीं होता; इसी तरह साधारणतया लोग अहिंसा का स्थूल अर्थ यही करते है कि दूसरे जीव को मारना नहीं; किन्तु केवल प्राण न लेने से अहिंसा की साधना पूरी नही होती।

२. अहिंसा केवल आचरण का स्थूल नियम नहीं, बल्कि मन की वृत्ति है। जिस वृत्ति में कही भी द्वेष की गंध तक नहीं रहती, वह अहिंसा है।

३. इस प्रकार की अहिंसा सत्य के समान ही व्यापक होती है। ऐसी अहिंसा की सिद्धि के बिना सत्य की सिद्धि सम्भव नही। अतएव दूसरी दृष्टि से देखें, तो सत्य अहिंसा की पराकष्ठा ही है। पूर्ण सत्य और पूर्ण अहिंसा में भेद नहीं; फिर भी समझने की सुविधा के लिए सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन माना है।

४. ये—सत्य और अहिंसा—सिक्के के दो पहलुओं की तरह एक ही सनातन वस्तु की दो बाजुओं के समान है।

५. अनेक धर्मो में ईश्वर को जो प्रेम-स्वरूप कहा गया है, उस प्रेम और इस अहिसा में कोई अन्तर नही है।

६. प्रेम के शुद्ध, व्यापक स्वरूप का नाम अहिंसा है। जिस प्रेम में राग या मोह की गंध आती है, उसमें अहिसा नही होती। जहाँ राग और मोह होते है, वहाँ द्वेष का बीज भी रहता ही है। प्रायः प्रेम में, राग-द्वेष पाये जाते है। इसीलिए तत्त्ववेत्ताओं ने प्रेम शब्द का उपयोग न करके अहिसा शब्द की योजना की है और उसे परम धर्म कहा है।

७. दूसरों के शरीर या मन को दुःख अथवा चोट न पहुँचाना ही अहिंसा-धर्म नहीं है, परन्तु उसे साधारणतः अहिंसा-धर्म का एक आँखों दीखने वाला लक्षण कहा जा सकता है। यह सम्भव है कि दूसरे के शरीर अथवा मन को स्थूल दृष्टि से दुःख या चोट पहुंचती दिखाई पड़े, और फिर भी उसमें शुद्ध अहिसा-धर्म का पालन हो रहा हो। इसके विपरीत, इस प्रकार के दुःख अथवा चोट पहुंचाने का आरोप लगाने जैसा कोई काम न किया हो,

फिर भी हो सकता है कि उस मनुष्य ने हिंसा की हो। अहिंसा का भाव आँखों से दीखने वाले परिणाम में ही नही, वल्कि अन्त:करण की राग-द्वेष रहित स्थिति में है।

८. फिर भी आँखों से दीखने वाले लक्षण की उपेक्षा नही की जा सकती। क्योंकि यद्यपि यह एक स्थूल साधन है, तो भी अपने या दूसरे के हृदय में अहिंसा-वृत्ति का कितना विकास हुआ है, इसका मोटा अन्दाज इस लक्षण से लग सकता है। जहां दूसरे भूत-प्राणियों को उद्विग्न न करने वाली वाणी के और वैसे ही कर्म के दर्शन होते है, वहां साधारण जीवन में तो इस वात का प्रत्यक्ष पता चल सकता है कि उसमें अहिंसा किस हद तक पुष्ट हुई है। निश्चय ही अहिंसामय दुःख देने के प्रसंग भी आते हैं; उदाहरण के लिए, शुद्ध हेतु से, आत्म-शुद्धि के निमित्त किए गए उपवास से अपने प्रति प्रेम रखने वालों पर एक प्रकार का दवाव पड़ता है; किन्तु उस समय उसमें विद्यमान अहिंसा स्पष्ट दीखती है। जहां स्वार्थ की लेशमात्र भी गंध है, वहां पूर्ण अहिंसा सम्भव नही।

९. परन्तु इतने से यह नहीं माना जा सकता कि अहिंसा की साधना पूरी हुई है। अहिंसा का साधक केवल प्राणियों को उद्विग्न वनाने वाली वाणी का उच्चारण और कर्म का आचरण न करके अथवा मन में भी उनके वारे में द्वेष भाव न रख कर ही सन्तुष्ट नही होगा, वल्कि वह संसार के वर्तमान दुःखों का दर्शन करने, उनके उपाय खोजने और उन उपायों को अमल में लाने का प्रयत्न करता रहेगा; साथ ही दूसरों के सुख के लिये वह स्वयं प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहता रहेगा। तात्पर्य यह कि अहिंसा केवल निवृत्ति रूप कर्म अथवा निष्क्रिया नही है, वल्कि वलवान प्रवृत्ति अथवा प्रक्रिया है।

१०. अहिंसा मे तीव्र कार्य-साधक शक्ति विद्यमान है। उसमें विद्यमान अमोघ शक्ति का पूर्ण संशोधन अभी हुआ नहीं है। 'अहिंसा के निकट सारा विष और वैर शान्त हो जाता है', यह सूत्र केवल उपदेश-वाक्य नही है, वल्कि ऋषि का अनुभव-वाक्य है। जाने-अनजाते, सहज प्रेरणा से, सव प्राणी एक दूसरे के लिए खपने का धर्म पालते है और इस धर्म के पालन से ही संसार निभता है। फिर भी इस शक्ति के सम्पूर्ण विकास का और सब कार्यो तथा प्रसंगो के लिए इसके प्रयोग का मार्ग अभी ज्ञानपूर्वक खोजा नहीं गया है।

११. हिंसा के मार्गो की खोज और उसके सगठन के लिए मनुष्य ने जितना दीर्घ उद्योग किया है और एक वडी हद तक उसका शास्त्र तैयार करने में जो सफलता प्राप्त की है, यदि उतना उद्योग वह अहिंसा की शक्ति

की खोज और उसके संगठन के लिए करे, तो उससे यह सिद्ध हो सकता है कि अहिंसा मनुष्य जाति के दुःखों को दूर करने के लिए एक अमूल्य, कभी व्यर्थ न होने वाला और परिणाम में दोनों पक्षों का कल्याण करने वाला साधन है।

१२. जिस श्रद्धा और उद्योग से वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियों की खोज करते है और उनके नियमों को विविध रीति से व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करते है, उसी श्रद्धा और उद्योग से अहिंसा-शक्ति की खोज करने और उसके नियमों को व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

व्यर्थ का खून नहीं

□ श्री राजकुमार जैन

भारत के जिस राज्य पर सिकन्दर हमला करना चाहता था, उसी राज्य का राजा जब विना बुलाए उससे मिलने आया तो सिकन्दर का सीना गर्व से फूल गया। उसने समझा कि वह राजा आत्म-समर्पण करने आया है। वातों के दौरान उस राजा ने पूछा—"हमने तो आपका कोई अपकार नहीं किया है, फिर भला आप हम पर आक्रमण क्यों करना चाहते है ?"

सिकन्दर ने गर्व भरा जवाब दिया—"ठीक है, हम तुम पर आक्रमण नहीं करेंगे किन्तु तुम्हें सात साल तक 'कर' देना होगा।"

राजा ने सिकन्दर को समझाया कि इतने सारे धन के रहते हुए मामूली-सी कर की रकम से आपका क्या बन-बिगड़ जाएगा ? बात सिकन्दर के गले उतर गई। दोनों ने मित्रता स्वीकार करली। तब राजा ने सिकन्दर को सम्पूर्ण सेना सहित प्रीतिभोज पर आमंत्रित किया।

अपने दल-बल सहित जब सिकन्दर राज्य की सीमा पर पहुँचा तो एक विशाल सेना ने घेर लिया। सिकन्दर तिलमिला उठा और बोला—"तुमने हमारे साथ विश्वासघात किया है।"

लेकिन राजा का उत्तर सुनकर शर्म से सिकन्दर का सिर झुक गया। उसने जवाब दिया—"मैं अपनी सेना की इस छोटी-सी टुकड़ी के साथ आपके स्वागत के लिए आया हूँ, युद्ध हेतु नही। आपको शायद यह गलतफ़हमी है कि अपनी सैन्य-दुर्बलता की वजह से हमने आपके साथ मैत्री की है, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि हम हिन्दुस्तानी व्यर्थ में खून वहना और बहाना पसन्द नहीं करते।"

सिकन्दर का गर्व टूट चुका था।

—राज स्टेशनर्स एण्ड जनरल स्टोर्स
भवानीमण्डी (राज.) ३२६५०२

बात नहीं है। न कोई कोरिया में, न किसी वियतनाम में, नहीं किसी कम्बोदिया में, कहीं कोई जरूरत नहीं है लेकिन आदमी जरूरत पैदा करता है। क्योंकि बिना जरूरत मारेगा तो जरा ठीक नहीं लगेगा। आदमी रेशनल है, सिर्फ एक अर्थ मे कि वह अपनी बेवकूफियों को भी रेशनलाइज करता है, और किसी अर्थ में वह रेशनल नही है। अरस्तू ने जरूर कहा था कि आदमी एक बुद्धिमान प्राणी है लेकिन आदमी का अब तक का इतिहास यह सिद्ध नहीं करता। अरस्तू को इतिहास ने गलत सिद्ध किया है। आदमी सिर्फ बुद्धिमानी एक बात में दिखाता है कि वह अपनी बेवकूफियों को बुद्धिमानी सिद्ध करने की कोशिश करता है। मारता है तो भी रेशनलाइज कर लेता है। वह कहता है कि मारना ही पड़ेगा। क्योंकि यह मुसलमान है, मारना ही पड़ेगा। क्योंकि यह हिन्दू है, मारना ही पड़ेगा। यह हिन्दुस्तानी नही, पाकिस्तानी है। जैसे किसी का पाकिस्तानी होना मरने के लिए काफी कारण है। काफी हो गई बात कि एक आदमी मुसलमान है, मारो। आदमी कारण खोजता है कि मारना पड़ेगा, कि यह आदमी पूजीपति है, मारना पड़ेगा। यह आदमी कम्युनिस्ट है, मारना पड़ेगा। पुराने कारण जरा पिट जाते है तो नये कारण खोजता चला जाता है। नये कारण ईजाद करता है कि अब चलो पुराना कारण बेकार हुआ, वह खेल बन्द करो, नया खेल खेलो। आदमी मारना चाहता है तो कारण खोज लेता है। पशु बिना कारण कभी नही मारते।

मैं यह कह रहा हूँ कि अगर हम आदमी की हिंसा को समझे तो हम पायेंगे कि अकारण आदमी हिंसक होता है। तो यह उसका चुनाव है, और इसलिए आदमी इतना हिंसक हो सकता है जितना कोई पशु नही हो सकता है। क्योंकि पशु का हिंसक होना सिर्फ स्वभाव है, वह उसका चुनाव नहीं है इसलिए नादिरशाह उसमें पैदा नही हो सकता, इसलिए उसमें महावीर भी पैदा नहीं हो सकते। अहिंसा का भी उसे कोई चुनाव नही। आदमी को अहिंसा का भी चुनाव करना पड़ता है। हमने अगर नादिरशाह, स्टालिन और माओ की खाइयाँ देखी है तो हमने महावीर, कृष्ण और क्राइस्ट की ऊँचाइयाँ भी देखी है। वे दोनों हमारी सम्भावनाएँ है। खाइयाँ हमारे अतीत का स्मरण है, ऊँचाइयाँ हमारे भविष्य की आकांक्षा है।

अहिंसा का अर्थ है ईश्वर पर भरोसा रखना।

—महात्मा गांधी

अहिंसा का मतलब इतना ही नही है कि हम किसी का बुरा नही चाहेंगे और नही करेंगे। नही, बल्कि हर किसी का भला सोचेंगे और वह भला करने के लिए आगे बढ़ेंगे।

—जैनेन्द्र कुमार



आपु समान जगत् जस चीन्हा

□ साध्वी मणिप्रभा श्री

जीवन-निर्माण की दशा मे व्यक्ति किसी को हानि नहीं पहुँचाता। उसके विचार दूसरो के लिये किसी न किसी रूप में लाभकारी होते है; लेकिन जीवन-निर्वाह की दिशा में वह दूसरो का शोषण भी कर सकता है। अतः जिसने आत्महित के लिये पुरुषार्थ प्रारम्भ कर दिया तो समझिये जनहित भी स्वतः ही शुरू हो जायेगा। आत्महित का विस्तृत रूप ही जगहित होगा। जिसने आत्मा का मूलरूप जान लिया है वह जान लेता है कि आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है, निरंजन है लेकिन वर्तमान में जो उसकी परिणति है, वह कर्मो के कारण है। अज्ञान और मोह से बांधे गये कर्मो ने आत्मा को सुषुप्त अवस्था मे ला पटका है, संसार में परिभ्रमण करवाया है। ससारी आत्मा का लक्ष्य, उसके सारे प्रयत्न काया, कुटुम्ब, कंचन, कामिनी एव कीर्ति के लिये है। उसका कार्यक्षेत्र कितना भी विस्तृत क्यो न हो—लेकिन लक्ष्य इन्ही की प्राप्ति का होगा। उसके लिये धन-धरती, सत्ता-सुन्दरी मे आकर्षण होगा। इन चारों शब्दों में सम्पूर्ण जगत् का आकर्षण समाहित हो जाता है। अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु वह दूसरे के स्वार्थ को, दूसरे की आवश्यकता को, दूसरे की इच्छाओं को ठुकराता है, उनका हनन करता है। वह अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करता है लेकिन किसी का दिल दुखाकर, किसी की आँखों से आँसू निकलवा कर। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका उद्देश्य जगत् को, जगत् के परपदार्थो को प्राप्त करना मात्र है, उसकी शक्ति सृजनात्मक कम होगी, विध्वंसात्मक ज्यादा। मानव जीवन का उद्देश्य शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होना चाहिये, अधोगमन नही।

ज्ञानियो ने भौतिक सुख को सुखाभास कहा है। दूसरो को दुःख देकर प्राप्त किया जाने वाला सुख, सुख नही। हमे भी सुख मिले, हमारे माध्यम से दूसरो को भी सुख मिले, यह भावना होनी चाहिये।

"जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं॥"

अर्थात् जो तुम अपने लिये चाहते हो वही दूसरो के लिये भी चाहो तथा जो तुम अपने लिये नही चाहते वह दूसरों के लिये भी न चाहो, यही जिनशासन है।

जिनशासन हो अथवा अन्य कोई धर्म, कोई मज़हब, कोई पन्थ—यह नही कहता कि तुम दूसरों को दुःखी करके अपने को सुखी बनाओ, दूसरों की

झोपड़ी हटाकर अपना महल बनाओ, दूसरो की रोटी छीनकर अपनी तिजोरी भरो ।

बन्धुओ ! जब आत्मीयता का विस्तार होने लगेगा, सभी प्राणियो के साथ मित्रता के भाव उत्पन्न होने लगेगे तब चराचर जगत् के प्राणियों के साथ वह अपने आप को जोड़ लेगा । उनका सुख उसका सुख होगा, उनका दुःख उसका दु ख होगा । वह महापुरुपों के पद-चिह्नों पर चल पड़ेगा । महापुरुप किसी भी काल में हों, किसी भी देश मे हो, किसी भी जाति मे हों—उनका काल, देश, जाति स्तर पर तो अन्तर हो सकता है लेकिन भावात्मक स्तर पर नही । सभी की भावात्मक स्थिति एक होती है, जो महापुरुप होगा उसमें उदारता, उदात्तता, क्षमाशीलता आदि गुण सहज होगे ।

इस भूमि (जोधपुर) का सम्बन्ध वीर तेजाजी के साथ है, न जाने कितने संत हो गये, कोई किसी के साथ जुड़ा, कोई किसी के साथ । महापुरुपो की धरती मे जन्म लेने वाले, उनकी महिमा गाने वाले, उनकी पूजा-उपासना करने वाले हम, जरा विचार तो करे कि क्या अन्तरङ्ग मे भी हम उनके साथ जुड़ पाये ? क्या उनकी वाणी ने हमारे जीवन में कुछ परिवर्तन किया ? जब उनकी वाणी हमारे हृदयतल को स्पर्श करेगी तब हमारी दृष्टि बदलेगी, जब दृष्टि बदलेगी तब पुरुपार्थ बदलेगा, जब पुरुपार्थ बदलेगा तभी उपलब्धि भी बदलेगी । स्वकाया के संरक्षण के लिये किसी अन्य काया का नाश करना हमारा उद्देश्य नही होगा । स्वय को सम्पत्ति के साथ जोड़ने के लिये दूसरो को विपत्ति में नहीं डालेगे, हमारा व्यवहार बदलेगा, कर्म बदलेगा फिर जीवन बदलेगा । हृदय मे मेरे का घेरा विस्तृत हो जायेगा—"मित्ती में सव्वभूएसु" समस्त प्राणियो से मेरी मैत्री हो—ऐसी भावना जब उत्पन्न होगी वही से आत्मीयता का विस्तार होने लगेगा तो हम दूसरों को दुःख नही दे पायेगे । साधारणत. जिनसे हमारी आत्मीयता होती है, उनके सुख-दुःख मे हमारा मन भी सुखी-दुखी होता है । आत्मीयता का विस्तार जितना अधिक होगा, जगत् की मंगलकामना की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक होगी । जिस प्रकार एक मां अपने बच्चे का रोना नही देख सकती क्योंकि उसमें वात्सल्य, ममत्व, स्नेहभाव है, उसी प्रकार महापुरुपों की वाणी के साथ जुड़ने वाला सकल ससार से स्नेह करने लगेगा । दूसरो के कष्टनिवारण में वह अपनी शक्ति लगायेगा ।

हम अपने जीवन को देखे, सोचे—अपने जीवन मे हम कितनों को सुखी कर पाए ? कितनो के हित मे शक्ति लुटा पाए ? आज तो सब कुछ विपरीत ही दिखाई देता है—सर्वत्र संघर्प के, संक्लेश के समाचार मिलते है—यह क्या है ? आज हम अपनी शक्ति का उपयोग किसी को उठाने में नही, उसे गिराने मे करते हैं । कोई लड़खड़ा रहा हो तो उसको सहारा देकर उठाते नही अपितु एक

ठोकर और लगा देते हैं—भले ही वह व्यापारिक क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो अथवा धार्मिक क्षेत्र हो। क्या यही हमारी धार्मिकता है ?

बन्धुओ ! हमने मानव-आकृति तो पाई परन्तु पता लगाइये मनुष्यप्रकृति भी मिली या नही ? पुनः यह मानवजीवन न जाने कब प्राप्त होगा। यह अमूल्य अवसर हमें प्राप्त हुआ है, सुनहरा मौका है—इस प्रकार ज्ञानी बराबर उद्बोधन देकर हमें सावचेत करते हैं, सावधान करते है। एक व्यापारी दूसरे व्यापारी को कभी नहीं कहेगा कि बन्धु ! मौका अच्छा है, लाभ उठा ले, इसके बाद तो भाव गिरने वाले है। लेकिन हाँ, अगर बहुत अधिक अपनापन होगा तो सूचना अवश्य दे देगा। सामान्यतः कोई व्यापारी यह कभी नहीं चाहेगा कि कोई मुझसे धन कमाने में बाजी मार जाय या कोई मुझसे ज्यादा यश कमा ले अथवा कोई किसी भी क्षेत्र में मुझसे आगे बढ जाए। लेकिन महापुरुषों के लिये तो सम्पूर्ण जगत् अपना है—"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।" वे हमे जागरूक बनाने के लिये बार-बार उद्बोधन देते है—यह मौका मत छोड़ो, इससे उत्तम जीवन कोई और नहीं है, पुनः यह जीवन मिले या न मिले, जो कमाई करनी है कर लो, इस मानव मस्तिष्क का लाभ उठा लो, इस शरीर से जितना सत्कर्म कर सकते हो, कर लो, इस वाणी से जितने मंगलमय वचनों की वर्षा कर सकते हो, कर लो, इस मन से जितने शुभ संकल्प कर सकते हो, कर लो।

दो व्यक्ति जा रहे थे। यात्रा लम्बी थी। कभी बैठते कभी फिर चल पड़ते। काफी दूर जाने के पश्चात् एक स्थान पर जब वे बैठे थे कि एक व्यक्ति आया और कहने लगा—उठा लो ! उठा लो !! वे विस्मित होकर पूछने लगे—क्या उठा लो ? और क्यो उठा लो ? उस व्यक्ति ने कहा—अपने पांवों के नीचे की मिट्टी उठा लो। वे हँस पडे, उपहास करने लगे अरे ! यह मिट्टी ही हम उठाने लगते तो हमारे पास न जाने कितना व्यर्थ भार हो जाता। इतनी देर से मिट्टी पर ही तो चल रहे है। आगन्तुक ने कहा—मित्रो ! यह मिट्टी सामान्य नही है, इसमे स्वर्ण-कण मिले है। अब तो यात्री भी चौंक कर नीचे देखने लगे और जल्दी-जल्दी मिट्टी उठाने लगे।

बन्धुओ ! हम भी चल रहे है—अनन्त काल की यात्रा में—हमें शरीर कहां नही मिला ?—कभी चिड़िया, कभी चीटी, कभी श्वान, कभी शूकर, कभी गजराज तो कभी गर्दभराज। प्रत्येक भाव मे काम-वासना भी रही, संग्रहवृत्ति भी रही, क्रोध-सघर्ष आदि वृत्तियां भी रहीं। हम कई बार देखते है—पशु-पक्षी जगत् में भी, कि जब कोई चीज उनके बीच आती है तो वे उसके लिये संघर्ष करने लगते हैं। स्वयं की सुरक्षा, परिवार की सुरक्षा, संग्रह की भावना, जिजीविषा की भावना हर गति, हर योनि में मिली। एक चींटी को देखिये, वह भी शक्कर का एक-एक कण इकट्ठा करती रहती है। यह संग्रहवृत्ति आदि भावनाएँ तिर्यञ्च आदि सभी गतियो मे अनेक बार मिली है और आज इस

उत्तम मानव भव में भी वही—काया, कंचन, कामिनी, कुटुम्ब के लिये मस्तिष्क का उपयोग कर रहे हैं। जरा सोचिये-विचारिये !

जिस प्रकार उन यात्रियों ने कहा—मिट्टी तो हमें सर्वत्र मिली—क्यो उठा लें—उसी प्रकार ज्ञानी जन कहते है—यह परिवार, ये भावनाएं, ये मनोवृत्तियाँ तो हर पर्याय में मिली और हर भव में, हर शरीर मे इन्हीं का पोषण किया लेकिन इस मनुष्य देह से सेवा का स्वर्ण निकालना है, सत्संग का स्वर्ण निकालना है, शुद्ध भावनाओ का स्वर्ण निकालना है।

पूज्य गुरुवर्या श्री विचक्षण श्री जी म० सा० कहा करते थे—तन भी मिट्टी, धन भी मिट्टी—लेकिन इन दोनों के योग से मनुष्य चाहे तो स्वर्ण प्राप्त कर सकता है। तन से सेवा करके किसी का हित करके, सत्कर्म करके तथा धन से परोपकार करके, दुःखियों को सहायता पहुँचा करके। किसी के तन-धन की शक्ति किसी अन्य का शोषण करनें में लगती है तो किसी की किसी अन्य का पोषण करने मे। नीतिकार कहते है—

"विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥"

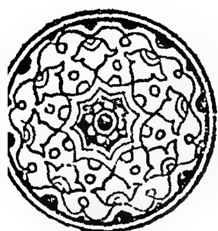
दुष्टों की विद्या विवाद के लिये, धन मद के लिये और शक्ति परपीड़न के लिये होती है जबकि साधुजन का आचरण इससे विपरीत होता है अर्थात् उनकी विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति दूसरो के रक्षण के लिए होती है।

अहिंसा का महत्व

मातेव सर्वभूतानामहिसा हितकारिणी।
अहिंसेव हि संसारमरावमृतसारिणी ॥
अहिंसा दुःख दावाग्नि-प्रावृषेण्यघनावली।
भवभ्रमिरूगार्तानामहिसा परमौषधी ॥

—अहिंसा माता के समान समस्त प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसार रूपी मरुस्थल में अमृत की नहर है। अहिसा दुःख रूपी दावानल को नष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है। अहिसा भवभ्रमण रूपी रोग से पीड़ित जनों के लिए उत्तम औषध है।

—योगशास्त्र



जैन आगमों में अहिंसा का स्वरूप

☐ श्री केवलमल लोढ़ा

ज्ञानियों ने संसार में जितने भी तत्त्व हैं, उनको तीन विभागों ज्ञेय, (जानने योग्य) हेय, (त्यागने रूप) व उपादेय (आदरने लायक) में विभक्त किया है। नौ तत्त्वों में जीव, अजीव, पुण्य ज्ञेय रूप में, पाप, आश्रव, बंध हेय रूप में व संवर, निर्जरा तथा मोक्ष उपादेय रूप में हैं। इन नौ तत्त्वों मे जीव कर्ता है, जो स्वभाव (समस्त गुणों) व विभाव (अवगुणों) का धारक है। गुणों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि जीव के हितकारी होने से ग्राह्य है, व अवगुण हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्यादि त्याज्य हैं, क्योंकि ये आत्मा को मलिन करके अधोगति में ले जाने वाले है। गुणों में अहिंसा सब से प्रधान है, क्योंकि वीर प्रभु ने धर्म का प्रमुख लक्षण 'अहिंसा' दशवैकालिक सूत्र[1] में निरूपित किया है। इसी सूत्र के छठे अध्ययन[2] में छः व्रतों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है। सत्यादि दूसरे गुण इस अहिंसा के पोषक व रक्षक है। जैसे कोई पुरुष झूठ बोलता है, चौर्य कर्म करता है, तो वह इस अनार्य कर्म से जिसको झूठे वचन कहे व जिसके पदार्थो का हरण किया है, उस-उस पुरुष के चित्त को आघात पहुँचता है। असत्य बोलना तो वर्जनीय है ही, पर सत्य भी अगर अप्रिय एवं मर्मकारी हो तो वह भी पापकारी होने से हेय है। जैसे कि सूत्रकृतांग[3] व दशवैकालिक सूत्रों मे प्रतिपादन है। मैथुन तो हिंसा का घर है। एक समय के भोग में लाखों जीवों का घात होता है। परिग्रह के मूल में हिंसा ही है, क्योंकि अधिक संग्रह से दूसरे जीवों को क्षति पहुँचती है। अहिंसा मे समस्त गुण वैसे ही समाविष्ट है, जैसे हाथी के पैर में सभी पशु-जगत् के पैर। ऐसी भगवती अहिंसा का जैनागमों मे स्वरूप, महत्त्व, अधिकारी आदि का सक्षेप मे वर्णन, करना इस लेख का प्रयोजन है।

अहिंसा का स्वरूप—'न हिंसति इति अहिंसा'। छः कायों में किसी भी जीव का वध न करना अहिंसा है, जिसके दो रूप हैं,

(१) निषेधात्मक—प्राणी मात्र की मन-वचन-काया से स्वयं हिंसा करे नहीं, दूसरों से करावे नही, और न हिंसा करने वालो की अनुमोदना करे अर्थात् तीन करण तीन योग से हिंसा से निवृत्त होना, ऐसी सम्पूर्ण हिंसा का त्याग श्रमण निर्ग्रन्थ करते है। प्रथम महाव्रत 'पाणाइवाइयो विरमण'[4] इस प्राणातिपात विरमण व्रत मे आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों की दया-पालन को प्ररूपणा 'दशवैकालिक' सूत्र के अध्ययन आठ में की गई है।[5]

६. सयं तिवायए पाणे, अदुवा अन्नेहि घायए।
हणंतं वाऽणजाणाई, वेरं वड्ढइ अपणो ।।

जो व्यक्ति प्राणियों का स्वयं घात करता, करवाता है, व उसकी अनुमोदना करता है वह मारे जाने वाले जीवों के साथ में वैर वढ़ाता है। सूत्र. १/३

७. अभओ पत्थिवा ! तुज्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीव लोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ।। (उ. १८/११)

आचार्य गर्दभालि संजय राजा को अभय देते हुये, उसको उपदेशित किया कि तुम भी जीवों को अभय दान देवो। इस अनित्य संसार में हिंसा में क्यों आसक्त हो रहे हो ?

८. अज्भत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भय वेराओ उवरए ।। उत्त. ६/७

अध्यात्म सुख तुझे इष्ट है वैसे ही दूसरों को भी इष्ट है। सबको जीवन प्रिय है अतः भय और वैर से उपरत पुरुष जीवो के प्राणों का घात न करे।

६. जई मुज्भ कारणा एए, हम्मंति सु वहू जिवा।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ।। उ. सूत्र अ. २२/१६

भगवान अरिष्टनेमी कहते है कि यदि ये पशु-पक्षी मेरे विवाह के निमित्त से मारे जाते है तो यह हिंसाकारी कार्य मेरे परलोक के लिये कल्याणकारी नहीं होगा।

१०. वहु जुणस्स पोयारे, दीव ताणं च पाणिणं।
एयारिसं नरहन्ता, महामोहे पक्कुवइ ।। दशाश्रुत स्कंध ६/१७

जो जनता का नेता है और जो दुःखी जनों के लिये द्वीप के समान रक्षक है, ऐसे व्यक्ति का घात करने वाला जीव महामोहनीय कर्म बाधता है।

११. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघित्तव्वा ण परियावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा (आचारांग ४/२/६)— सभी प्राणी, भूत, जीव व सत्वों को न तो मारना चाहिये, न उन पर जवरन शासन करना चाहिये, न उनको, दास, गुलाम वनाना चाहिये, न परिताप देना चाहिये, न उनको हैरान करना चाहिये।

१२. तुमंमि नाम त चेव जं चेव हंतव्वं ति मन्नसि
तुमसि नाम तं चेव जं चेव अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम त चेव जं चेव परियावेयव्व ति मन्नसि
तुमसि नाम तं चेव जं चेव परिघित्तव्वं ति मन्नसि
तुमंसि नाम त चेव जं चेव उद्दवेयव्वं ति मन्नसि
अंजू चेवं पडिवुद्धजीवी तम्हा न हंता न विघायए। आचारांग ५/५/६

तू वही है, जिसको तू हनन योग्य, आज्ञा में रखने योग्य, परिताप देने योग्य, दास बनाने योग्य व हैरान करने योग्य मानता है। यह आत्म ऐक्य (सभी आत्मा समान है) या 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की भावना है। अतः किसी जीव को हनन करने की इच्छा मत करो।

अहिंसा के आराधक—अहिंसा का सम्पूर्ण रूप से पालन करने वाले तीर्थंकर, केवल ज्ञानी, मनपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, मति और श्रुतज्ञानी, सामायिक आदि पाँचों चारित्र के धारक, पुलाक आदि पाँचों निर्ग्रन्थ, श्रुतधर आदि है। श्रमण निर्ग्रन्थों को छ काय जीवों की रक्षा, जिसका विस्तृत वर्णन 'दशवैकालिक' सूत्र के चतुर्थ अध्ययन में है, करना अनिवार्य है और इसके अतिरिक्त उनके दैनिक जीवन की आवश्यकता यथा भोजन, वस्त्र, पात्र, पाट, स्थानक आदि के सेवन के लिये भी निर्दोष विधि की "उत्तराध्ययन सूत्र' के चौबीसवे अध्ययन अष्ट प्रवचन माता (पाँच समिति तीन गुप्ति) में प्ररूपणा की गई है। यत्नापूर्वक[१०] चलना, खड़े रहना, बैठना, शयन, भोजन और भाषण करना प्रथम तीन समिति—इर्या, भाषा, और एषणा—के क्षेत्र है। संयम पालनार्थ उपकरणों को अच्छी तरह से पूंज-देखकर काम में लेना व रखना तथा परठने योग्य उच्चार (बड़ीनीत) पासवण (पेशाब) कुल आठ वस्तुओं को विधि पूर्वक परठने के लिये शेष दो समितियाँ निर्देश करती है। मन, वचन, काया की पापकारी वृत्तियों का निरूपण करने हेतु तीन गुप्तियाँ मार्गदर्शन करती है। अष्ट प्रवचन माता जो आठ अंगों का निचोड़ है, उसके सम्यक् आचरण से साधक संसार से ही मुक्त हो जाता है।[११]

मुमुक्षु को दान आदि परोपकार प्रवृतियाँ जिनमें देय पदार्थ हिंसा-उपार्जित है, उनके सम्बन्ध में पूछने पर[१२-१३] न हाँ कहे न मना करे क्योंकि साधक यदि उनका समर्थन करता है, तो उसमें होने वाली हिंसा का अनुमोदन होने से पाप का भागीदार होता है, और उसका निषेध करता है, तो उस दान से लाभान्वित होने वाले जीवों को अंतराय लगती है। हिसा से निवार्णार्थ कैसा सूक्ष्म विश्लेषण है!

अहिसा का दूसरा आराधक श्रावक है, जिसके १२ व्रतों में प्रथम व्रत—

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं—के अन्तर्गत संकल्प पूर्वक निरपराधी जीवों को आकुट्टी (वध करने) बुद्धि से हनन करने का दो करण तीन योग से त्याग होता है। उत्कृष्ट श्रावक ११ प्रतिमाओं का पालन करता है जिसमें अन्तिम पडिमा श्रमण के समान होती है। अहिसा संवरद्वार कर्मों का निरूंधन करने वाली, पाप रहित, पाप निषेधक और निर्दोष प्रवृत्ति रूप होने से स्व व पर हित के लिये अवश्य सेवनीय है क्योंकि संसार में कोई कल्याण करने वाली, दुःखों से मुक्त कराने वाली, ससार-समुद्र से तिराने वाली यदि कोई क्रिया है तो वह जीव-

दया ही है। 'आचारांग' सूत्र में भगवान महावीर ने प्ररूपणा की है कि अहिंसा धर्म शुद्ध है, नित्य है, और शाश्वत है।[१४]

इस अहिंसा के सम्यक् आचरण से आराधक श्रमण निर्ग्रन्थ जघन्य उसी भव में और उत्कृष्ट पन्द्रह भवों में निश्चय ही अपने लक्ष्य सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं। —ए-८-महावीर नगर, जयपुर ३०२०१५

संदर्भ संकेत—

१. धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं णमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

२. तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा णिउणा दिट्ठा, सव्व भूएसु संजमो। दशवैकालिक ६/९

३. (१) तहेव फरुसा भासा, गुरु भूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो। दशवैकालिक ७/११

(२) सच्चेसु या अणवज्जे वदंति। सूत्रकृतांग

४. पढमं भंते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते! पाणाइवायं, पच्चक्खामि, से सुहुमं वा, वायरं वा, तसं वा, थावरं वा, णेव सयं पाणे अइवाइज्जा, णेवण्णेहिं पाणे अइवायाविज्या, पाणे, अइवायंते, वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं ण करेमि ण कारवेमि करंतंपि अण्णं ण समणुजाणामि। दशवै. ४/११

५. अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारि भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा। दशवै. ८/१३
सिणेहं पुप्फ सुहुमं च, पाणुत्तिगं तहेव य,
पणगं वीयहरियं च, अंड सुहुमं च अट्ठमं। दश. ८/१५

६. सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहियं— प्रश्न व्या. २/११२

७. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाई-मरण, मोयणाए, दुक्खपडिघाय हेउं। आचा. १/१/८

८. अप्पेगे अच्चाए हहंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणिताए वहंति, अप्पेगे हिययाए वहंति एवं पिताए, वसाए पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिजाए, विसाणाए, दंताए, दाढ़ाए, नहाए, ण्हारुणीए, अट्ठिए, अट्ठिमिजाए, अट्ठाए, अणट्ठाए। आचा. १/६/७

९. एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे, एस खलु निरए। आचा. १/१/६

१०. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयंमासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ। दश. ४/८

११. सो खिप्पं सव्व संसारा, विप्पमुच्चई पंडिए। उत्तरा. २४/२७

१२. जे य दाणं पससंति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते।। सूत्रकृतांग ११/२०

१३. दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चा णं, निव्वाणं पाउणंति ते। सूत्रकृतांग ११/२१

१४. एस धम्मे सुद्धे, णितिए, सासए सम्मेच लोयं
खेयण्णेहिं पवेइए। आचा. ४/१/१

यह दावा करना छोड़ दो

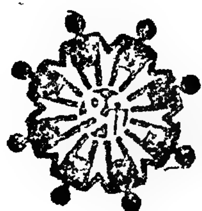
—कमल सौगानी

उन दिनों पटना के बड़े न्यायालय में एक कुशल वकील के रूप में राजेन्द्र बाबू की शोहरत फैली हुई थी। प्रसिद्ध समाज सुधारक श्री भवानीदयाल संन्यासी का एक आत्मीय जन उनकी चिट्ठी लेकर राजेन्द्र बाबू के पास पहुंचा। वह एक मुकदमा दायर करना चाहता था।

राजेन्द्र बाबू ने आगुन्तक के कागज पत्रों को देखकर कहा—"भाई, यदि यह मुकदमा चलाया जाये तो निश्चित है कि तुम जीत जाओगे, परन्तु उसके साथ ही एक विधवा का जीवन नष्ट हो जायेगा। मेरी तुमसे प्रार्थना है कि तुम यह दावा करने का आग्रह छोड़ दो, क्योंकि एक विधवा की सम्पदा हजम करने पर तुम्हें शांति नहीं मिलेगी।"

उनके ये वचन सुनते ही वे महाशय अपने कागज पत्र लपेट कर लौट आये।

—स्टेशन रोड, भवानीमंडी (राज.)



'आचारांग सूत्र' में हिंसा-निषेध

☐ श्री राजवीरसिंह शेखावत

क्या मानवीय जीवन का कोई उद्देश्य है ? यह प्राचीन भारतीय दर्शनों की एक मुख्य समस्या रही है, जिसके समाधान मे प्रायः सभी दर्शनों मे, चार्वाकों के अतिरिक्त, माना गया है कि मानवीय जीवन का उद्देश्य आत्यंतिक दु.ख-निवृत्ति है अर्थात् सभी दुःखों का सदा के लिए नाश। किन्तु ध्यातव्य है कि सभी प्राचीन भारतीय दर्शनों का इस प्रश्न, मोक्ष का साधन क्या है ? के समाधान में मतैक्य नही है, क्योंकि उनकी तत्त्व सम्बन्धी मान्यताओं मे भिन्नता है और यह प्रश्न कि मोक्ष का साधन क्या है, एक सीमा तक इस बात पर निर्भर करता है कि "तत्त्व" क्या है ? जैन धर्म और दर्शन का भी, अन्य दर्शनों की तरह, यही मानना है कि मानवीय जीवन का उद्देश्य "जीव" को अपनी पूर्ण एवं शुद्ध अवस्था में स्थापित करना है। जीव को यह अवस्था सुख-दुःख के परे की अवस्था है अर्थात् इस अवस्था में सभी दुःखों का सदा के लिए नाश हो जाता है। किन्तु प्रश्न है कि किस साधन या माध्यम के द्वारा जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकता है ? इसके समाधान मे कहा गया है कि "धर्म" के द्वारा।[१] पुनः प्रश्न ऊठता है कि "धर्म" क्या है ? प्रत्युत्तर में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही धर्म है।[२] अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का साधन या मार्ग है।[३] फिर प्रश्न किया जा सकता है कि सम्यग्दर्शन आदि का स्वरूप क्या है ? समाधान मे कहा गया है कि तत्त्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन,।[४] यथार्थज्ञान को सम्यग्ज्ञान और पाच पापों के परित्याग को सम्यक्चारित्र कहते है।[५] अर्थात् हिसा, झूठ, चोरी, मैथनु-सेवन और परिग्रह से विरक्त होना।

पुनः प्रश्न उठता हैं कि "हिसा" क्या है ? इसके समाधान में कहा गया है कि किसी प्राणी को प्राण-विहीन करना, दूसरे से प्राण-विहीन करवाना या किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी प्राणी को प्राण-विहीन करते हुए देखकर उसका अनुमोदन करना।[६] किसी प्राणी पर शासन करना, दास बनाना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना, सताना, अशात करना हिसा है।[७] अर्थात् **आचारांग** के अनुसार किसी प्राणी को प्राण-विहीन कर देना ही हिसा नही है अपितु किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता का किसी भी रूप में हनन भी हिसा है।[८] यहां ध्याद देने की बात है कि **आचारांग** मे प्राणी या जीव को मनुष्य, पशु, पक्षी और कीट-पतंगों के अर्थ में ही नही, अपितु प्राणी या जीव को व्यापक अर्थ में लिया गया है, जिसमें उन जीवो का भी समावेश हो जाता है जिन्हे सामान्य जन जड़ या अजीव कहते हैं। **आचारांग** मे उन सभी जीवो को छः वर्गों मे

रखा है। ये वर्ग हैं—पृथ्वीकाय जीव, जलकाय जीव, अग्निकाय जीव, वायुकाय जीव, वनस्पतिकाय जीव और त्रसकाय जीव।[९] यहां प्रश्न उठता है कि पृथ्वीकाय जीवों के अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जाये? इसके समाधान मे कहा गया है जिस प्रकार तुम्हारी सत्ता है उसी प्रकार उन जीवों की भी सत्ता है अर्थात् उन जीवों के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता है, क्योंकि उनके अस्तित्व को नकारने का अर्थ है स्वयं की आत्मा के अस्तित्व को नकारना। जैसाकि **आचारांग** मे कहा गया है कि "जो अन्य जीवो के अस्तित्व का निषेध करता है वह अपने अस्तित्व का निषेध करता है, जो अपने अस्तित्व का निषेध करता है वह अन्य जीवो के अस्तित्व का तिषेध करता है।[१०] इससे फलित होता है कि उन जीवों की सत्ता है। **आचारांग** में उन सभी जीवो की हिंसा का निषेध है, न कि किन्हीं विशेष जीवों की हिंसा का अर्थात् उन सभी जीवों की न तो स्वयं हिंसा करे, न दूसरे से करवाये और न ही अनुमोदन करे।[११] किन्तु प्रश्न है कि किसी भी जीव की हिंसा नही की जाये तो क्यों नही की जाये? अर्थात् वे कौन-से कारण है जिनके कारण हिंसा का त्याग करना चाहिए? **आचारांग** में हिंसा निषेध या त्याग के अनेक कारण बतलाये गये है, जिनमे से मुख्य कारण है "कर्मबन्ध" अर्थात् हिंसा से जीव का, जिसने हिंसा की है, कर्मबन्ध होता है।[१२] कर्मबन्ध से जीव के शुद्ध स्वरूप में न्यूनता आ जाती है अर्थात् कर्मो से जीव का स्वरूप विकृत हो जाता है, जिसके कारण वह जन्म-मरण के चक्कर मे पड़ा रहता है।

दूसरे, हिंसा मोह का कारण है।[१३] अर्थात् हिंसा राग-द्वेष का कारण है। यद्यपि यह माना जाता है कि हिंसा का कारण राग-द्वेष है, किन्तु **आचारांग** में हिंसा को राग-द्वेष का कारण माना है।[१४] यह ठीक है कि राग-द्वेष के कारण हिंसा होती है, किन्तु यह नही कहा जा सकता है कि हिंसा के पश्चात् राग-द्वेष नही रहते है तथा न ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् हिंसा के पश्चात् राग-द्वेष पहले की अपेक्षा अधिक उत्पन्न होते है। इसीलिये **आचारांग** मे हिंसा को मोह या राग-द्वेष का कारण माना है। राग-द्वेष और कर्मबन्ध के कारण जीव के शुद्ध स्वरूप पर कर्मो का आवरण आ जाता है अर्थात् हिंसा से कर्मबन्ध और राग-द्वेष उत्पन्न होते है तथा राग-द्वेष से जीव का कर्म पुद्गलो से बन्ध हो जाता है जिससे उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति में न्यूनता आ जाती है। उसमें न्यूनता आने के कारण वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही कर सकता है अर्थात् हिंसा दर्शन बोधि, ज्ञान बोधि और चारित्र बोधि की अनुपलब्धि का कारण है।[१५] इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि हिंसा के कारण जीव त्रिरत्न की प्राप्ति नही कर सकता है और जो पहले से प्राप्त है उसमें भी न्यूनता आ जाती है। और त्रिरत्न के बिना जीव अपने यथार्थ एवं शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् हिंसा के

कारण जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। इससे फलित होता है कि मोक्ष के लिए हिंसा का निषेध अनिवार्य है।[१६] अर्थात् जो अहिंसा का पालन करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है और इसके विपरीत जो हिंसा करता है उसे नरक की प्राप्ति होती है।[१७]

जैन दार्शनिक स्वर्ग और नरक की कल्पना करते हैं तथा यह मानते हैं कि जो जीव अच्छे कर्म करता है उसे स्वर्ग मिलता, है, वहां वह सुख भोगता है और जो बुरे कर्म करता है उसे नरक मिलता है, वहां उसे दुःख ही दुःख भोगना होता है। जो हिंसा करता है उसे नरक मिलता है और वहां उसकी हिंसा की जाती है अर्थात् कोई व्यक्ति यदि किसी प्राणी की हिंसा करता है उसे, जिसने हिंसा की, नरक में जाना पड़ता है तथा वहां फिर उसकी हिंसा की जाती है। यहां प्रश्न है कि यह कैसे कहा जाये कि स्वर्ग और नरक की सत्ता है? यदि कुछ समय के लिए इस कल्पना को कि स्वर्ग एवं नरक है तथा वहां सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, न भी स्वीकार करें तब भी यह सिद्ध नहीं होता है कि हिंसा त्याज्य नही है, क्योंकि यह अकरणीय है।[१८] इसलिए कि हिंसा क्रिया भी है और फल भी। जो क्रिया है वे सब त्याज्य हैं।[१९] क्योंकि क्रिया हिंसा और संसार का कारण है तथा अक्रिया मोक्ष का।[२०]

यहां कहा जा सकता है कि न तो स्वर्ग है, न नरक है, न कर्मबन्ध और न ही मोक्ष। तब हिंसा त्याज्य कैसे हो सकती है? इसके समाधान में कहा गया है कि यदि कुछ समय के लिए उन्हें नही भी मानें, तब भी हिंसा त्याज्य है, क्योंकि उससे अहित होता है।[२१] अहित दो प्रकार का होता है—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक अहित को कोई न भी माने, किन्तु व्यावहारिक अहित नकारा नही जा सकता है। व्यावहारिक अहित भी दो प्रकार का है—'स्व' अहित और 'पर' अहित। 'स्व' अहित में हिंसा करने वाला सदैव अशांत और भयभीत रहता है, जिससे उसका जीवन दु खमय हो जाता है। "पर" अहित में हिंसा मृत्यु का कारण है,[२२] अर्थात् हिंसा से, जिस जीव की हिंसा की जाती है, उसे प्राण रहित कर दिया जाता है, जबकि सब जीवों को अपना-अपना जीवन प्रिय है और मृत्यु अप्रिय अर्थात् कोई भी जीव मरना नहीं चाहता है।[२३] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तुम मरना न ी चाहते हो उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी मरना नहीं चाहते हैं अर्थात् सभी प्राणी जीना चाहते है। यही नही, प्रत्येक प्राणी जीवन के साथ "अभय" चाहते हैं अर्थात् जिस प्रकार तुम्हें अभय प्रिय है और भय अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी अभय प्रिय है और भय अप्रिय, अर्थात् सभी प्राणी अभय चाहते है।[२४] किन्तु हिंसा से अभय का हनन होता है।

पुनः कहा जा सकता है कि किसी व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा के लिए किसी जीव विशेष की हिंसा की जाये, तब उस हिंसा में क्या दोष है? इसके

समाधान में कहा जा सकता है कि जिस व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा हिंसा से सम्भव है वह वास्तविक अर्थ में व्यवस्था या मूल्य है ही नहीं, क्योंकि हिंसा से व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा नहीं, ह्रास होता है। हिंसा से किसी व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा करने का अर्थ है हिंसा की रक्षा करना अर्थात् हिंसा से हिंसा को मिटाना चाहते है और हिंसा से हिंसा को मिटाते समय एक ओर दूसरी हिंसा को आमंत्रित करते है तथा दूसरी ओर उस हिंसा को जिससे पहली हिंसा को मिटाया गया है, मिटाने के लिए तीसरी हिंसा की आवश्यकता पड़ती है और तीसरी के लिए चौथी हिंसा की। इस प्रकार यह निरन्तर चलने वाली हिंसा है, जिससे व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा कैसे सम्भव है?

दूसरे, जब किसी जीव विशेष की हिंसा की जाती है तब वह हिंसा केवल उस एक जीव विशेष की ही हिंसा नहीं होती है, अपितु उसके आश्रय में रहने वाले अन्य जीवों की भी हिंसा होती है अर्थात् अनेक जीव ऐसे है जो अन्य जीवों के शरीर के आश्रय में रहते हैं। ऐसी स्थिति में उस एक जीव की, जिसके आश्रय में अन्य जीव रहते हैं, हिंसा करने से उसके आश्रय में रहने वाले जीवों की भी हिंसा होती है।[२५] तब प्रश्न उठता है कि उन अन्य जीवों की हिंसा क्यों?

तीसरे, "हिंसा" हिंसा ही नहीं, वह चोरी भी है।[२६] क्योंकि हिंसा में जीवों के प्राणों का हरण होता है और दूसरे के प्राणों पर हिंसक का कोई अधिकार नहीं होता है अर्थात् जिन प्राणियों की हिंसा की जाती है उनके प्राणों का स्वामी हिंसक नहीं होता है। जो वस्तु जिस स्वामी की है उसके दिये बिना लेना चोरी है और हिंसा में ऐसा ही होता है। अतः सिद्ध होता है कि हिंसा चोरी है, जो त्याज्य है।

हिंसा निषेध के पक्ष में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि हिंसा से जीवों को वेदना या कष्ट होता है और वेदना से दुःख।[२७] वेदना और दुःख जीवों को अप्रिय और प्रतिकूल है तथा सुख प्रिय और अनुकूल है अर्थात् दुःख भय और अशान्तिरूप है,[२८] जिसे कोई भी जीव नही चाहता है। यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि जो एकेन्द्रिय जीव है, जैसे पृथ्वीकाय जीव, अग्निकाय जीव, वनस्पतिकाय जीव आदि, उनके बारे में कैसे कह सकते हैं कि उनको वेदना होती है तथा वेदना का अनुभव भी होता है, क्योंकि वे न तो चलते है, न बोलते हैं, न देखते हैं और न ही सुनते है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जैसे मनुष्य को वेदना का अनुभव होता है वैसे ही एकेन्द्रिय जीवों को भी वेदना का अनुभव होता है, क्योंकि उनमें चेतना है और जहां भी चेतना है वहां वेदना का अनुभव है। अन्तर केवल इतना है कि एकेन्द्रिय जीव वेदना को दूसरो के सामने अभिव्यक्त नहीं कर सकते है, जबकि मनुष्य आदि वेदना को अभि-

व्यक्ति कर सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पृथ्वीकाय आदि जीवों को वेदना का अनुभव होता है।

आचारांग में तीन दृष्टान्तों द्वारा इस बात को सिद्ध किया गया है कि पृथ्वीकाय जीवों को वैसे ही वेदना का अनुभव होता है जैसे मनुष्य को।[२९] अर्थात् जैसे किसी के पैर, टखने, जंघा, भुजा, कमर, नाभि, उदर, पसली, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कंधा, हाथ, अंगुली, नख, ठोड़ी, गर्दन, दांत, जिह्वा, तालु, गाल, नासिका, आँख, ललाट, सिर आदि का छेदन-भेदन करे, तब उसे जैसी पीड़ा का अनुभव होता है वैसी ही पीडा का अनुभव पृथ्वीकाय जीवों को होता है। किन्तु मनुष्य उस पीड़ा को दूसरों के सामने अभिव्यक्त कर देता है और पृथ्वीकाय जीव उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते है। एक दूसरा दृष्टान्त है, जिसमें मनुष्य भी अपनी वेदना को दूसरों के सम्मुख अभिव्यक्त नही कर सकता है। जैसे कोई मनुष्य जन्म से अंधा, बहरा, गूंगा और पंगु है उस मनुष्य को यदि कोई तलवार आदि से पीड़ा दे, तव वह न तो देख सकता हैं, न सुन सकता है, न कह सकता है और बचने के लिए भी कही नहीं जा सकता। तव क्या उस व्यक्ति के बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि उसे वेदना का अनुभव नही होता है? उस व्यक्ति के वारे में ऐसा नही कहा जा सकता है कि उसे वेदना का अनुभव नहीं होता है अर्थात् जिस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त इन्द्रियों का अभाव होने पर भी व्यक्ति को स्पर्श सम्बन्धी वेदना का अनुभव होता है किन्तु उसे प्रकट नही कर सकता है, ठीक उसी प्रकार स्पर्श इन्द्रिय से युक्त होने तथा अन्य इन्द्रियों का अभाव होने पर भी पृथ्वीकाय आदि जीवो को वेदना का अनुभव होता है।

वनस्पतिकाय जीव सजीव है तथा वेदना का अनुभव करते हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए **आचारांग** में वनस्पतिकाय जीवों के शरीर और मनुष्य शरीर में समानता वतलाई है। समानता वतलाते हुए कहा गया हैं कि जैसे मनुष्य जन्म लेता है, वढ़ता है, चेतनायुक्त है, आहार करता है, उसका शरीर उपचित-अपचित होता है, अनित्य और अशाश्वत है तथा अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है, वैसे ही वनस्पति जन्म लेती है, वढ़ती है, चेतनायुक्त है, आहार करती है, उसका शरीर उपचित-अपचित होता है, अनित्य है तथा अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।[३०] इसके आधार पर कहा जा सकता है कि वनस्पतिकाय जीवों को भी वेदना होती है।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि एकेन्द्रिय जीवो को, अन्य जीवों की तरह वेदना तथा वेदना का अनुभव होता है। अतः एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा भी निषिद्ध है।

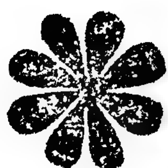
ध्यातव्य है कि **आचारांग** में त्रस जीवों की हिंसा के त्याग के साथ-साथ एकेन्द्रिय जीवों-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय

जीवों की हिंसा के त्याग पर विशेष बल दिया है। संभवतः इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—पहले, अधिकतर लोग इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि एकेन्द्रिय-पृथ्वीकाय आदि जीव होते हैं। दूसरे, यदि वे यह जानते है कि पृथ्वीकाय आदि जीव है, तब वे इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि उनको वेदना होती है। तीसरे, यदि कोई इन दोनों बातों को जानता है, तब भी वे उन जीवों को अधिक महत्त्व नहीं देते है। चौथे, उन जीवों की हिंसा सबसे अधिक होती है। ये चार कारण प्रकाश में आये हैं। इन कारणों के अतिरिक्त भी कारण हो सकते है, जिनके कारण उन जीवों की हिंसा-त्याग पर विशेष बल दिया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि हिंसा से जीवो को वेदना और दुःख होता है। किन्तु इस पर हिंसक व्यक्ति कह सकते है कि हिंसा से हमें तो सुख मिलता है। तब हिंसा त्याज्य कैसे हो सकती है? इसके समाधान में कहा गया है कि जैसे तुम्हें हिंसा से सुख मिलता है वैसे ही उन जीवों को, जिनकी तुम हिंसा करते हो, दुःख होता है और जैसे तुम सुख चाहते हो, दुःख नही, वैसे ही वे जीव सुख चाहते है दुःख नहीं अर्थात् जिस प्रकार तुम्हें सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है।[31] अतः तुम दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम दूसरों से चाहते हो।

दूसरे, जिसकी तुम हिंसा करना चाहते हो उसमें और तेरे में कोई भेद नहीं है। दोनों का तात्विक स्वरूप एक है, जैसी प्रकृति या स्वभाव तुम्हारा है, वैसा ही अन्य जीवों का है, जैसा तुम चाहते हो वैसा ही वे चाहते हैं। इसी सदर्भ में **आचारांग** में कहा गया है,[32] कि तू वही है, जिसे तू मारने योग्य मानता है, तू वही है जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, तू वही है, जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, तू वही है जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है। अतः किसी जीव की न स्वयं हिंसा करें, न किसी दूसरे से करवायें और न हिंसा करते हुए को देखकर अनुमोदन करें।

इस प्रकार उपर्युक्त चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंसा त्याज्य है। किन्तु यहां प्रश्न है कि हिंसा का त्याग कैसे किया जाये? अर्थात् हिंसा का त्याग करने के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? इस प्रश्न के समाधान के पूर्व निम्न दो प्रश्नों का समाधान आवश्यक है कि हिंसा का निमित्त या हेतु क्या है? दूसरे, किस प्रकार के व्यक्ति हिंसा करते हैं और किस प्रकार के व्यक्ति हिंसा नही करते है? इसे यों भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति कब हिंसा करते हैं और कब नहीं? पहले प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि वर्तमान जीवन की रक्षा के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म-मृत्यु सम्बन्धी प्रसंगों के लिए, परम शांति प्राप्त करने के लिए, दुःखों को दूर करने के लिए और कुछ व्यक्ति निष्प्रयोजन ही हिंसा करते हैं। ये हिंसा के निमित्त हैं।[33] दूसरे प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जो हिंसा



'आचारांग' में अहिंसा का स्वरूप

☐ श्री प्रकाश सालेचा

अहिंसा के विषय में विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने स्तर पर चर्चा की है किन्तु अहिंसा के सम्बन्ध में जितना गहन एवं सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन ने किया है, अपेक्षाकृत अन्य दर्शनों ने नहीं। अहिंसा के विषय में यद्यपि वैदिक दर्शन में भी चर्चा मिलती है, किन्तु अहिंसा वैदिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नही है। वेद की दार्शनिक चर्चा सृष्टि के विषय में है। बौद्ध दर्शन में अहिंसा का विचार मिलता है किन्तु उसमें चार आर्य सत्यो की चर्चा मुख्य है। जैन दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ 'आचारांग' सूत्र माना जाता है। भगवान महावीर ने इसमे अहिंसा को मुख्य स्थान दिया है। 'आचारांग' सूत्र में धर्म की दो प्रकार से व्याख्या की गयी है—

१. अहिंसामूलक :—अहिंसा को शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म बताया गया है—**'एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए'**।

२. समतामूलक :—अहिंसा का आधार समता है। समता के दो पक्ष हैं, प्रथम सबको अपने समान समझना। इसके आधार पर 'आचारांग' की घोषणा है **'तुमसि णाम तं चेव ण हंतव्वं ति मण्णसि'**। समता का दूसरा अर्थ है—छोटे और बड़े के बीच भेदभाव नही रखना, यथा—**णो हीणे णो अतिरित्ते'**।

अहिंसा की दृष्टि में सब जीव समान हैं। न कोई छोटा है न कोई बड़ा है। इस दृष्टि से छोटे से छोटे जीव को भी उपेक्षा नही की जा सकती है। अग्नि, जल, वायु, पृथ्वीकाय जीव-विकास के क्रम में सबसे नीचे है किन्तु 'आचारांग' में अहिंसा की चर्चा इन्ही की अहिंसा से चालू की गई है। वर्तमान भाषा में महावीर की अहिंसा का कार्यक्रम अन्त्योदय कार्यक्रम जैसा था। विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की अहिंसा की चर्चा आज के युग में सबसे ज्यादा प्रासंगिक है। क्योकि यह वर्तमान की बहुत बड़ी समस्या पर्यावरण-प्रदूषण की रामबाण औषधि है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की अहिंसा का अर्थ है प्रकृति के कार्यों में हस्तक्षेप नही करना और पर्यावरण-प्रदूषण से बचाने में यही एक मात्र अचूक रामबाण है। प्राकृतिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए अहिंसा का होना अति आवश्यक है। इसलिए छोटे से छोटे प्राणी की हिंसा का समर्थन नही किया जा सकता।

अहिंसा का फल है सबको अभयदान यथा **'लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतो भयं।'** दुःख से हर व्यक्ति भयभीत है। हिंसा के अनेक कारणहै —

'इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयगाए, जाइ मरण मोयगाए, दुक्खपडिग्घायहेउं जीव एमारंभति' अर्थात् प्रशंसा, आत्म-पूजा के लिए, जन्म-मरण के भय से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य हिंसा करता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के उपकरण प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य हिंसा करता है और बिना किसी प्रयोजन के भी हिंसा की जा सकती है। हिंसा के लिए 'आचारांग' में एक शब्द प्रयुक्त हुआ है **'समारम्भ'**। सम्भवतः 'समारम्भ' में वही धातु है जो मीमांसा दर्शन के आलंभन यज्ञ में पशु का आलंभन करने के विधान रूप में है। इसी कारण जैन-दर्शन में 'आरम्भ' या 'समारम्भ' हिंसा के लिए प्रयुक्त होने लगा। हमारे कर्म मात्र में समारम्भ निहित रहता है इसीलिये 'आचारांग' सूत्र में मुनि से कहा—**'जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मेत्ति बेमि'** अर्थात् इस लोक में जो कर्म-समारंभ का ज्ञाता है वास्तव में वही मुनि परिज्ञात कर्मा है। 'परिज्ञा' के दो अर्थ है—(१) जानना और (२) छोड़ना।

वस्तुतः ज्ञान ही त्याग है। **'णाणं पच्चक्खाणं'** ज्ञान के भी दो विषय है—स्व और पर। 'स्व' का ज्ञान निश्चय अहिंसा है। 'पर' के ज्ञान से व्यवहार अहिंसा फलित होती है, इसलिए अहिंसा के लिए ज्ञान पर बहुत बल दिया गया है—**'पढमं णाणं तओ दया'**। अहिंसा के लिए वीतरागता आवश्यक है क्योंकि वीतरागी व्यक्ति ही सच्चा अहिंसक हो सकता है। वर्तमान में हम दूसरे के प्राणों का हनन करने मात्र को हिंसा मानते है, परन्तु दूसरों के प्राण हनन करने के पूर्व जीव अपने स्वयं के द्रव्य एवं भाव प्राणों का घात करता है। इस बात को समझाते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' नामक ग्रन्थ में हिंसा के चार भंगों का निरूपण किया गया है—

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां, द्रव्यभावरूपाणाम्
व्यपरोपणस्य करणं, सुनिश्चितता भवति सा हिंसा (४३)

जिस पुरुष के मन, वचन, काया में क्रोधादिक कषाय प्रकट होते है, उसके शुद्धोपयोग रूप भाव प्राणों का घात तो पहले होता है, क्योंकि कषाय के उदय से भाव प्राण का व्यपरोपण होता है। यह प्रथम हिंसा है। पश्चात् यदि कषाय के तीव्र उदय में वह हस्तपादादिक से अपने अंग को कष्ट पहुँचाता है अर्थात् आत्मघात कर लेता है तो उसके द्रव्य प्राणों का व्यपरोपण होता है। यह दूसरी हिंसा है। फिर उसके द्वारा कहे गये अशुभ वचनों से, हास्यादि से लक्ष्यपुरुष के अन्तरंग में पीड़ा होकर उसके भाव प्राणों का व्यपरोपण होता है, यह तीसरी हिंसा है। और अन्त में तीव्र कषाय और प्रमाद से लक्ष्यपुरुष को जो शारीरिक अंग-छेदन आदि की पीड़ा पहुँचाई जाती है, पर द्रव्य प्राण, व्यपरोपण होता है, यह चौथी हिंसा है। सारांश यह कि कषाय भाव से अपने एवं पर के भाव प्राण व द्रव्य प्रा । का घात करना हिंसा का लक्षण है।

अपने शुद्धोपयोग प्राणों का घात रागादिक भावों से होता है अतः रागादिक भावों का अभाव ही सच्ची अहिंसा है। राग का अभाव अहिंसा तथा सद्भाव हिंसा कहलाती है। अतः वीतराग व्यक्ति न किसी के प्रति आकृष्ट होता है और न किसी से खिन्न होता है—

यथा णारतिं सहती वीरे, वीरे णो सहति रतिं।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जति"

'आचारांग' का प्रारम्भ 'शस्त्र परिज्ञा' से होता है। शस्त्र की परिज्ञा का अर्थ है शस्त्र का ज्ञान और शस्त्र को छोडना। अहिंसा के दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि अपनी तथा दूसरों की सत्ता मानी जाय। इसे आत्मवाद तथा लोकवाद कहा गया है। आत्मा में कर्तृत्व मानना क्रियावाद है तथा कर्म का फल होता है यह कर्मवाद है। ये चारों अहिंसा के आधार स्तम्भ हैं—

'से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी।'

अहिंसा के तीन भंग हैं—करना, कराना तथा अनुमोदन। इन तीन भंगों को तीन करण मन, वचन व कर्म से गुणित करने पर अहिंसा के नौ भंग हो जाते हैं। यद्यपि अनेक जीव वोल नही पाते किन्तु उन्हें पीड़ा का अनुभव होता है, कुछ जीव अपने स्थान से हिल भी नहीं पाते किन्तु पीड़ा का अनुभव करते है। अहिंसा का आधार यह नही कि जो अपनी पीड़ा अभिव्यक्त नही कर सके हम उसके प्रति अहिंसक न हों। अहिंसा की दृष्टि मे सव समान है इसलिए 'आचारांग' सूत्र के प्रथम अध्ययन मे ही वनस्पतिकाय के साथ-साथ जल, अग्नि, वायु तथा पृथ्वी के प्रति भी अहिंसा का प्रतिपादन है। इन चारो को सत्व कहते हैं—

प्राणाः द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृता।
जीवाः पंचेन्द्रिया प्रोक्ता. शेषाः सत्वा उदीरिता॥

वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव प्राण, वनस्पतिकायिक जीव भूत, पांच इन्द्रिय वाले जीव तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारक ये जीव एवं पृथ्वी, अप, अग्नि और वायुकाय के जीव सत्व कहलाते हैं। इन चारों प्रकार के प्राणियों की हिंसा करने का 'आचाराग' सूत्र में निषेध किया गया है।

'आचारांग' सूत्र का अध्ययन करने के पश्चात् ऐसा फलित होता है कि हिंसा-अहिंसा का विचार प्रमाद-अप्रमाद को केन्द्र में रखकर हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे प्रमाद को ही हिंसा का कारण वताया है **यथा—'प्रमतयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा'** 'आचाराग' सूत्र एवं 'सूत्रकृतांग' सूत्र में अप्रमाद को लेकर संयम साधना की चर्चा की गयी है। जव तक जीव में अज्ञानता है, प्रमाद है तव तक जीव मूढ़ है, धर्म को जान नही सकता। जो प्रमत्त है वही हनन-छेदन आदि करता है जैसा कि 'आचारांग' सूत्र मे कहा है—**जे पमत्ता से**

हंता छेता भेत्ता लुंपिता विलुंचिता उछवेत्ता उतासयिता अकडं करिस्सामि ति मण्णमाणे।' अतएव जो मुनि है, कुशल है, वह प्रमाद नहीं करता और उसे महाभय समझकर किसी की हिंसा नहीं करता। इस प्रकार पाप कर्म या हिंसा में प्रमाद की मुख्यता मानी गयी है।

पापजनकता प्रमाद में मानी गयी है, केवल प्राणातिपात में नही। इस प्रकार 'आचारांग' सूत्र में अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। सभी जीवों के प्रति समता भाव रखने वाला जीव अहिंसक हो सकता है।

कार्यालय सचिव,
स्वाध्याय संघ, जोधपुर।

हिंसा का डर

□ डॉ० भैरूंलाल गर्ग

एक महान् मुस्लिम संत हुई है राबिया। एक बार वह एक जंगल में घूमने गयी। वह बड़े प्रेम से इधर-उधर-उड़ने वाले पक्षियों और घूमने वाले जंगली पशुओं को देखसे लगी। इतने में बहुत से जानवर उसके आस-पास आकर इकट्ठे हो गये। कुछ तो उसके बदन पर ही बैठ गये। यह देख राबिया को बड़ा सुख मिला।

तभी कहीं से एक दूसरे संत हसन बसरी उधर आ निकले। उन्होंने दूर से ही यह दृश्य देखा तो आश्चर्य चकित हो गये, उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। लेकिन जैसे ही वे राबिया के निकट पहुँचे, सारे जानवर भाग गये और पक्षी इधर-उधर उड़ गये।

हसन बसरी को यह देख बुरा लगा। उन्होंने दुःखी मन से राबिया से इसका कारण जानना चाहा। वे बोले, "राबिया, यह क्या बात है कि इतने जानवर और परिन्दे तुम्हारे पास जमा हो गये थे और बड़ी मुहब्बत से तुम्हें घेरे हुए थे, पर मेरे आते ही सब ऐसे भाग छटे जैसे मैं कोई खूखार आदमी होऊं!"

राबिया ने पूछा, "तुम क्या खाते हो?"

हसनबसरी बोले, "उससे तुम्हे क्या काम?"

राबिया बोली, "काम है तभी तो पूछा है।"

हसनबसरी ने जबाब दिया, "मैं गोश्त खाता हूँ।"

राबिया ने कहा, "गोश्त खाते हो और चाहते हो कि जानवर और परिन्दे तुम्हारे पास आवें। यह कैसे हो सकता है कि जिन्हे तुम मारते हो वे तुमसे डरें नही और भागे नही? जल्लाद से किसे डर नही लगता? किसे अपनी जान प्यारी नही होती?"

यह सुन हसनवसरी की आंखे खुल गयीं।

—हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, भीलवाडा।



बौद्ध धर्म में अहिंसा

□ डॉ. भागचन्द जैन भास्कर

तथागत बुद्ध धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के अग्रदूत थे। उन्होंने विपाक्त वातावरण में पले-पुसे तत्कालीन धर्म और समाज में समता और अहिंसा का गहन सूत्रपात किया था। श्रमण संस्कृति के मनस्वी उद्घोपक के रूप में उनका अनुपम योगदान अविस्मरणीय है। महाकारुणिकता और मानवता के पुजारी भगवान बुद्ध का चुम्बकीय व्यक्तित्व चारित्रिक क्षेत्र में एक मील का पत्थर बन गया है। उनकी तपःपूत साधना ने भौतिकता की चकाचौंध में अंधीभूत संसार को जो नई ज्योति दी है, वह अपने आप में एक मानदण्ड बनी हुई है।

अहिंसा शास्त्रों की देशना की आधारशिला है। उसी को उन्होंने 'सद्धम्म' की संज्ञा से अभिहित किया है। बौद्ध साहित्य मे 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उन्हें हम समासतः तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ पाते हैं—पदार्थ, स्वभाव और शील। पदार्थ को यहाँ संस्कृत कहा जाता है जो उत्पत्ति, स्थिति और समाहार का प्रतीक है। हीनयान में इन संस्कृत पदार्थों को स्वीकार किया गया था पर माध्यमिकों ने उसे नहीं माना। वे संस्कृत पदार्थों का उत्पादन न संस्कृत रूप से मानते हैं और न असंस्कृत रूप से। उनकी दृष्टि में ये उत्पादादि न व्यस्त रूप से पदार्थ के लक्षण होंगे और न समस्त रूप से। वे तो तत्वतः निःस्वभावी हैं। वाह्यार्थ वहाँ अस्तित्वहीन है। धर्म का अर्थ जब स्वभाव होता है तब उसे हम परमार्थ के रूप में देखते है जो प्रतीत्यसमुत्पन्नता को ज्ञापित करता है। तृतीय अर्थ में वह सद्धम्म अथवा शील के सन्दर्भ में दृष्टव्य है। चन्द्रकीर्ति ने धर्म शब्द को इन्हीं अर्थों में बांधा है—धर्मशब्दोऽयं प्रवचने त्रिधाव्यवस्थापितः स्वलक्षणधारणार्थेन कुगतिगमनविधारणार्थेन, .. पाञ्चगतिकसंसारगमनविधारणार्थेन (प्रसन्नपदा, माध्यमिककारिका, (पृ. ३०४)। मौग्गलान थेर ने अभिधानप्पदीपिका (३.७८४) में इसी तथ्य को पुष्ट किया है—

धम्मो सभावे परियत्तिपञ्ञा-भावेसु सच्चापकतीसु पुञ्ञे।
भेय्ये गुणाचार समाधिसूपि निस्सत्ततापत्तिसु कारणादो॥

धर्म के प्रथम दो अर्थ पदार्थ की व्याख्या से सम्बद्ध है और तृतीय अर्थ व्यक्ति के आचार को स्पष्ट करता है। आर्यदेव ने शील के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि समासतः अहिंसा ही धर्म है। केवल स्वभावशून्यता को ही

निर्वाण कहा है। यही दोनों धर्म हैं। किसी प्राणी के अपकार की और अपकार के लिए किये गये शारीरिक और वाचिक कर्म हिंसा कहलाती है। उसके विपरीत अहिंसा है। दश कुशल कर्म ही उसके पथ है। किञ्चित भी परोपकार अहिंसा के अन्तर्गत आ जाता है। तथागतों ने संक्षेपतः धर्म और अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। स्वभावशून्यता को तथागतों ने निर्वाण माना है। जो अहिंसा से भी श्रेष्ठतर है। अहिंसा से स्वर्ग प्राप्ति होती है और शून्यता से निर्वाण मिलता है। तथागत द्वारा प्रतिपादित दोनों धर्म इसी में परिशुद्धि (केवल) को प्राप्त होते है—

धर्म समासतोऽहिंसां, वर्णयन्ति तथागतः।
शून्यतामेव निर्वाणं, केवल तदिहोभयम् ॥

चतुःशतक, २९८

आर्यदेव की इस व्याख्या से यदि हम सहमत हैं तो अहिंसा को प्रतीत्य-समुत्पाद और निर्वाण से सम्बद्ध मानना होगा। ऐसी स्थिति में बौद्धधर्म का सारा प्रासाद अहिंसा की भूमिका पर स्पष्टतः खड़ा हो जाता है। सम्बोधि के बाद बुद्ध के प्रथम वचन के विषय में बौद्ध परम्परा भले ही एकमत न हो पर अहिंसा की इस व्याख्या की सीमा में तथागत की वह सारी देशना समाहित हो जाती है जिसमें उन्होंने चतुरार्यसत्य का वर्णन किया है। ब्रह्मयाचना की स्वीकृति महायान की आध्यात्मिकता की उत्पत्ति है, कारुणिकता का विकास है और सामुदायिक चेतना का उत्स है। इसकी मूल भावना 'सुत्तनिपात' के मेत्तसुत्त (४–५) में द्रष्टव्य है—

ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीना वा ये महान्ता वा मज्झिमा रस्मकाणुक थूला ॥
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा संभवेसी वा सव्वे सत्ता भवंति सुखितत्ता ॥

'सयुत्तनिकाय' में अहिंसक उसे कहा है जो काया, मन, वचन से हिंसा नही करता और दूसरे को नहीं सताता।[1] अहिंसक की यह परिभाषा बड़ी व्यापक और मानवता से आपूर है। हिसामय यज्ञों का विरोध कर दान-पुण्य के कर्म को ही सबसे बडा यज्ञ भगवान बुद्ध ने माना है (चतुक्कनिपात, अंगुत्तरनिकाय)। तदनुसार व्यक्ति को तीन प्रकार की शुचिता प्राप्त करनी चाहिए—[2]

---

१. यो च कायेन वाचाय, मनसा च न हिंसति।
सर्व अहिंसको होति, यो परं न विहिंसती ति ॥

२. अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात

(१) कायिक शुचिता—प्राणिहिंसा, चोरी एवं मिथ्याचार से विरति।

(२) वाचिक शुचिता—मृषावाद, पैशुन्य, कठोर वचन तथा व्यर्थ वचन से विरति।

(३) मानसिक शुचिता—क्रोध, लोभ, मिथ्यादृष्टि, आलस्य, औद्धत्य, कौकृत्य, विचिकित्सा आदि से विरति।

संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं के अनुकूल रहता हो। तदर्थ उसमें मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाओं पर बल दिया गया है।[1] सभी प्राणियों के प्रति मित्रता के भावप्रदर्शन को ही ब्रह्मविहार कहा गया है।[2] अहिंसा का सम्बन्ध किसी का भी वंचन अथवा अपमान न करने से भी है।[3] प्राणियों के साथ अहिंसक का व्यवहार मातृवत् होता है।[4]

बुद्धघोष की शील की व्याख्या में अहिंसा की व्याख्या देखी जा सकती है। उन्होंने विधेयात्मक और निषेधात्मक आधार पर शील को चारित्र और वारित्र के रूप में विभक्त किया है और त्रिक मे उसे हीन, मध्यम और प्रणीत आकार में व्यवस्थित किया है। प्रणीतशील पारमिताशील है। अपनी मुक्ति के लिए पाला गया शील मध्यम शील है और भोग-सम्पत्ति के लिए पाला गया शील हीन शील है। चतुष्क शील में प्रातिमोक्षसंवर, इन्द्रिय संवर, आजीव-पारिशुद्धि और प्रत्यय संनिश्रित शील को व्याख्यायित किया है। शील की इस बहुविध व्याख्या में अणुव्रत और महाव्रत का रूप भी दृष्टव्य है जिसे अहिंसा के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

तथागत बुद्ध के अधिकांश उपदेश भिक्षुओं को सम्बोधित कर दिये गये हैं। 'दिव्यावदान' में तो गृहस्थ धर्म को आत्मबोधि मे अन्तराय माना है—आर्य अहं तावद् गृहवासे परिगृद्धो विषयाभिरतिश्च।[5] वानप्रस्थाश्रम भी अपेक्षित नहीं। सीधे भिक्षु बना जा सकता है।[6] इसके बावजूद चूँकि सभी जन घर-बार नहीं छोड़ सकते थे, इसलिए उन्होंने कुछ धर्मदेशना गृहस्थों के लिए भी दी है। 'दीघनिकाय' (सिगालोवाद सुत्त), 'सुत्तनिपात' आदि ग्रन्थ बौद्ध गृहस्थ धर्म की दृष्टि से उपयोगी हैं। बुद्धघोष ने भी 'विसुद्धि-मग्ग' के शील-निर्देश में इसकी व्याख्या की है।

---

१. दीघनिकाय, तेविज्जसुत्त
२. विनयपिटक, पातिमोक्ख
३. मेत्तसुत्त
४. संयुत्तनिकाय, पदसुत्त
५. पांशुप्रदानावदान, पृ. २१७
६. पूर्णावदान, पृ. २

बौद्धधर्म में अहिंसा के स्वरूप को विकासात्मक सोपानों में समझा जा सकता है। उसका प्रारम्भिक स्वरूप धर्मदेशना में दृष्टव्य है। बाद में चेतना कर्म के आधार पर चार पापकर्मों (पाणातिपात, अदिन्नादान, कामेसु-मिच्छाचार, मुसावाद)[१] और 'सुरामेय्यमज्जप्पमादट्ठान' को जोड़कर पंचपापों से विरमण रूप पञ्चशील को प्रस्थापित किया गया। 'मनोपुब्बंगमा धम्मा' के आधार पर अकुशल कर्म को तीन भागों मे विभाजित किया गया—कायकर्म, वाक्कर्म और मनःकर्म। प्राण, प्राणकी संज्ञा (ज्ञान), घातकचित्त, उपक्रम तथा मृत्यु, ये पांच प्राणातिपात की बधकचेतना के कारणीभूत अंग है। इन पांच अंगों के पूर्ण होने पर ही प्राणातिपात कर्मपाप होता है। अपराध का छोटा-बड़ा होना, मरने वाले के छोटे-बड़े होने पर निर्भर करता है।[२] प्राणातिपात में ज्ञान, संकल्प, प्रयत्न और प्रयत्न के पदविसान के रूप में मृत्यु होना आवश्यक है। प्रयत्नों में स्वद्वस्तिक, आज्ञप्तिक, नैसर्गिक, विद्याश्रय, ऋद्धिमय और स्तम्भोत्कीर्णन मुख्य हैं।[३] इसी प्रकार अदत्तादान के सन्दर्भ में भी है। काम-मिथ्याचार के सन्दर्भ में कहा गया है कि मातृरक्षिता, पितृरक्षिता, माता-पितृ-रक्षिता, भगिनीरक्षिता, भ्रातृरक्षिता, ज्ञानिरक्षिता, गोत्ररक्षिता तथा धर्मरक्षिता महिलाओं के साथ किन्हीं कारणवश सहवास किया जा सकता है। इसमें कायदुश्चरित होता है, काम मिथ्याचार नहीं। भ्रम से भी संपर्क होने पर पापचेतना न होने के कारण उसमें दोष नही लगेगा।[४] उत्तरकालीन स्थविरवाद में पनपी इस विचारधारा का यह एक अंश है जिसमें कामसेवन का चित्त न होने पर यदि कामसेवन किया जाये तो वह कर्मपथ नही होता। 'सूत्रकृतांग' में शीलांकाचार्य ने इसी का वर्णन किया है।[५]

जातक कथा काल में कदाचित् मांसभक्षण अधिक लोकप्रिय हो गया होगा।[६] नियुक्तिकार ने अट्ठसालिनी के ही अनुसार हिंसा के पांच कारणों का उल्लेख किया है और कहा है कि बौद्ध धर्म के अनुसार परिज्ञोपचित (मनो-व्यापार), अविज्ञोपचित (शरीर व्यापार), ईर्यापथ व स्वप्नांतिक ये चतुर्विध-कर्म उपचय को प्राप्त नही होते। जैसे दीवाल पर फेंकी गई धूलि स्पर्श के बाद ही बिखर जाती है इसी तरह ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते है। इसलिए उन कर्मों का उपचय नही होता। इसके समर्थन में संयुत्तनिकाय (२.१२.७.३.) में एक उदाहरण दिया गया है जिसका उल्लेख बुद्धघोष ने

१. दीघनिकाय, सिगालोवादसुत्त, ८.१४
२. अट्ठसालिनी, पृ ८०
३. सुमंगलविलासिनी, भाग १, पृ. ७०
४. अट्ठसालिनी, पृ ८०–८१
५. सूत्र वृत्ति. पृ ९७/१, ११ २६–२८; ६३८–६४२; १.१ २.२८
६. मोरजातक, सुमंगल जातक; जातककालीन भारतीय संस्कृति, पृ. २१४

'विसुद्धिमग्ग' में किया है[1] कि जैसे राग-द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बडी विपत्ति के समय उसके उद्धारार्थ आहार के लिए अपने पुत्र को मारकर मांस-भक्षण करता हुआ भी कर्मवन्ध को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही साधु भी मांसभक्षण करता हुआ भी कर्मबन्ध नही करता।

बौद्धाचार सम्बन्धी इन उल्लेखों के देखने से स्पष्ट है कि उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय अत्यधिक शिथिल हो गये थे। उनके धर्म के परिपालन में मांसभक्षण का निषेध नही था। शर्त यह अवश्य थी कि साधक का यह मांसभक्षण त्रिकोटिपरिशुद्ध होना चाहिए।[2] पातिमोक्ख मे इस प्रकार के अनेक नियमों का विधान भी किया गया है। पालि साहित्य में भी बौद्धों को मांस भक्षण करते हुए देखा गया है। यहाँ तक कि भगवान बुद्ध को भी मांस भक्षण करते हुए वता दिया गया है। सीह सेनापति बुद्ध का उपासक हो जाने पर बुद्धसंघ के लिए मांसमिश्रित भोजन देता है जिसका तीव्र विरोध निगण्ठ करते हुए दिखाई देते है।[3]

'दीघनिकाय' के महापरिनिव्वानसुत्त के अनुसार अन्तिम यात्रा के समय चुन्द सोनार ने उन्हे 'सूकरमद्दव' दिया जो उनकी मृत्यु का कारण बना।[4] 'सूकरमद्दव' शब्द का अनुवाद विवादग्रस्त रहा है। बुद्धघोष ने इसका अर्थ सूकर का मांस किया है जबकि उदान अट्ठकथा ने उसे शकरकंद का पाक माना है। अथवा यह कोई ऐसा पौधा है जिसे सूकर कुचल देते थे। कुछ विद्वान उसे अहिच्छत्तक नामक पौधा (mushroom) मानते है जो ऐसी जगह उत्पन्न होता है जिसे सूकर कुचल दिया करते है।[5] रिज डेविड्स ने उसका अर्थ गाठदार पौधा (a quantity of trubbles) किया है (Dial, II. ii. 137).

मेरी दृष्टि में महाकारुणिक भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व के साथ सूकर मांस भक्षण अकल्पित-सा लगता है। फिर इसकी दो सम्भावनाएँ हो सकती है। प्रथम तो यह कि आयुर्वेद ग्रन्थों में पशुओं के नाम पर औषधियो के नाम उपलब्ध होते हैं। महाराष्ट्र में शकर कंद के लिए डुक्करकंद कहा जाता है। यह एक गोलाकार कंद होता है जो स्वाद मे कडुवा तथा नशीला-सा होता है। दूसरी वात यह कि यदि यह शूकर मास है तो निश्चित ही यह अंश उत्तरकालीन है अतः प्रक्षिप्त है। महापरिनिव्वानसुत्त रिपोर्टिंग मेटर प्रस्तुत करता है जो

---

१ कन्तारनित्थरणत्थिका पुत्तमंस विय, विसुद्धिमग्ग, पृ. २८
हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ. ३४; सूत्रकृताग वृत्ति, १.१ २.२८

२. तेलोवाद जातक, २४६

३. मज्झिमनिकाय, जीवकसुत्त

४. महापरिनिव्वानसुत्त, ३.१९ ६२

५. उदान, अट्ठकथा, ३ १९९

बाद का ही होना चाहिए। पालि यद्यपि प्राकृत का ही प्राचीनतम रूप है पर महावीरनिब्बानसुत्त में उत्तरकालीन प्राकृत की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं—उदाहरणार्थ, लहुट्ठान (३.१.३), अभिण्हं (३.१.४), वुट्टहन्ति (३.१.४), अज्जतनाय (३.६.२३), आहुनेय्यो–पाहुनेय्यो (३.७.२६), अज्भत्त (३.१३.४३), निरवणाहि (३.१६.६२), पहूतं (३.१६.६२), पहियत्त (३.१६.६२), अलत्थ (३.२३.८८) आदि। यही कारण है कि बुद्धचरित, सौन्दरानन्द आदि ग्रंथों में इस घटना का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। लंकावतार सूत्र में तो उसका स्पष्टतः खण्डन किया गया है।

बौद्ध धर्म मे मुख्य कर्म चेतना कर्म माना गया है। उसे चित्त सहगतधर्म कहा गया है। मानसिक धर्म उसकी अपर संज्ञा है। यह चेतना चित्त को आकार विशेष प्रदान करती है और प्रतिसन्धि (जन्म) के योग्य बनाती है। चेतना के कारण ही शुभाशुभ कर्म होते है और तदनुसार ही उसका फल होता है। यह मनसिकार दो प्रकार का है—योनिशो मनसिकार और अयोनिशो मनसिकार। इनमे प्रथम सम्यक्त्व है और द्वितीय मिथ्यात्व। जैन धर्म में इस चेतना कर्म को भाव कहा गया है। वह कुशल-अकुशल के समान शुद्ध-अशुद्ध होता है। चेतना कर्म के दो रूप है—दर्शन और ज्ञान। चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना ये सभी शब्द समानार्थक है। योनिशो मनसिकार को ज्ञान चेतना और अयोनिशी मनसिकार को अज्ञानचेतना कह सकते है। बौद्ध धर्म की अहिंसा अज्ञानचेतना से अधिक संबद्ध प्रतीत होती है। बौद्धधर्म का अहिंसक जैन धर्म की दृष्टि से हिंसक ही है क्योंकि हिंसा के पीछे उस तथाकथित अहिंसक की प्रेरक भावना काम करती है।

बौद्ध भिक्षु का शिथिलाचार थेरगाथा में बहुत अधिक स्पष्ट हुआ है जहाँ कहा गया है कि पाप वासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षस जैसी खेल रही है। वे ठग है, असयमी है और आमिष का उपभोग करने वाले है।[1] शीलांकाचार्य ने भी उनकी जीवनचर्या का विशद वर्णन किया है।[2]

लगता है, पालि साहित्य मे उपलब्ध मांस भक्षण की विहितता के विरोध में एक सबल आन्दोलन चला होगा। पालि साहित्य को छोड़कर वज्रयान के पूर्व तक का बौद्ध संस्कृत साहित्य साधारणतः मांस भक्षण को अस्वीकार करता है। उसका अहिंसा का चिंतन और गहरा हुआ है। यह स्वाभाविक भी था। पारमिताओ की बात करने के साथ मांस भक्षण युक्त अहिसा के चिंतन में गहनता नही आ पाती। अप्रत्यक्षतः हिंसा का दोष भक्षक पर आ ही जाता है।

१ थेरगाथा, ६२१, ६२८, ६३८–६.

२ मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापरान्हे।
द्राक्षाखण्ड शर्करा चार्धरात्रौ, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्ट. ॥

—सूत्रकृतांग, वृत्ति, ११.२७–२८

'उद्योग पर्व' से हम जानते है कि आगामी युद्ध अवश्यंभावी न हो, इसलिये विदुर का प्रयत्न निष्फल रहा। श्री कृष्ण ने भी हिंसा को रोकने के लिये यथा-शक्ति प्रयत्न किया। दुर्योधन की राजसभा में प्रविष्ट होकर उन्होने कहा कि मैं वीर पुरुषों का संहार न हो, इसलिये उपदेश देने के हेतु यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। मै आपके हित के लिए आया हूँ। कुरु वंश की विशिष्टता रही है कि उस वंश में जन्म लेने वाले सरलता, आनृशस्य, क्षमा और सत्य मे सबसे अधिक है। इस वंश मे जन्म लेने वाले दया के विरुद्ध वर्तन करें तो अनुचित होगा। पांडव तो मात्र पांच गाँव से भी सन्तुष्ट होगे। यदि आप उपदेश से प्रतिकूल आचरण करेंगे तो समग्र पृथ्वी का नाश होगा। युद्ध से तो भयानक विनाश होगा। इस तरह श्रीकृष्ण ने हिंसा रोकने के लिए भरसक प्रयत्न किया, फिर भी उसका कोई परिणाम निकला नहीं क्योंकि—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः।

अर्थात् दुर्योधन धर्म का स्वरूप मात्र जानता था उसका आचरण करते में असमर्थ था। यदि वह अधर्म से निवृत्त हो गया होता तो भीषण युद्ध की नौवत ही न आती।

'महाभारत' के अन्त मे भीषण संग्राम हुआ तथापि 'महाभारत' का मुख्य रस वीर कदापि नही है। मुख्य रस शान्त रस है। 'ध्वन्यालोक' (चतुर्थ उद्योत) में आनन्दवर्धन ने स्पस्ट प्रतिपादन किया है कि **सत्यं शान्तस्य एव रसस्य अंगित्वं महाभारते।**' क्योंकि इस महाकाव्य में अहिंसा आदि धर्म का प्रचार स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है।

'महाभारत' के शांतिपर्व मे अहिंसा का फल भी दर्शाया गया है—

सर्वजीवदयार्थं, तु च न हिंससि प्राणिनः।
निश्चितं धर्म सयुक्ता, स नराः स्वर्गगामिः॥

अर्थात् जो सर्व जीव की दया के हेतु प्राणियों की हिंसा नही करते है वे मानव धर्मयुक्त और पुण्यशालो वनकर स्वर्ग में स्थान प्राप्त करते है।

अन्य ग्रन्थों में भी अहिसा के वारे मे उत्कृष्ट विचार मिलते है, 'इतिहास समुच्चय' अध्याय २६ श्लोक १६७ मे कहा गया है कि—

नास्ति अहिंसा परं पुण्यं, नास्त्यहिंसापरं सुखम्।
नास्त्यहिंसापरं ज्ञानं, नास्त्यहिंसापरं दमः॥

अर्थात् अहिंसा से उत्तम कोई पुण्य नहीं है। अहिंसा से उत्तम कोई सुख ज्ञान और अन्य उत्तम इन्द्रिय-दमन भी नही है।

पुण्यवर्धन नृत्य कथा पत्रांक ८ श्लोक २०४ में कहा गया है कि—

लक्ष्मीः पाणितले तस्य, स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणे।
कुरुते यो जनः सर्वजीवरक्षां सदा आदरात्॥

अर्थात् जो मानव सदा आदरपूर्वक सर्व प्राणियों की रक्षा करता है, उसके लक्ष्मी का वास है और उसके घर के आंगन में स्वर्ग है।

'पद्मपुराण' में भी कहा गया है कि—

अहिंसा परमो धर्मः हि, अहिंसा एव परं तपः ।।
अहिंसा परमं दानम्, इत्याहुः मुनयः सदाः ।।

(अ. ३१, श्लोक २७)

अर्थात् अहिंसा उत्तम धर्म है, वह ही उत्तम तप है, वह ही उत्तम दान मुनियों का कथन है।

श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित 'योगशास्त्र' (२.२०) में कहा गया है कि—

आत्मवत् सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत् ।।

अर्थात् अपनी तरह सब प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। रह विचार रखते हुए बुद्धिमान को अपने को जो प्रिय नही है, ऐसी हिंसा न्य के प्रति आचरण न करना चाहिए।

हमारी संस्कृति के 'महाभारत' आदि कई संरक्षक ग्रंथ है उनमें वैरभाव ने वाली अहिंसा का पद-पद पर उपदेश दिया गया है। पाच महाव्रतो में हिसा को स्थान मिला है। जैनधर्म में सूक्ष्मता से अहिंसा का विचार गया है और साधु एवं गृहस्थ के लिये अहिंसा का पालन आवश्यक है, ऐसा र गुप्ति और समितियों का पालन करने का भी उपदेश दिया गया है।

साम्प्रत काल में भी अहिंसा का आचरण ही हमारे लिये कल्याणकारक यदि हम अहिसा का अनादर करेंगे और हिंसा में प्रवृत्त होंगे तो हमने किया है उस सब का सर्वनाश हो जायेगा। हम सबमें और हमारे सुमति का प्रसार होगा तो हमें शांति, समृद्धि और सुख मिलेगा। कि हे प्रभु ! जगत् में कभी भी युद्ध न हो और सब हिलमिल कर

पुष्प्र सोसायटी, हील ड्राइव, भावनगर (गुजरात)

जो जन अहिंसा-धर्म का पालन करेगा रीति से,
संसार सब गिर जायगा उसके पगों पर प्रीति से।
अति क्रूर भी उसके लिए अतिशय सरल हो जायगा,
उसके लिए मीठी सुधा के सम गरल हो जायगा।

क्ति विधिवत् अहिंसा धर्म का पालन करेगा, सारा संसार उसके मस्तक हो जायगा। बहुत ही निष्ठुर मनुष्य भी उसके लिए अत्यन्त हो जायगा और विष उसके लिए अमृत हो जायगा।

—रामचरित उपाध्याय

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदयुग में ऋषियों की वाणी में अहिंसा की स्वर लहरियाँ झनझना रही है। मानव मात्र तक ही नहीं, उसकी अहिंसा की विराट भावनाएँ सभी प्राणियों के प्रति व्यक्त हुई हैं। मैत्री भावना का विकास उत्तरोत्तर व्यापक होता गया है। अहिंसा और मैत्री ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

वेदों के पश्चात् उपनिषद् साहित्य का निर्माण हुआ। वेदों में जिन विषयों पर विचार-चर्चाएँ नही हो सकीं या संक्षेप में चर्चाएँ हुई उनकी चर्चाएँ और विस्तार उपनिषदो में प्राप्त होते हैं। 'छान्दोग्योपनिषद्' में ऋषि ने कहा—"जो आत्मा वेदों का अध्ययन करता है, सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्त:करण में स्थापित करता है, शास्त्र की आज्ञा को धारण करता हुआ अन्य प्राणियों की हिंसा नहीं करता है, आयु की परिसमाप्ति तक इस प्र आचरण करता है, वह ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है, वह पुनः कभी संसा नहीं लौटता।[1]

'प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्'[2] और 'आरुणिकोपनिषद्'[3] में अहिंसा, द शांति आदि सद्गुण अग्निहोत्र करने वाले व्यक्ति की पत्नी की कमी की पू करते हैं। ये सद्गुण जिस व्यक्ति में अंगडाइयाँ ले रहे हों और यदि उस पत्नी नहीं हो तथापि वह यज्ञ कर सकता है। उन्होंने अहिंसा को यज्ञ का कहा है। अहिंसा व्रत की परिपूर्णता के लिए ही यज्ञ आदि किये जाते हैं।

इस प्रकार उपनिषदों में भी यत्र-तत्र अहिंसा के स्वर मुखरित हुए उन्होंने अहिंसा को महत्त्व प्रदान किया है। आत्म-दर्शन के लिए अहिंसा अति आवश्यक अंग माना है तथा स्पष्ट कहा है—यदि मन में, वचन में अ कर्म में हिंसा की ज्वालाएँ धधकती रहेंगी तो आत्म-दर्शन सम्भव नहीं है।

उपनिषदों के पश्चात् 'स्मृति' साहित्य आता है। स्मृतियों में 'मनुस्मृ का स्थान मूर्धन्य है। 'मनुस्मृति' में हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में विस्तार विश्लेपण किया गया है। यह पूर्ण सत्य है कि 'मनुस्मृति' वैदिक विधानों विस्तार से चिन्तन करती रही है।

---

१. तद्धैतद् ब्रह्मा, प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवेमनुः प्रजाभ्यः आचार्यकुला।
द्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिरोणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ
देशे स्वध्यायमधीयानो धर्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्या—
—हिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेव। वर्तयन्यावदायुष
ब्रह्मलोकमाभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त ते॥ छान्दो० ८० ८, १५, १

२. स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नी संजायः। —प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, खण्ड

३. ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रह च सत्यं च यत्नेन
हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति॥ ३॥
—आरुणिकोपनिष

'मनु स्मृति' में स्पष्ट कहा गया है—"जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, वह कार्य दूसरों के लिए कभी न करो"।[1] जो किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता, उसे बिना प्रयास के ही मनचाहा धर्म उपलब्ध हो सकता है।

वैदिक परम्परा में अश्वमेध यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व रहा है। आचार्य मनु ने कहा—"एक व्यक्ति सौ वर्षों तक अश्वमेध यज्ञ करता है, दूसरा व्यक्ति मांस नहीं खाता है। वे दोनों ही समान पुण्य के भागी हैं।"[2] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता और इन्द्रिय-निग्रह ये ऐसे धर्म है जो चारों वर्णों के लिए आवश्यक हैं।[3]

ऐतिहासिक दृष्टि से स्मृति साहित्य के पश्चात् 'सूत्र' साहित्य का स्थान है। सूत्रों में अन्य चर्चाएँ विस्तार के साथ की गइ हैं किन्तु अहिंसा पर विशेष चर्चा नहीं हुइ है। गौतम ऋषि ने सभी जीवों पर दया करना, सहिष्णुता, अक्रोध, पवित्रता, शांति, अलोभ आदि आठ आत्मिक गुण बताये हैं, और कहा है कि—जो इन गुणों को धारण करता है वह ब्रह्मा को प्राप्त होता है या उसे स्वर्ग की उपलब्धि होती हैं।[4]

महाकाव्यों में अहिंसा :

सूत्र साहित्य के पश्चात् काव्य की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पवित्र चरित्र अंकित है। उस चरित्र के माध्यम से उन्होंने जीवन के विकास के लिए सद्गुणों का उल्लेख किया है। उन्होंने अहिंसा, सत्य, आत्मसंयम, दया, सहिष्णुता, क्षमा, आतिथ्य, शत्रुओं की सहायता, मन-वचन-कर्म की शुद्धि आदि पर अत्यधिक बल दिया है।[5] सामाजिक दृष्टि से अहिंसा पर चिन्तन करते हुए हुए लिखा है—राजा, स्त्री, बालक, वृद्ध और शरणागत की रक्षा करनी चाहिये। उनका वध करना बहुत बड़ा पाप है।[6] इस ग्रन्थ में अहिंसा की चर्चा सीधे रूप से न करके पात्रों के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए की गई है।

---

१. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् —मनुस्मृति

२. वर्षे वर्षेऽश्वमेधन यो यजेत शतं समाः।
मासानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलम् समम् ॥ मनुस्मृति अ. २, १५८

३. अहिंसासत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिक धर्म चतुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ मनुस्मृति अ० १०, ६३

४. गौतम धर्मसूत्र, ७०, २२–२५

५. वा० रा० २, १०६, ३१, ६, ११३' ४३–४४, ६, १८–२७–२८

६. राजस्त्री बाल वृद्धाना वधे यत्पापमुच्यते।
भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पाप प्रतिपद्यताम ॥ वा० रा० २, ७५, ३७

रामायण के बाद महाभारत का युग आरम्भ होता है। महाभारत वेदव्यास की अद्भुत कृति है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका महत्त्व अत्यधिक है। महाभारत में पांडव-कौरवों की कथा के माध्यम से मानव-जीवन की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियो का चित्रण हुआ है। यत्र-तत्र अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अहिंसा की विराट भावना का महत्त्व बताते हुए वेदव्यास ने कहा—धर्म और अर्थ दोनों ही पुरुषार्थो से अहिंसा उच्च कोटि की है।

इस प्रकार महाभारत में अहिसा धर्म का स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। व्यास ने एक स्वर से अहिंसा की महत्ता को स्वीकार किया है। उनका यह वज्र आघोष रहा कि अहिसा ही एक मात्र महान् धर्म है।

गीता में अहिंसा

'श्रीमद्भगवद्गीता' महाभारत के 'भीष्मपर्व' का एक अंश है। कुरुक्षेत्र के मैदान मे वीर अर्जुन को श्रीकृष्ण ने जो उद्बोधन दिया वही प्रेरणादायी संदेश गीता में है। ज्ञान, भक्ति और कर्म-मार्ग का सुन्दर विवेचन इस ग्रन्थ-रत्न में हुआ है। कर्म-मार्ग का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—तप के विभिन्न प्रकार है। देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनो की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि ये शारीरिक तप है। इसके विपरीत हिसायुक्त प्रवृत्ति तामसी और राजसी प्रवृत्तियाँ है।[1]

श्री कृष्ण का यह दृढ मन्तव्य था कि अहिंसा, समता, सन्तोष, दान आदि जितने भी सुकर्म हैं, वे सभी मेरे से ही उत्पन्न हुए है।

पुराण साहित्य में अहिंसा :

'श्रीमद्भगवद् गीता' के पश्चात् पुराण-साहित्य की गणना की जाती है। पुराण साहित्य में अहिंसा का विवेचन यत्र-तत्र हुआ है। 'वायु पुराण' का मन्तव्य है—मन, वाणी और कर्म से सभी जीवों के प्रति अहिंसा का पालन करना चाहिए।[2] 'विष्णु पुराण' में कहा है—हिसा अधर्म की स्त्री है। वह सभी पातकों की जड है। उसका पुत्र झूठ और पुत्री निकृति (दुष्कर्म) है, इनसे नरक का भय रहता है, अर्थात् ये तीनो नरक में ले जाने वाले हैं। 'अग्नि-पुराण' मे भी कहा गया है—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँचों यम-मुक्ति और भुक्ति दोनो प्रदान करने वाले है।

'मत्स्य-पुराण' का मन्तव्य है कि अहिसा मुनिव्रतो में से एक है। चार वेदों के गम्भीर अध्ययन से या सत्य भाषण से जितना पुण्य होता है उससे कई गुना अधिक पुण्य अहिंसा-व्रत के पालन से होता है। ब्रह्मपुराणकार का

१. दिय द्विज गुरु प्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीर तप उच्यते—गीता १७, १४, अ० १८ देखिये

२. अहिंसा सर्वभूतानां कर्मणामनसा गिरा —वायुपुराण पूर्वार्द्ध अ० १८, १३

अभिमत है—जो मन से भी किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता है वह स्वर्ग-गामी होता है। 'नारद-पुराण' में कहा है—वे ही सत्य वचन है जिनसे किसी का विरोध न हो, किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचे। यही अहिंसा का रूप है। इसी अहिंसा की निर्मल भावना से सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण होती है।

'नारदपुराण' में अहिंसा की गणना 'यमो' में सर्व प्रथम की गई है। 'शिवपुराण' में अहिंसा को पुण्य कर्म में तथा हिंसा की परिगणना पाप कर्म मे की है। जो व्यक्ति पाप कर्मो में रत है वह नरक गामी है। 'बृहद्धर्मपुराण' में श्रद्धा, अतिथि सेवा, सबसे आत्मीयतापूर्ण सद्व्यवहार, आत्मशुद्धि ये सभी अहिंसा की पृथक्-पृथक् विधियाँ है। 'कूर्म पुराण' में भी अहिंसा प्रियवचन अपिशुनता आदि गुणों को चारों वर्णो के लिए उपादेय माना है। 'भगवत पुराण' में महर्षि नारद ने धर्मराज से कहा—धर्म के बीस लक्षण है उनमें अहिंसा प्रमुख है।[1]

इस प्रकार पुराण साहित्य में अहिसा का वर्णन स्थान-स्थान पर किया गया है। पुराणों में अहिंसा को केवल संन्यासी या ब्राह्मण वर्ण तक ही सीमित न रखकर स्पष्ट निर्देश किया गया है कि अहिसा का पालन चारों वर्ण वालों को यथाशक्ति अवश्य करना चाहिए। अहिंसा का पालन सभी के लिए आवश्यक है। यह जीवन को निखारने का अपूर्व साधन है।

बौद्धधर्म में अहिंसा

बौद्ध धर्म भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। भारत की पवित्र भूमि मे जन्म लेकर विश्व के विविध अंचलों में इस धर्म ने अपना प्रभाव दिखाया। बौद्ध धर्म में अहिसा की प्रधानता रही। इस धर्म के प्रसिद्ध एवं मान्य ग्रन्थों में अहिंसा की प्रेरणा दी गई है कि मन, वचन और कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट न दिया जाय। अहिसा का पथिक न स्वयं किसी को कष्ट देता है, और न अन्य किसी को कष्ट देने के लिये उत्प्रेरित करता है।[2] स्थूल जीवो की ही बात नही, वह पेड़-पौधों को भी कष्ट नही पहुँचाता।[3]

भिक्षुओं को उपदेश देते हुए बुद्ध ने तीन प्रकार के शील पर प्रकाश डाला और कहा—आरंभिक, मध्यम और महा ये तीन शील है, जो सभी भिक्षुओं

---

१. अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्।
त्रिशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्म येन तुष्यति॥
भागवतपुराण, प्रथम खंड, स्कन्ध ६, अ० ११०, ८–१२

२. धम्मपद, २५, ६–१०

३. विनयपिटक अनु, राहुल सांकृत्यायन, पृ २०६

के लिए आवश्यक है। इन शीलों में अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य तथा नशीले पदार्थों का परित्याग समाविष्ट है। बुद्ध ने मैत्री भावना, करुणा भावना, मुदिता भावना और उपेक्षा भावना पर बल दिया है। इन भावनाओं में अहिंसा की निर्मल विचार लहरियाँ तरंगित हो रही हैं।

'संयुक्तनिकाय' में राजा प्रसेनजित से बुद्ध ने कहा—राजन्! अपने मन को सभी दिशाओं में घुमाओ। तुम्हें अपने से प्यारा अन्य कोई भी प्राणी नही मिलेगा। जैसे तुम्हे अपना जीवन प्रिय है, वैसे ही दूसरो को अपना जीवन प्रिय है अतः कभी भी दूसरों को न सताओ। विश्व के समस्त प्राणियों के साथ असीम मैत्री भावना बढाई जाय। तुम सदा मन मे यही भावना भाओ कि विश्व के सभी प्राणी सुखी हों। जिसके अन्तर्मानस मे प्राणियो के प्रति दया नहीं है, उसे वृषल यानी शूद्र (सही शब्दों में वृष=धर्म, ल=लोप करने वाला=धर्म का लोप करने वाला, धर्म का पालन न करने वाला) समझना चाहिये। जैसा मै हूँ वैसे ही विश्व के प्राणी है और जैसे वे सभी प्राणी है उसी प्रकार मैं भी हूँ। इस प्रकार अपने समान सभी प्राणियों को समझकर न किसी का वध करे न दूसरे से वध कराये। क्योंकि मारने वाले को मारने वाला मिलता है और जीतने वाले को जीतने वाला।[1] पहले विश्व में तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और जरा, किन्तु पशुवध प्रारम्भ होने पर अठानवे नये रोग पैदा हो गये।[2]

बुद्ध ने हिंसापरक यज्ञ को अनुचित कहा। जब राजा प्रसेनजित हिंसा-परक यज्ञ करने के लिए तत्पर हुए और तथागत बुद्ध को यह वृत्त परिज्ञात हुआ तो उन्होने राजा से कहा—राजन्! यज्ञ में हिंसा करने के फल अच्छे नही होते। यदि तुम्हें यज्ञ करना है, तो ऐसा यज्ञ करो जिसमें भेड़, बकरी और गाये न कटती हों। ऐसा यज्ञ ही सुमार्ग पर ले जाने वाला है।

'सुत्त निपात' में बुद्ध ने कहा—जगम या स्थावर, दीर्घ या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पद्यमान जितने भी प्राणी है वे सभी सुखपूर्वक रहें। वे किसी के साथ वंचना न करे; न किसी का अपमान करे। वे सभी प्राणियो को उसी प्रकार देखें जैसे माता अपने इकलौते पुत्र को देखती है।

बुद्ध का जीवन एक महा कारुणिक जीवन था। दीन-दुःखियो को देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता था। उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जिनमें अहिंसात्मक प्रतिकार रहे है। उनके अहिंसात्मक प्रतिकार से हजारो प्राणियों के बहते हुए खून रूक गये। बुद्ध ने हिंसा का निषेध कर अहिंसा की प्रतिष्ठा की।

---

१ हन्ता लभति हन्तार, जेतार लभते जय ॥ सयुत्तनिकाय १, ३, १५

२ तयो रोगा पुरे आसुं, इच्छा—अनसन जरा।
पसून च समारभा, अट्ठानवुति मागमु ॥ सुत्तनिपात, २, १९, २८

यहूदी धर्म में अहिंसा :

यहूदी धर्म विश्व के प्रमुख धर्मों में से एक है। उसका मन्तव्य है—किसी व्यक्ति के आत्म-सम्मान को चोट न पहुँचाओ। किसी के सामने किसी व्यक्ति को अपमानित न करो। उसका अपमान करना उतना ही महान् पाप है जितना कि किसी व्यक्ति का खून करना। वह व्यक्ति दुष्ट कहलाएगा जो किसी व्यक्ति को मारने के लिए हाथ उठाता है, शक्ति के अभाव में भले ही वह न मारे। यदि तुम्हारा कोई शत्रु तुम्हें मारने के लिए तुम्हारे घर आए और यदि वह भूखा-प्यासा है तो तुम्हारा प्रथम कर्त्तव्य है कि तुम उसे भोजन कराओ और पानी पिलाओ।

बन्धुत्व भाव को विकसित करने के लिए कहा है—बन्धुत्व का प्रेम जाति और धर्म की सीमाओं से ऊपर है। और पड़ौसी से प्यार करो। उनके प्रति तुम्हारे मन में किसी भी प्रकार की घृणा की भावना न रहे। उनसे ईर्ष्या न करो। उनसे घृणा करना ईश्वर से घृणा करने के समान है। अपने पड़ौसियों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम अपने प्रति चाहते हो। अपने साथियों की सेवा करना यह एक प्रकार का सुकर्म है, सुकृति है।

यहूदी धर्म ने मानवता पर बल दिया है। मानवता को विकसित करने के लिए ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, सत्य, भक्ति प्रभृति सद्गुणों पर उनने अधिक बल दिया। दया और प्रेम को उन्होंने ईश्वर माना। क्रोध, विलास, अन्याय आदि दुर्गुणों को नष्ट करने की प्रेरणा दी।

पारसी धर्म में अहिंसा :

पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथुष्ट्र थे। उनका प्रमुख ग्रन्थ 'अवेस्ता' है। उनके अभिमतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के तीन कर्त्तव्य है—

(१) अपने शत्रु को मित्र बनाना।
(२) दानव को मानव बनाना।
(३) अज्ञानी को ज्ञानी बनाना।

यह निर्विवाद सत्य है कि अहिंसा के द्वारा ही शत्रु को स्नेह-सद्भावना के आधार पर मित्र बनाया जा सकता है। यदि शत्रु के प्रति मन में दुर्भावनायें होंगी, उसके प्रति हिंसापरक व्यवहार होगा तो उसके अन्तर्मानस में मित्रता की हरियाली नहीं लहराएगी। अहिंसा से ही सद्भाव की वृद्धि होगी। सदा-सर्वदा मन में सद्विचारों के दीपक प्रकाशित रखो। पारसी धर्म ने दानादि सद्गुणों पर अत्यधिक बल दिया है जो अहिंसा का ही विधेयात्मक पक्ष है।

ताओ धर्म में अहिंसा :

ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्से थे। वे जिस समय पैदा हुये उस समय चीन मे राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विषम थी। सामाजिक जनजीवन में

भ्रष्टाचार पनप रहा था। सामाजिक और राजनैतिक विकृत स्थिति को देखकर लाओत्से ने चीन छोड़ने का निश्चय किया, किन्तु चीनवासियों की प्रेरणा से उन्होंने, अपना विचार स्थगित कर 'ताओ-तेह-किंग' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में उन्होंने जीवन में सरलता पर अत्यधिक बल दिया। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी अधिक बल दिया कि हिंसा से उत्पन्न घाव पर स्नेह का मरहम और दया की पट्टी लगाओ।

ईसाई धर्म में अहिंसा :

ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा थे। वर्तमान युग में विश्व के विविध अचलों में यह धर्म फैला हुआ है। ईसा ने कहा—तुम अपनी तलवार म्यान में रख लो, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं वे सभी तलवार से ही नष्ट किए जायेंगे। किसी के साथ भी दुर्व्यवहार न करो। तुम्हारे गाल पर कोई तमाचा मारता है तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।

'जैसा को तैसा', 'आँख के बदले आँख', 'दाँत के बदले दाँत' और 'सिर के बदले सिर' लेने के सिद्धान्त से समस्या का सही समाधान नही हो सकता। इससे शान्ति प्राप्त नही होती। उस पर तुम स्नेह की वर्षा करो और इस प्रकार की प्रशस्त भावना करो कि उसके विचारों मे परिवर्तन आ जाये।

ईसा ने ईश्वर को प्रेम के रूप में चित्रित किया। वस्तुतः प्रेम ही ईश्वर है, वही अहिंसा है। जिसके हृदय में दया का साम्राज्य नहीं है, उसका ज्ञान शुष्क ज्ञान है। ईसा ने प्रेम, करुणा, सेवा आदि सद्गुणों को जीवन के लिए आवश्यक माना है। इस तरह ईसाई धर्म में अहिंसा की भावनाएँ मानव-सेवा और प्रेम के रूप में विकसित हुई है।

इस्लाम धर्म में अहिंसा :

इस्लाम धर्म का मुख्य केन्द्र अरब रहा है। इस धर्म का मन्तव्य है कि खुदा सारे जगत का पिता है और जगत मे जितने भी प्राणी है; वे सभी खुदा के ही बन्दे और पुत्र हैं। 'कुरान शरीफ' के प्रारम्भ मे अल्ला ताला का विशेषण "बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम" है जिसका अर्थ है—खुदा दयामय है। खुदा के मन के कण-कण में दया का निवास है।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली ने मानवों को सम्बोधित कर उपदेश देते हुए कहा—हे मानव तू! पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट मे मत बना। अर्थात् तू मांस का भक्षण न कर।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में भी अहिंसा को प्रधानता दी गई तथा मदिरापान, ईर्ष्या, लालच, असत्य, कृपणता, अभिमान, हिंसा, युद्ध आदि को त्याज्य बताया है। ये जीवन को विकृत करने वाले दुर्गुण हैं। 'कुरान शरीफ' मे जहाँ-तहाँ भ्रातृत्व, दान, क्षमा, मैत्री, दया, प्रेम, कृपा,

संयम आदि सद्गुणों के ग्रहण करने पर बल दिया गया है। ये सद्गुण जीवन को विकसित करते है। इन सद्गुणों को धारण करने से जीवन में अहिंसा का पवित्र आचरण करने की भव्य भावना लहराने लगती है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में भी अहिंसा की भावनाएँ विकसित होती रही हैं।

सूफी सम्प्रदाय में अहिंसा :

इस्लाम धर्म के अन्तर्गत ही सूफी सम्प्रदाय भी विकसित हुआ। सूफियों का मानना है कि मुहम्मद साहब को दो प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुए थे। एक ज्ञान को तो उन्होंने कुरान के द्वारा व्यक्त किया और दूसरा ज्ञान उन्होंने अपने हृदय में धारण किया। कुरान का ज्ञान विश्व के सभी व्यक्तियों के लिए प्रसारित किया गया जिससे वे सद्ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को पावन बनावें। पर दूसरा ज्ञान उन्होने कुछ प्रमुख शिष्यों को ही प्रदान किया। वह ज्ञान अत्यन्त रहस्यमय था। वह रहस्यमय ज्ञान ही सूफी कहलाया है। किताबी ज्ञान जो कुरान का ज्ञान था वह 'इल्म–ई–साफिन' और हार्दिक ज्ञान "इल्म–ई–सिन" कहलाया।

सूफी दर्शन का रहस्य है—परमात्मा सम्बन्धी सत्य का परिज्ञान करना। परमात्म–तत्त्व की उपलब्धि के लिए सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करना। सूफी सम्प्रदाय में प्रेम के आधिक्य पर बल दिया गया है। वे परमात्मा को प्रियतम मानकर सांसारिक प्रेम के माध्यम से प्रियतम के सन्निकट पहुँचना चाहते हैं। मानवीय प्रेम ही आध्यात्मिक प्रेम का साधन है, प्रेम परमात्मा का सार है। ईश्वर की अर्चना करने का प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट रूप है।

शिन्तो धर्म में अहिंसा :

यह जापान का मुख्य धर्म है। जापान में शिन्तो धर्म का जब प्रादुर्भाव हुआ उस समय तक अन्य धर्म का आगमन नहीं हुआ था। 'शिन्तो' वस्तुतः चीनी शब्द है जिसका जापानी नाम 'कामी नो मीची' है जिसका तात्पर्य है 'श्रेष्ठ जन तक ले जाने वाला मार्ग।'

शिन्तो धर्म के मुख्य सिद्धान्तों में पितृजन के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की गयी है। उनका मन्तव्य है—अपने पितृजन के प्रति अपनी कृतज्ञता को न भूलो, यह भी न भूलो कि संसार एक परिवार है। दूसरों के क्रुद्ध हो जाने पर भी तुम स्वयं क्रुद्ध न बनो। कार्य करने में आलस्य न करो। देवों के उदार सद्गुणों को विस्मृत न करो। इस प्रकार इस धर्म में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की निर्मल भावना के रूप में अहिंसा का प्रतिपादन हुआ है।

सिख धर्म में अहिंसा :

सिख धर्म का उद्भव भारत में हुआ। भारत के प्राचीन धर्म और दर्शन से अनेक विशेषताएँ ग्रहण कर गुरु नानक ने नवीन धर्म की संस्थापना की।

सिक्ख धर्म में कर्म मार्ग, योग मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति मार्ग इन चार मार्गों का प्रतिपादन किया गया है।

अहिंसा के सिद्धान्त को महत्त्व देते हुए गुरु नानक ने कहा—जो सबकी भलाई करता है वही महान् है। सभी की भलाई बिना अहिंसा सिद्धान्त के अपनाना सम्भव नही है। अहिंसा की निर्मल भावना से प्रेम-भाव की वृद्धि होती है। विना प्रेम के प्रभु प्राप्त नही हो सकता।

'गुरुग्रन्थ साहब' में कहा है—रक्त लग जाने से वस्त्र पर दाग लग जाता है, वैसे ही रक्तयुक्त मांस खाने से मन मैला हो जाता है। इसलिए मांस ग्रहण करना दोषपूर्ण है।

सिक्ख धर्म में सात्त्विक भोजन पर बल दिया गया है। सिक्ख धर्म ने अन्याय को सहन करना हिंसा माना है इसलिए उसके प्रतिकार के लिए वे सतत तैयार रहे। उनकी युद्ध की भावना अन्याय के प्रतिकार के लिए थी। वे युद्ध के लिए युद्ध करना नही चाहते थे।

जैन धर्म में अहिंसा :

जैन धर्म में अहिंसा का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। हमने पूर्व पृष्ठों में देखा कि जितने भी धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय है, उन सभी ने अहिंसा पर चिन्तन किया, किन्तु जब हम गहराई से अध्ययन करते है तो सहज ही ज्ञात होता है कि अहिंसा का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण जैन साहित्य में उपलब्ध होता है वैसा अन्य साहित्य में प्राप्त नही होता। जैन धर्म के प्रत्येक क्रिया-कलाप में अहिंसा की दिव्य ध्वनि मुखरित हो रही है। चाहे चलना हो, चाहे बोलना हो, सभी में अहिंसा का नाद गूंज रहा है।[1] अहिंसा केवल धार्मिक व्यवहार में ही नही; जीवन के प्रत्येक व्यवहार में व आचरण में आनी चाहिए। जैन-धर्म का मूल आधार ही अहिंसा है। श्रमण भगवान महावीर ने कहा है—जैसे जीवों का आधार पृथ्वी है वैसे ही भूत और भावी ज्ञानियों के जीवन दर्शन का आधार अहिंसा है।

हिंसा कभी भी धर्म नही हो सकती। इस विराट विश्व में जितने भी प्राणी है वे चाहे छोटे हों या बड़े हों, पशु हों या मानव हों, सभी की एक ही कामना है और वह है जीवित रहने की। सभी जीवित रहना चाहते है, कोई भी मरना नहीं चाहता। जिस हिंसक व्यवहार को तुम अपने लिए पसन्द नही करते, उस व्यवहार को दूसरा किस प्रकार पसन्द करेगा? जिस दयामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सभी पसन्द करते है। यही जिनशासन का सार है। किसी के प्राणो का नाश करना कभी भी धर्म नहीं हो सकता।

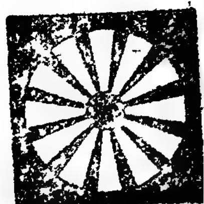
१. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयंमासे जयं सये।
जयं भुंजनो, भासनो, पावकम्मं न बधई॥ दशवैकालिक सूत्र अ० ४/८

त्रस, स्थावर, सभी प्राणियों का मंगल करने वाली अहिंसा है। शत्रु और मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है। सभी प्राणियों के प्रति आत्म-तुल्य भाव रखो। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है। क्योंकि सभी के अन्तर में एक सदृश आत्मा है। जैसे हमें अपने प्राण प्यारे हैं, वैसे ही सभी को अपने प्राण प्यारे है, ऐसा समझकर भय और वैर से मुक्त होकर किसी-भी प्राणी की हिंसा न करो। जो स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने की प्रेरणा देता है वह अपने लिए वैर ही बढाता है। अतः प्राणियों के प्रति वैसा ही स्नेह भाव रखो जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो। अहिंसा का मूल आधार समता है। [illegible] से आत्म-साम्य की निर्मल दृष्टि प्राप्त होती है।

अहिंसा को भगवान महावीर ने सभी जीवों के लिए कल्याण[illegible] अतः उन्होंने कहा—जिसे तू मारना चाहता है वह तेरे समान ही है, [illegible] आज्ञा देने की इच्छा करता है वह भी तेरे समान ही है, जिसे [illegible] चाहता है वह भी तेरे ही समान है; अतः तू किसी भी प्राणी [illegible] मार, न किसी को प्रताड़ना प्रदान कर और न किसी को [illegible] ही कर। हिंसा के अभाव का सूचक अहिंसा है। अहिंसा का [illegible] न होना, हिंसा की भावनाओं और हिंसाजन्य क्रियाओं का [illegible]

'आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति' में भगवान [illegible] का सुन्दर संवाद है। गौतम ने भगवान महावीर से [illegible] भगवन्! दो व्यक्ति है; एक आपकी सेवा करता है [illegible] की सेवा करता है। भगवन्! आपकी दृष्टि में [illegible] करते हुए भगवान महावीर ने कहा- [illegible] अपेक्षा दीन—दुःखियों की सेवा करने वाले [illegible] हूँ। वे मेरे सच्चे भक्त नहीं है जो केवल [illegible] है जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं।

अति-



सभी धर्मों का मूल—अहिंसा

☐ कुमारी शकुन्तला जैन

विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म, मानवता की पवित्र धरोहर और जैन धर्म का आभूषण अहिंसा है। 'सव्वभूएसु संजमो अहिंसा' अर्थात् सभी जीवों के प्रति मन, वचन व शरीर से संयम रखना अहिंसा है। संयम का पालन मन, वचन व काया से होता है पर उन सब में कर्तव्य आत्मा के होने से इसे आत्म-धर्म ही माना गया है, किसी सम्प्रदाय का नही !

वर्तमान जीवन मे सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक व अन्य क्षेत्रों में अहिंसा रूपी पवित्र धारा की अत्यन्त आवश्यकता है। वैसे तो विश्व में प्रत्येक समाज अहिंसा को श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखता है। प्रत्येक माँ अपने बच्चे को जन्म से ही अहिंसा के पथ पर चलने के लिए प्रेरित करती है। प्रत्येक गुरु अपने शिष्य को अहिंसा रूपी चोले को धारण करने को कहता है। संसार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, जीने की इच्छा प्राणी मात्र का स्वभाव है। अहिंसक दृष्टि सृष्टि पर सुधावृष्टि कर प्राणीमात्र को अमरता प्रदान करती है। हिंसक को सामने खड़ा देख हर प्राणी भयभीत हो जाता है। एक चीटी बिल से निकलने पर सामने आये प्राणनाशक तत्त्वों को देखकर मार्ग बदल लेती है। ऐसा क्यों ? स्पष्ट है, प्रत्येक प्राणी के मन में जीने की प्रबल इच्छा का होना।

अतः जीवन को बनाये रखने में अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। अहिंसा प्रत्येक जीवन को मृत्यु-भय से दूर करती है तथा संरक्षण प्रदान करती है। इसी कारण संसार के सभी धर्माचार्य एव उनके धर्मशास्त्र अहिसा को ही धर्म का मूल मानते हैं। अहिंसा का अभाव, पाप, अनाचार, हिंसा आदि दुर्गुणों को बढाकर समाज-जीवन को अस्त-व्यस्त कर देने वाला है। धर्म, जीवन और समाज सबका अस्तित्व अहिंसा पर ही निर्भर है। यदि धर्म जीवन से अलग कर दिया जाये तो उसमे कुछ भी नही बचेगा। अहिंसा से ही धर्म की सत्ता और स्थिति है और अहिंसा ही धर्म का मूल है।

अहिंसैव परोधर्मः, शेषस्तु व्रत विस्तरः।
तस्यास्तु परिरक्षार्थं, पादपस्य यथावृतिः॥

अर्थात् अहिंसा ही सबसे बढकर धर्म है और शेष व्रत उसी का विस्तार है। अहिंसा की रक्षा के लिए वे वृक्ष की बाड़ या घेराव के रूप में है। जो लोग

अहिंसा को कायरता की निशानी या निर्बलता का चिह्न समझते है, वे इसके वास्तविक रूप से अनजान हैं। पाषाण युग से लेकर आज के इस परमाणु युग तक अनेक विध अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है और नित्य होता जा रहा है। ये एक से एक भयंकर एवं विनाशकारी है। इनकी सामर्थ्य विनाश तक ही सीमित है। ये जीवन को मिटा सकते हैं, पर बना नहीं सकते।

इसके विपरीत अहिसा अस्त्र एक अपूर्व शक्ति का भण्डार है जिसमें विनाश के स्थान पर सृजनता का निवास होता है। बिना रक्तपात व कष्ट पहुँचाये विजय प्राप्त कराने की क्षमता एकमात्र अहिंसा के अस्त्र में ही है। अंग्रेजों की शस्त्र सज्जित फौज का सामना महान् पुरुष महात्मा गांधी ने इसी अस्त्र के द्वारा किया था, परिणामस्वरूप स्वतन्त्र भारत आज हम सबके सामने है। साथ ही हमें गर्व है कि हम सब को दासता की कडी से बांधने वाले अंग्रेज आज हमारे देश के मित्र है। अतः हिसा अहिसा के आगे हृदय से झुक जाती है और अहिसा की शर्तो को मानकर बन्धुवत् व्यवहार करने लगती है। अहिसा मे किसी के प्रति शत्रुता और वैर भावना का पीड़ादायक प्रतिकार नहीं होता। उसमें जीवन-अधिकार की सहज माँग मात्र रहती है।

वैसे तो संसार के सभी धर्म हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, इसाई और अनेक सभ्य समाज मे अहिसा का बडे जोर-शोर से समर्थन किया गया है और हिसा का विरोध, लेकिन हमें यह कहना होगा कि जैन संस्कृति का तो प्राण अहिसा ही है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर और आज तक कभी भी जैन-धर्मावलम्बियों द्वारा किसी भी अवसर पर हिसा का समर्थन नही किया गया है। काल के इतने बड़े अंतराल में विविध परिवर्तनों के होते हुए भी अहिसा धर्म के मर्म को कभी भुलाया नहीं गया। इतिहास साक्षी है—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंतिणं॥

अर्थात् सभी जीव जीना चाहते है, मरना नही, इसलिए प्राण वध-पाप है और निर्ग्रन्थ इसका त्याग करते है।

यदि कहा जाये कि हिसा से बढकर कोई पाप नहीं है तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। जैन शास्त्र में दुर्गति में डालने वाली हिसा के मुख्य दो भेद किये गये है—द्रव्य हिसा और भाव हिसा। सांसारिक कार्यो में सावधानी रखते हुए भी किसी का उसके द्वारा मर जाना 'द्रव्य हिसा' है और संकल्पपूर्वक किसी को मारना या उसका अहित करना भाव हिसा है। भगवान महावीर ने 'आचारांग सूत्र' में कहा है—

"जे अइया जे य पडुपन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेति, एवं परुवेति, सव्वे पाणा, सव्वे—

भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हन्तव्वा, न अज्जवियव्वा, न परियेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे नियइ, सासइ सम्मए।"

अर्थात् अतीत मे जितने तीर्थंकर हुए है, वर्तमान में जितने तीर्थंकर है एवं भविष्य मे जितने भी होंगे वे सब यही कहते थे, कह रहे है और कहेगे कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्वों को मत मारो। किसी जीव को मात्र मारना ही हिंसा नहीं है वरन् उनको किसी तरह का कष्ट देना, पीडा पहुँचाना, परिताप देना तथा रुलाना भी हिंसा ही है।

इस तरह जैन संस्कृति हिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या करती है तथा उससे वचने और बचाने की क्रिया को अहिसा मानती है। अहिसा व्रत पालन करने की जो सूक्ष्मता और वारीकी जैन संस्कृति मे पायी जाती है, निश्चय ही वह अन्यत्र दुर्लभ है। जैन धर्म के अतिरिक्त विश्व के अन्य धर्मग्रन्थों मे भी अहिसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है। वड़े-वड़े महापुरुष अहिंसा को ही अपना आदर्श मानते रहे और समय-समय पर उन्होने अहिसा का ही व्याख्यान किया है।

महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने लोक विख्यात ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में अहिसा को परमधर्म श्रुति विहित अहिसा कहकर उसे वेदसम्मत परम धर्म के रूप में स्वीकारा है। अहिसा की श्रेष्ठता बताते हुए 'कुरान' मे कहा है—'जहाँ रहम है वहीं रहीम है।' 'हिदिश' में लिखा है कि 'कत्ले शिदर' अर्थात् किसी को मत काटो! फारसी वेत में पैगम्बर हजरत मुहम्मद नवी और खलीफा जमाल हजरत अली का फरमान है कि तुम अपने पेट को पशु-पक्षियों की कब्र मत वनाओ। आगे उन्होंने कहा है कि संसार मे अनेक ऐसे भयंकर काम है किन्तु हिसा अर्थात् किसी को मारना सबसे बड़ा भयंकर काम है। हिसा के विषय में वे बताते है कि "चाहे शराव पी कुरान को जला डाल, कावे में आग लगादे, और मदीना को खाक करदे, दरगाह शरीफ की नीव उखाड़कर फेक दें परन्तु भूलकर भी कभी किसी प्राणी को दुःख मत पहुँचा, उसे उसके प्यारे जीवन से अलग मत कर।"

पारसियों के धर्मशास्त्र 'शातनामा' में फिरदौसी ने लिखा है कि हमारा जरथुस्त धर्म ऐसा नेक है कि उसमें पशु वध, शिकार और मास-भक्षण करना मना है। इसी तरह वेदों, स्मृतियो और उपनिषदों में तो अहिसा परमो धर्म की अनेकानेक प्रशस्तियां पद-पद में पायी जाती है। 'मा हिस्यात सर्वभूतानि' वेद का यह वाक्य प्रत्यक्ष रूप में हिसा विरोधी एवं अहिसा का प्रबल समर्थक है। इस तरह विश्व के सभी धर्मग्रन्थ अहिसा की महिमा का ही गुणगान करते है।

निष्कर्ष रूप से अन्तिम चरण में यही कहना होगा कि अहिंसा मानव

जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन का सर्वोत्तम विकास बिन्दु है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्ववन्धुत्व का जो विकास हुआ और हो रहा है, उसके मूल में अहिंसा की ही पवित्र भावना काम करती रही है। और यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों ने घूम फिर कर अन्ततोगत्वा अहिंसा का ही आश्रय लिया है। वर्तमान समय में इस बात को विशेष रूप से कहना होगा कि यदि सभी धर्मों को या कहा जाये मानवत्ता को हरा-भरा एवं अमरता प्रदान करनी है तो अहिंसा की इस पावन धारा को सागर रूपी इस संसार में अविरत गति से बहने देना होगा।

—११, श्री कृष्ण कॉलोनी, अंकपात मार्ग, अवंतिपुरा, उज्जैन-४५६००६

महानता | श्री अशोक श्रीश्रीमाल

दक्षिण भारत में तुकाराम नाम के एक प्रसिद्ध संत हुए हैं। तुकाराम स्वभाव से बहुत ही शान्त तथा निर्मल थे। वे अत्यन्त गरीब थे। अपने छोटे से खेत से वे अपने परिवार का गुजर-बसर करते थे। एक बार उन्होने अपने खेत में गन्ने बोए। जब गन्ने की फसल तैयार हो गई तो उन्होंने गन्ने काटे, उनकी गठरी बनाई और सिर पर रख कर घर ले जाने लगे।

रास्ते में गाँव के कुछ बच्चों ने उन्हें घेर लिया तथा गन्ने माँगने लगे। तुकाराम ने सभी बच्चों को गन्ने बाँट दिये। अन्त मे उनके पास सिर्फ एक गन्ना बचा जिसे लेकर वे घर लौटे।

तुकाराम की पत्नी का नाम रखुमाई था। वह बहुत ही गुस्सैल स्वभाव और चिड़चिड़े मिजाज की महिला थी। गन्ने की फसल का वह सुबह से ही इन्तजार कर रही थी। जब उसने तुकाराम को हाथ में केवल एक गन्ना लाते देखा तो वह सारी बात समझ कर तिलमिला उठी तथा उसने तुकाराम के हाथ से वह गन्ना छीन कर उन्ही की पीठ पर जोर से दे मारा। पीठ पर पड़ते ही गन्ने के दो टुकड़े हो गये।

तुकाराम तो सन्त स्वभाव के थे। क्रोधित होने के बदले वे मुस्कराते हुए बोले—"कितनी अच्छी हो तुम। हम दोनों के लिये इस गन्ने के दो टुकड़े मुझे करने पड़ते परन्तु यह काम तुमने कर दिया बिना मेरे कहे ही।" तुकाराम के इस व्यवहार से पत्नी सकपका गई। उसे अपनी गलती का अहसास हो गया। उसने तुकाराम के पैर छुए और अपने किये की क्षमा माँगी।

—बन्दा रोड, भवानीमंडी

व्यवहार अहिंसा की धुरी पर आधारित हैं। सभी धर्मों में अहिंसा के महत्त्व को मानते हुये उसे उत्तम धर्म स्वीकारा है। वैदिक धर्म में कहा है—

"अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राण-भृतांवरः।[1]"

म. तुलसीदास जी ने कहा है—

"परम धर्म श्रुतविहित अहिंसा।
पर निन्दा सम अघ न गिरीसा।"[2]

अहिंसा वास्तव में परमधर्म है। जीवन में एक विन्दु धर्म भी उतारना हो तो प्रथम अहिंसा को ही अपनाना पड़ेगा। कबीर हिंसा के विरोधी थे। कहा है—

वकरा पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर वकरा खात है, वां को कौन हवाल॥

इस्लाम धर्म में भी अहिंसा के सम्बन्ध में अनेक कथानक मिलते हैं। उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि हाली ने कहा है—

मेहरवानी करो तुम, अहले जमी पर।
खुदा खुश होगा तुम पर, अरशे[3] वरी पर॥

ईसाई धर्म के मुख्य ग्रंथ 'वाइविल' मे कहा है—

"Thou shalt not kill" अर्थात् हिंसा मत करो।

जैन धर्म में अहिंसा :

जैन संस्कृति की सवसे वड़ी देन अहिंसा है। अहिंसा का महत्त्व जैन धर्म में सर्वाधिक है। जैन धर्म के अनुसार जीव मुख्यतः दो प्रकार के है—त्रस और स्थावर। त्रस के चार भेद है—वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय व पंचेन्द्रिय। स्थावर के पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, व वनस्पति काय। सभी जीव प्राणो के धारक होते है। इनमे से किसी भी प्राणी का (चाहे वे एकेन्द्रिय हों) प्राण हनन करना या घात पहुँचाना जीवहिंसा है। कुछ लोग स्थावर पृथ्वी, अग्नि, वनस्पति (अनाज आदि) में जीव नही मानते जो भ्रम है। स्थावर एकेन्द्रिय जीव होते है जिनमे चार प्राण होते है। इन स्थावर जीवों की विराधना में इन्हें भी वड़ी वेदना व दुःख होता है। भगवान महावीर ने कहा है—

"अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे, जाव अप्पेगे उद्दवए।"[4]

---

१. आदिपर्व, महाभारत, ११/१३
२. रामचरितमानस
३. खुदा के रहने का स्थान
४. आचारांग, अ. १, उ. १

अर्थात् एक जन्मांध गूंगा, बहरा तथा अवयवहीन पुरुष जिसके दायीं-बायीं ओर जुदे-जुदे (बत्तीस-बत्तीस) आदमी तलवार लेकर खड़े हों। ये सब मिलकर उस आदमी पर अपने शस्त्रों से प्रहार करें तो जैसे वह पुरुष कुछ बोल नहीं सकता, देख नहीं सकता, चल नहीं सकता पर असह्य पीड़ा का तो वह अनुभव करता ही है, इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव की पीड़ा भी आप देख नहीं सकते हैं किन्तु उसको भी वैसे ही पीड़ा तो होती ही है अतः स्थावर जीवों की हिंसा करना भी पाप है।

आगम में स्पष्ट लिखा है—"पुढविकाय न हिंसति मणसा, वयसा, काएणं तिविहेण करणं जाएणं संजया सुसमाहिया।" अर्थात् पृथ्वीकाय आदि जीवों की मन-वचन-काया से हिंसा मत करो। जो संयमी जीव है वे तीन करण, तीन योग से इन जीवों की न हिंसा करते हैं, न कराते हैं और न अनुमोदन ही करते हैं—यही आचार्य समन्तभद्र ने कहा है[1]। अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। जैन धर्म की प्रत्येक क्रिया में चाहे वह साधना की हो या समाज से सम्बन्धित, उसमें अहिंसा का पुट मिलता है। तीर्थंकरों ने मानव-जीवन की प्रत्येक क्रिया को अहिंसा के मापदण्ड द्वारा मापा है। जो क्रिया अहिंसामूलक है, राग-द्वेष और प्रमाद से रहित है, वह सम्यक् है और जो हिंसामूलक है वह मिथ्या है। मिथ्या क्रिया कर्मबन्धन का कारण है और सम्यक् क्रिया कर्मक्षय का। धार्मिक विधि-विधानों में ही अहिंसा की आवश्यकता नहीं है अपितु जीवन के दैनिक व्यवहार में भी अहिंसा की आवश्यकता है। कहा जाता है कि अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही २१वें तीर्थंकर नमिनाथ का धनुष प्रत्यञ्चाहीन रूप उनके क्षत्रियत्व का प्रतीक मात्र रह गया था। राम ने शिव-गांडीव को फिर प्रत्यञ्चा-युक्त किया। सीता-स्वयंवर के अवसर पर राम ने इसी प्रत्यञ्चाहीन धनुष को तोडकर धनुष पर पुनः प्रत्यञ्चा की परम्परा प्रचलित की। वस्तुतः अहिंसा में ही शौर्य और पराक्रम की वृत्ति निहित है।[2]

तीर्थंकर महावीर की वाणी की व्याख्या करते हुए इन्द्रभूति गणधर ने कहा है—"जिसे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास है वही हिंसा का त्यागी हो सकता है। सहृदय व्यक्ति कभी किसी के प्राणों का वध नही कर सकता अतएव द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा के स्वरूप को ज्ञात कर ही व्यक्ति अहिंसा धर्म का पालन कर सकता है। जो प्रमादवश क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत है वह प्राणी वध न करने पर भी हिंसा का भागी है। जो भावहिंसा है वह द्रव्यहिंसा

१. संकल्पात् कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥
—रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३/७

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, प्रथमखण्ड, पृ. १५

न करने पर भी हिंसा का पातकी बनता है। भावों की पवित्रता और लोकोपकारिता की वृत्ति अहिंसा में सम्मिलित है। जो संग्राम स्वार्थ, द्वेष, लोभ, अहंकारवश किया जाता है वह संग्राम अहिंसा धर्म की दृष्टि से वर्जित है पर देशोत्थान की कामना की दृष्टि से किया जाने वाला संग्राम अहिंसा धर्म में बाधक नहीं है।[1]" धर्म वही है जिसमें अहिंसा का आचरण हो। मन-वचन और काय की क्रियाएँ अहिंसक होने पर ही धर्म का रूप ग्रहण कर सकती है।

खान-पान व व्यवहार में अहिंसा

अभक्ष्य वस्तु का त्याग : जीवन को अहिंसक बनाने के लिए सर्वप्रथम अनन्त जीवो के धारक स्थान मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर फलो का त्याग करना आवश्यक है। इनका सर्वथा त्याग करने से बुद्धि निर्मल और जिन धर्म के उपदेश का पात्र हो जाता है[2]। जड के विना वृक्ष नही उसी प्रकार इनके त्याग बिना श्रावक नही हो सकता, इसी कारण इनका नाम मूल गुण है। वे है—

मद्यं मांसं क्षौद्रं, पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव[3] ॥

मदिरा : मदिरा मन को मोहित करती है। चित्त के मोहित होने पर जीव धर्म को भूल जाता है। जीव द्वारा धर्म के भूल जाने पर निःशंक रूप से हिंसा का आचरण करेगा अतएव मदिरा साक्षात् एवं परम्परा या हिंसा का कारण है[4]। अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि हिंसा के भेद है। ये सब मदिरा के निकटवर्ती हैं। वैसे भी मदिरा रस तैयार करने में अनेक एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय जीव उत्पन्न होते है। मदिरा जीवों की हिंसा होने से मदिरापान में हिंसा होती है। अन्य जो मादक अमल की वस्तु है, उनका उपयोग भी मदिरा तुल्य हिंसा के अन्तर्गत आता है।

मांस : प्राणियों के घात किये विना मांस की उत्पत्ति नहीं होती है। जीवित प्राणियों के घात मे तो हिंसा होती ही है लेकिन स्वयमेव यद्यपि मृत भैंस, बैल, मुर्गा आदि जीवो का मांस होता है उस मांस भक्षण में भी हिंसा है क्योंकि उस मांस के आश्रित जो निगोद रूप अनन्त जीव होते हैं, उनका घात करना भी हिंसा है।[5]

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, प्रथम खंड, पृ. २४४
२. अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति, पात्राणि शुद्धधियः ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. ७४
३ वही श्लो. ६१
४. वही श्लो ६२, ६३, ६४
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. ६५-६८

मधु : मधु का कण भी बहुत प्रचुर मक्खियों की हिंसा रूप होता है[1]। जो मधु के छत्ते से, कपट से या स्वमेव मक्खियों द्वारा उगला हुआ मधु होता है वहाँ भी उसके आश्रयभूत प्राणियों का घात होता है अतएव मधुभक्षण हिंसा है।

पाँच उदम्बर फल : उदुम्बर, कठुम्बर, पीपल के फल, बड़ के फल, पीलू के फल इन पाँचों पर त्रसजीव होने के कारण ये हिंसा स्वरूप हैं।[2] त्रस न होने पर भी हिंसा का पात्र होता है अतः ये पाँच उदम्बर फल काल पाकर त्रस रहित तो हो जाते है लेकिन इनके भक्षण से एक रागभाव आ जाता है[3]। और जहाँ राग है वहीं हिंसा है। यदि राग न हो तो इतना प्रयास ही नहीं करेगा।

रात्रि भोजन त्याग : अहिंसा व्रत के निर्दोष पालनार्थ रात्रि भोजन त्याग आवश्यक है, अतः रात्रि भोजन बनाने-खाने में असंख्य जीवों की हिंसा होती है। यदि उस समय दीपक न जोड़ा जाये तो बड़े-बड़े जीवों का पता ही न पड़े और यदि कदाचित् दीया जोड़ा या सावधानी रखी जावे तो कीट-पतंग आदि सूक्ष्म जीव भोजन में ही मिल जाते हैं[4] अतएव रात्रि भोजन में द्रव्यहिंसा विशेष रूप से होती है।

दहेज निराकरण : सामन्त युग से प्रभावित रहने के कारण आज दहेज लेना-देना बड़प्पन का सूचक समझा जाता है। कली रूपी उपहार ने पुष्प रूपी दहेज का स्थान ग्रहण कर लिया है। उपहार वह होता है जिसमें वधू पक्ष परिवार की तरफ से कन्यादान स्वरूप अल्पाधिक स्थितिनुसार धनराशि, सामान आदि दिया जाता है जबकि दहेज में धनराशि, सामान आदि का निश्चित कर दिया जाता है—दोनों में यही अन्तर है। वस्तुतः निर्धारित धनराशि न मिलने पर सम्प्रति वधुओं पर अमानुषिक व्यवहार एक परम्परा सी बन गयी है। वधू को अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ता है और अन्त में तंग आकर या तो जलने को या फिर आत्महत्या करने को विवश हो जाती है जैसा कि प्रायः

---

१. मधुशकलमपि प्रायो, मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः, स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. ६९

२. योनिरुदुम्बरयुग्मं, प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवाना तस्मात्तेषां, तद्भक्षणे हिंसा॥ वही. श्लो. ७२

३. यानि तु पुनर्भवेयुः, कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा, विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥ वही, श्लो. ७३

४. रात्रौ भुञ्जानानां, यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्, त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥
अर्कालोकेन विना भुञ्जानः, परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे, भोज्य जुषां सूक्ष्मजीवानाम्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो १२९ एवं १३३

समाचार पत्रों में पढने को मिलता है। इस दृष्टि से दहेज हिंसा (उद्योगी) का रूप ही प्रतीत होता है।

पंचमहाव्रतों में अहिंसा : अहिंसा, अनृत, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पंच महाव्रत[1] है। इनमें अहिंसा प्रधान है। इसी के विशुद्ध पालनार्थ अन्य चारों व्रत है। जैसे खेत की रक्षार्थ बाड होती है, वैसे ही अन्य सब व्रत अहिंसा के ही रक्षार्थं है। जहाँ पर अहिंसा है वहाँ पर शेष व्रत सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह स्वतः पालित हो जाते है।

अहिंसा के बिना सत्य नग्न एवं कुरूप है क्योंकि प्रमाद रहित हित की प्राप्ति और अहित परिहारक वचन बोलना अहिंसा है। चोरी में स्वामी की आज्ञा बिना बाह्यधनादिक के हरण से उसे प्राणघात जैसा ही दुःख होता है अतः वध का हेतु होने से हिंसा स्वरूप ही है। अब्रह्म में असंख्य मनुष्याकार सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। अपरिग्रह और अहिंसा में आधार-आधेय का सम्बन्ध है।

संयम ही अहिंसा है : संयम अहिंसा रूपी विशाल वृक्ष की एक शाखा है। अहिंसा साध्य है और संयम साधन। संयम के अनुष्ठान से ही अहिंसा की साधना सम्भव होती है। संयम का अर्थ है—इन्द्रिय और मन का दमन करना, उन्हें आत्मवशीभूत करना और हिंसा प्रवृत्ति से बचना। संयम दो प्रकार का है—इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम। इन्द्रिय और मन को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करने से रोककर आत्मोन्मुख करना इन्द्रिय-संयम है और षट्काय जीवों की हिंसा का त्याग करना प्राणी-संयम है। इन दोनो संयमों मे पहले इन्द्रिय-संयम का धारण करना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियों के वश हो जाने पर ही प्राणियों की रक्षा सम्भव होती है। जिसने इन्द्रिय-संयम का पालन आरम्भ कर दिया, वह जीवन-निर्वाह के लिए कम से कम सामग्री का उपयोग करेगा जिससे शेष सामग्री समाज के अन्य सदस्यों के काम आयेगी, संघर्ष कम होगा और विषमता दूर होगी। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्री का उपयोग करे तो दूसरों के लिए सामग्री कम पड़ेगी, जिससे शोषण आरम्भ हो जायेगा, अतएव इन्द्रिय-संयम का अभ्यास करना आवश्यक है। प्राणी संयम में षटकाय के जीवो की रक्षा अपेक्षित है। प्राणी संयम के धारण करने से अहिंसा की साधना सिद्ध होती है। जीवन मे अहिंसा की प्रतिष्ठा संयम से ही सम्भव है। अतएव महावीर ने अपने दसवें वर्ष की साधना में संयम और समता-प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयास किये। क्योंकि तपोनिष्ठान से मनुष्य संयमशील बनता है और संयमशीलता से अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है। जिस व्यक्ति के अन्तर में अहिंसा, सयम और तप की त्रिवेणी प्रवाहित होती है उसकी आत्मा निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है, देव भी उसके चरणों में नमस्कार कर अपने को धन्य मानते है।

---

१ हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्—तत्त्वार्थसूत्र. ७/१

वस्तुतः संयम ही एक ऐसी औषधि है जो राग-द्वेष रूप परिणामों को नियन्त्रित करती है। अहिंसा की साधना तितिक्षा और संयम के बिना सम्भव नहीं है अतः जहाँ अहिंसा है वहाँ सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी विद्यमान है। इन चारों महाव्रतों का संयम से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अहिंसा का महत्त्व : अहिंसा के महत्त्व को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

(१) अहिंसा द्वारा हृदय परिवर्तन सम्भव होता है। यह मारने का सिद्धान्त नहीं, सुधारने का सिद्धान्त है। यह संसार का नहीं, उद्धार एवं निर्माण का सिद्धान्त है। यह ऐसे प्रयत्नों का पक्षधर है जिसके द्वारा मानव के अन्तस् में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन किया जा सकता है और अपराध की भावनाओं को मिटाया जा सकता है।

(२) अहिंसा द्वारा सबके कल्याण और उन्नति की भावना उत्पन्न होती है। इसके आचरण से निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतन्त्रता और सत्यता बढ़ती है। अहिंसा से ही विश्वास, आत्मीयता, पारस्परिक प्रेम, निष्ठा आदि गुण व्यक्त होते है। अहंकार, दम्भ, मिथ्या विश्वास, असहयोग आदि का अन्त भी अहिंसा द्वारा सम्भव है। यह एक ऐसा साधन है जो बडे से बड़े साध्य को सिद्ध कर सकता है। एकता की भावना अहिंसा का ही रूप है।

(३) अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा बिना एक बूंद रक्त बहाये वर्गहीन समाज की स्थापना की जा सकती है। यद्यपि कुछ लोग अहिंसा द्वारा निर्मित समाज को आदर्श या कल्पना की वस्तु मानते है पर यथार्थतः यह समाज काल्पनिक नहीं, प्रत्युत् व्यावहारिक होगा। क्योंकि अहिसा का लक्ष्य यही है कि वर्गभेद या जातिभेद से ऊपर उठकर समाज का प्रत्येक सदस्य अन्य के साथ शिष्टता और मानवता का व्यवहार करे। छल, कपट या इनसे होने वाली छीना-झपटी को अहिंसा द्वारा ही दूर किया जा सकता है। वस्तुतः अहिसा मे ऐसी अद्भुत शक्ति है जिसके द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को सरलतापूर्वक समाहित किया जा सकता है।

(४) अहिसा मानव को हिसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य, द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ है, विकृतियाँ है, वे सब हिसा के रूप है। मानव-मन हिसा के विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता रहता है। इन प्रहारो का शमन करने के लिए अहिसा की दृष्टि और अहिंसक जीवन ही आवश्यक है। अतः क्रोध को क्रोध से नही क्षमा से; अहंकार को अहंकार से नही विनय-नम्रता से; दम्भ को दम्भ से नही सरलता-निश्चलता से; लोभ को लोभ से नही सन्तोष-उदारता से जीतना चाहिये। जिस प्रकार कुए में गयी ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप में वापिस लौटती है उसी प्रकार हिंसात्मक क्रियाओं का प्रतिक्रियात्मक प्रभाव कर्ता पर ही पड़ता है।

(५) कर्तव्य-स्वभाव का निर्धारण अहिंसात्मक व्यवहार द्वारा ही सम्भव है। माता-पि ा, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि के पारस्परिक कर्तव्य का अवधारण भावात्मक विकास की प्रक्रिया द्वारा होता है और यह अहिंसा का ही सामाजिक रूप है। मानव-हृदय की आन्तरिक संवेदना की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है और यही परिवार, समाज और राष्ट्र के उद्भव एवं विकास का मूल है। यह सत्य है कि उक्त प्रक्रिया में रागात्मक भावना का भी एक बहुत बड़ा अंश है पर यह अंश सामाजिक गतिविधि में बाधक नहीं है।

(६) अहिंसा के द्वारा मनुष्य की प्रतिष्ठा सम्भव है। अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपने समस्त आत्मबल को लगा देना ही संघर्ष का अन्त करना है, और यही अहिंसा है। यह अन्याय और अत्याचार से दीन-दुर्बलों की रक्षा कर सकती है। यही विश्व के लिए सुखदायक है।

(७) अहिंसा के आधार पर सहयोग और सहकारिता की भावना स्थापित करने से समाज धर्म की दूसरी सीढ़ी को बल मिलता है।

(८) हिंसा के त्याग द्वारा श्रावक अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों को शुद्ध करता है और अहिंसक यत्नाचार का धारी होता है।

(९) अहिंसक व्यक्तित्व का प्रथम दृष्टिबिन्दु है—सह-अस्तित्व और सहिष्णुता। सहिष्णुता के बिना सहअस्तित्व सम्भव नहीं है। संसार में अनन्त प्राणी हैं। सभी इस लोक में रहते हैं। यदि वे एक-दूसरे के अस्तित्व को आशंकित दृष्टि से देखते रहें तो अस्तित्व का संघर्ष कभी समाप्त नहीं हो सकता। संघर्ष अशान्ति का कारण है। इस अशान्ति से बचने का उपाय अहिंसा ही है।

अहिंसा परमो धर्मः

तीनों काल मे अहिंसा के समान धर्म नहीं होने से अहिंसा उत्कृष्ट धर्म है। भगवान महावीर ने कहा है—"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमोतवो[1]।" अर्थात् अहिंसा, संयम व तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है। इन तीनों में भी अहिंसा मुख्य है। पंचमहाव्रतों[2] में भी अहिंसा प्रधान है। उसी के विशुद्ध पालनार्थ अन्य व्रत हैं। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समंतभद्र ने तो अहिंसा को परमब्रह्मस्वरूप[3] कहा है और जिस आश्रमविधि में अणुमात्र भी आरम्भ न होता हो उसी के द्वारा उस अहिंसा की पूर्ण सिद्धि मानते थे। अहिंसा का महत्त्व दर्शाते हुए आगमकार कहते हैं—

---

१. दशवै, अ. १, गा. १

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७.१

३. अहिंसा भूताना जगति विदितं ब्रह्मपरमम् ।
न सा तत्रारंभोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावत्तं वियाणिया ।।[1]

अर्थात् ज्ञानी होने का यही सार है कि किसी भी जीव की हिंसा न करें यही अहिंसा का सिद्धान्त है, सार है। अन्य धर्मों में भी अहिंसा का प्रमुख स्थान है। वैदिक धर्म में अहिंसा को प्रधानता देते हुये उसे माता की उपमा दी है कहा है—

"मातेव सर्वभूतानां अहिंसा हितकारिणी।"

जैनागम में भी इसी प्रकार कहा है—

जेय बुद्धा अतिक्कंता, जेय बुद्धा अणासया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयालं जगइ जहा ।।

अर्थात् जिस प्रकार जीवों का आधार पृथ्वी है, उसी प्रकार पहिले हुये व आगे होने वाले ज्ञानियों का जीवनदर्शन अहिंसा है। 'योगशास्त्र' में अहिंसा को कामधेनु कहा है—

दीर्घ आयु परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता।
अहिंसायाः फल सर्व किमन्यत् कामदेव सा ।।[2]

अर्थात् दीर्घ आयु, परम रूप (श्रेष्ठरूप) नीरोगता एवं प्रशंसनीयता ये सब अहिंसा के ही फल हैं। वस्तुतः अहिंसा सभी मनोरथों को सिद्ध करने वाली कामधेनु है।

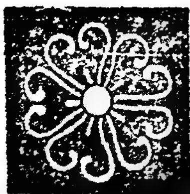
तीर्थंकर महावीर पर एक दृष्टि :

अहिंसा के सच्चे साधक तीर्थंकर महावीर थे। भगवान महावीर का सिद्धान्त था कि अग्नि का शमन अग्नि से नहीं होता इसके लिए जल की आवश्यकता होती है इसी प्रकार हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नहीं, अहिंसा से होता है। विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके मन में घृणा नहीं थी, द्वेष नहीं था। वे उत्पीड़क एवं घातक के प्रति भी मंगल, कल्याणकारी, पवित्र भावना रखते थे। संगमदेव, शूलपाणी यक्ष जैसे उपसर्ग देने वाले व्यक्तियों के प्रति भी उनके नेत्रों में करुणा थी। तीर्थंकर महावीर का अहिंसक जीवन क्रूर एवं निर्दय व्यक्तियों के लिए आदर्श था। वे बारह वर्षों तक मौन रहकर मोह, ममता का त्याग कर अहिसा की साधना मे सलग्न रहे। महावीर की अहिंसा-साधना के प्रभाव से उस समय प्रचलित बलि प्रथा का अन्त हुआ। महावीर के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताओं में अहिंसक व्यक्तित्व निर्मल आकाश के समान विशाल और समुद्र के समान अतलस्पर्शी है। दया, प्रेम और विनम्रता ने उन्होने अहिसा को सुसंस्कृत किया था। आज आवश्यकता है भगवान् महावीर की अहिंसा को पुनः प्रतिष्ठापित करने की।

• ५७०, स्कीम नं. २, अलवर—३०१००१

---

१. सूत्रकृताङ्ग सूत्र
२. योगशास्त्र, २/५२



अहिंसा बनाम वीतरागता

□ श्री सम्पतराज डोसी

विश्व में जितने भी धर्म एवं दर्शन प्रचलित हैं उनमें से अधिकांश दर्शनों एवं धर्मों ने प्रायः अन्य जीवों को किसी प्रकार की हानि, दुःख आदि पहुँचाने या मारने को हिंसा और हानि, दुःख न पहुँचाने को, न मारने को अहिंसा माना है। यह अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप है। इसके विधेयात्मक स्वरूप में दूसरे प्राणियों को दुःख एवं मरने आदि से बचाना, उनकी रक्षा, करुणा, दया, सेवा सहायता आदि करना माना गया है। वेदव्यासजी से जब सारे पुराण एवं धर्म ग्रन्थों का अति संक्षिप्त सार पूछा तो उन्होंने बताया—

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचनंद्वयं ।
परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीड़नम् ।।

अर्थात् पर जीवों के हित या उपकार के समान पुण्य नहीं और पर जीवों को पीड़ित करने के समान दूसरा कोई पाप नही है।

व्यासजी ने सम्भवतः पुण्य में ही धर्म मान कर, अहिंसा आदि का समावेश उस धर्म के पालनार्थ कर लिया है।

जैन दर्शन में भी अहिंसा के पालन को, धर्म के नाम पर किए जाने वाले सभी अनुष्ठानों में प्रथम स्थान दिया है। जैसे साधु के महाव्रतो मे सबसे प्रथम स्थान अहिंसा महाव्रत, श्रावकों के बारह महाव्रतों में प्रथम अहिंसा अणुव्रत ही बतलाया गया है। धर्म के तीन भेदों मे भी अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है, जैसा कि कहा है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमोतवो।—दशवै० अ० १ गा० १ ।।

इसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति का फल एवं सार बताते हुए 'सूत्रकृतांग' सूत्र में बतलाया कि किसी भी प्राणी की किंचित् मात्र भी हिंसा न करे, उन्हें दुःख न उपजायें। जैसा कहा है—

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई किंचणं।—सूतकृतांगसूत्र ।।

हिंसा रूप प्राणी वध को घोर पाप बताते हुए कहा है—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।।

—दशवै० अ० ६ गा० ११ ।।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना सब के लिए भयंकर दुःख रूप है, इसलिए प्राणी-वध घोर पाप है। अतः साधक को इस हिंसा रूप पाप से बचना श्रेयस्कर है।

जैन धर्म का कोई भी सूत्र या ग्रन्थ शायद ही बचा हो जिसमें अहिंसा की चर्चा किसी न किसी रूप मे न हुई हो। आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, प्रश्न-व्याकरण आदि सूत्रों में तो हिंसा-अहिंसा के स्वरूप, लक्षण, भेद, प्रभेद, पालने के तरीके, हिंसा से हानियाँ एवं अहिंसा पालन से लाभ आदि विषयों का विवेचन विशेष रूप से उपलब्ध है।

सबसे बड़ी एवं मुख्य बात यह है कि दार्शनिक दृष्टि से हिंसा एवं अहिंसा के स्वरूप की जो व्याख्या एवं विवेचना जैन दर्शन में मिलती है तथा वह जितनी तार्किक, मार्मिक, वैज्ञानिक एव व्यावहारिक है उसकी मिसाल अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। परन्तु उस विश्लेषण से जो तथ्य सामने आते हैं वे बड़े विचित्र है। दूसरो की हिंसा वही कर सकता है जो पहले स्वयं की हिंसा करता है और दूसरों की अहिंसा, दया, उपकार आदि भी वही कर सकता है जो अपनी अहिंसा, दया व उपकार करता हो। 'पर' की सारी हिंसा या अहिंसा का अन्तरंग रूप 'स्व' की हिंसा-अहिंसा में ही छिपा हुआ है।

जैन दर्शन की उपर्युक्त मान्यता को अनुभूति के स्तर पर भी समझा जा सकता है कि 'पर' की जानबूझ कर विचारपूर्वक हिंसा करने वाले के पहले टेन्शन, तनाव, अशान्ति रूप स्वयं की ही हिंसा होती है जिसका उसे ध्यान एवं ज्ञान भले ही नही रहता और दूसरे की सच्ची अहिंसा, दया, करुणा आदि करने पर भी पहले स्वयं को ही समता, प्रसन्नता, शान्ति रूप सच्चा सुख प्राप्त होता है जो स्वयं की अहिंसा ही है।

कोई भी व्यक्ति जब दूसरे को किसी भी प्रकार से संकल्पपूर्वक दुःख देने या मारने का प्रयत्न या इससे पूर्व विचार तक भी करेगा तो उसमें दूसरों के प्रति द्वेष उत्पन्न हुए बिना वह दूसरे का बुरा सोच भी नही सकेगा, फिर करना तो उससे बहुत आगे की बात है। द्वेष करने वाले को पहले संकल्प-विकल्प रूप तनाव, अशान्ति एवं दुख हुए बिना द्वेष हो नही सकता। यह स्वय का अशान्त एवं तनावयुक्त होना ही स्वयं की हिंसा है। इससे भी और अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस स्व हिंसा रूप द्वेष का भी जो असली कारण है, वह राग अथवा मोह है। मोह अथवा राग के करने का कारण सुख का स्वार्थ है। जब इस स्वार्थ में कमी होने लगती है या कमी की आशंका होती है तब राग या मोह द्वेष मे बदल जाता है। वैसे तो मोह अथवा राग में व्यक्ति सुख का अनुभव करता है क्योंकि यह अपनी मानी हुई या चाही

जो भी व्यक्ति कषाय रूप प्रमाद से युक्त अर्थात् राग-द्वेष सहित है, उसके तनाव, संकल्प-विकल्प रूप **अशान्ति** आदि होने से आत्मा के मूल गुण अर्थात् ज्ञान, दर्शन, **शान्ति** (सुख) वीर्य आदि भाव-प्राणों की क्षति-रूप स्व की भाव-हिंसा नियम से होगी ही और इससे आत्म-प्रदेशो में प्रकम्पन भी होने से आत्मा से सम्बन्धित मन, वचन, काया आदि की भी प्रवृत्ति होगी ही, जिससे स्वयं के द्रव्य-प्राणों का हनन भी होगा ही, जो स्वयं की द्रव्य हिंसा है। चूकि द्रव्य-प्राण शरीराश्रित होते है इसलिए जिन जीवों मे राग-द्वेष नहीं होता अर्थात् वीतरागियों या सर्वज्ञो में भी स्वयं के शरीर का 'प्राण-व्यपरोपण' अर्थात् स्वयं के मन, वचन, काया, श्वासोच्छवास एवं आयु आदि प्राणों की क्षति एवं आयु पूर्ण होने पर इन सभी द्रव्य-प्राणों का पूर्ण नाश भी होगा ही, परन्तु इसे हिंसा नही माना गया है । सर्वज्ञों के भी जब तक शरीर है, तब तक हलन-चलन, बोलना, खाना-पीना आदि क्रियाएँ भी होगी, कम से कम श्वासोच्छवास लेने अथवा नाड़ी एव हृदय की धड़कन रूप इस क्रिया से भी प्रतिक्षण असंख्य वायुकायिक आदि जीवो की विराधना रूप 'पर' का प्राण-व्यपरोपण क्रिया भी नियम से होता है परन्तु राग-द्वेष के अभाव में तथा स्वयं की भाव-हिसा न होने से इसे मात्र योगो की प्रवृत्ति से इर्यापथिक क्रिया माना गया, न इससे पाप का बन्ध माना गया और न हिंसा ही । मात्र योगो की प्रवृत्ति से होने वाले 'स्व' अथवा 'पर' के प्राण-व्यपरोपण को भी हिसा नही माना गया । अन्यथा मात्र 'प्राण-व्यपरोपण' अथवा 'योगात् प्राण-व्यपरोपण हिसा' ही कह देते जो शास्त्रकारों का इष्ट नही था तथा यह व्यावहारिक भी नहीं क्योकि इसमें जीव की परवशता है, अर्थात् यह अशक्य परिहार रूप 'स्व' अथवा 'पर' का प्राण नाश है।

इससे यह फलित होता है कि न तो 'स्व' अथवा 'पर' के मात्र प्राण नाश को और दूसरा बिना राग-द्वेप के मात्र योग से होने वाले 'स्व' अथवा 'पर' के द्रव्य प्राण-नाश को भी हिंसा नही माना गया है । इससे यह तथ्य स्पष्ट सामने आता है कि हिंसा के लिए 'प्रमाद' की अर्थात् राग-द्वेप की अनिवार्यता मानी गयी है। दूसरे शब्दों में राग-द्वेप ही हिंसा है । इसमें भी प्रश्न हो सकता है कि फिर मात्र प्रमाद को ही हिंसा कह देते, इसके साथ 'योगात्' एवं 'प्राण-व्यपरोपणं' की क्या आवश्यकता थी ?

इसका समाधान यह है कि जीव जब तक राग अथवा द्वेप करेगा तब तक उसमें योग भी नियम से रहेगा ही, क्योंकि राग-द्वेप से होने वाले आत्म-प्रदेशों के प्रकम्पन से मन, वचन, काया रूप योग प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकते । जब तक प्रमाद सहित योग है तब तक राग-द्वेप से स्वयं के भाव-प्राणों एवं योगो से स्वयं के द्रव्य-प्राणों का व्यपरोपण तो नियम से

चालू ही रहेगा और यह स्वयं की हिंसा भी है ही और इसी राग-द्वेष से पापों व कर्मों का बन्ध भी नियम से माना गया है। कहा भी है—

रागो य दोसो य बिय कम्म बीयं। —उत्तरा० अ० ३२ गा० ७

पर विचित्रता यह है कि स्वयं की यह हिंसा तनाव एवं अशान्तियुक्त होते हुए और स्वयं इसका अनुभव करते हुए भी जीव इसे समझ नहीं सकता, यह उसकी अज्ञानता का फल है अथवा अज्ञानता के फल-स्वरूप उत्पन्न हुए मोह के नशे का परिणाम है।

स्वयं की इस विचित्र एवं रहस्यमय हिंसा की जो मूल कारण राग-द्वेष है उसमें भी गहराई से विचारें तो द्वेष की जड़ भी राग ही है। द्वेष को खारा एवं काले रंग का जहर अथवा बिच्छु काटने के समान माना है, क्योंकि इससे प्रायः दूसरों का अहित सोचना या करना होता है। इसलिये इससे होने वाले टेंशन, क्रोध, आवेग एवं अशान्ति आदि को तो फिर भी आसानी से अनुभव भी किया जा सकता है और समझा भी जा सकता है। परन्तु राग एक ऐसा जहर है जो अत्यन्त सुन्दर, मधुर, सुगन्धित एव स्वादिष्ट बादाम के हलवे की तरह मीठा लगता है। साँप के काटने से आने वाली गेल या नशे के समान है इसलिये इससे होने वाले तनाव एवं अशान्ति को न तो आसानी से समझा जा सकता है और न यह अनुभव में ही आता है। क्योंकि इस सुखद एवं मधुर लगने वाली अशान्ति में दुःख एवं पाप रूप जहर भी मीठा एवं धीमी गति से असर करने वाला होता है। इसलिये जैन-दर्शन ने राग को ही हिंसा और रागरहितता-वीतरागता को ही सच्ची अहिंसा एवं धर्म माना है। इसके अनेक दूसरे प्रमाण भी है।

'जैन' शब्द स्वयं ही वीतरागता का द्योतक है क्योंकि 'जिन' अर्थात् राग-द्वेष के जीतने वाले को 'जिन' कहते है और 'जिन' के उपासकों को ही 'जैन' कहा जाता है।

इसी प्रकार जैन-दर्शन का सर्वमान्य मंत्र 'नमस्कार महामंत्र' का पहला पद भी 'णमो अरिहंताणं' है। इसमें 'अरि'—अर्थात् राग-द्वेष रूपी शत्रु को 'हंताणं' अर्थात् हनन करने वाले अथवा जिन्होने हनन कर दिया, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ और उन्हीं को सच्चे देव के रूप मे स्वीकार किया गया है।

जैन दर्शन में आत्म-विकास के क्रम-रूप मे गुणस्थान स्वरूप में भी मोह के भेद-रूप अट्ठाइस प्रकृतियो के क्षय-उपशम आदि को ही पूर्ण प्रधानता दी गई है। अठारह पापों में सबसे बड़ा पाप मिथ्यादर्शन शल्य को माना है न कि प्राणातिपात को। सम्यग् दर्शन के अभाव मे हिंसादि सत्रह पापों का त्याग मात्र द्रव्य त्याग है। सम्यक् दर्शन की प्राप्ति राग-द्वेष का मूल अनन्ता-

नुवन्धी कषाय चतुष्क एवं मिथ्यात्व मोहनीय आदि इन सात के क्षय-उपशम-क्षयोपशमादि से ही मानी है।

अहिंसा और वीतरागता में फल और बीज जैसा सम्बन्ध है। वीतरागता बीज रूप है और उसका अन्तिम फल अहिंसा है। जिस प्रकार आम आदमी फल को प्रमुखता देता है और फल के अन्दर रहे हुए बीज की उपेक्षा ही करता है, उसी प्रकार आज अधिकांश जैन समाज ने भी वीतरागता रूप सच्ची अहिंसा को भुला कर ऊपरी प्राण-शून्य द्रव्य अहिंसा को ही सच्ची अहिंसा समझा है। व्यक्ति जैसा समझता है वैसा ही वह आचरण करता है इसलिये धार्मिक क्रिया-कलापो मे भी मूल वीतरागता के लक्ष्य को भूल कर मात्र ऊपरी क्रियाकाण्डों में ही धर्म की इति श्री मान ली गयी।

जिस ज्ञान और क्रिया के फलस्वरूप यदि वर्तमान जीवन में राग-द्वेष कम न हो तो वह ज्ञान मात्र गधे की पीठ पर शास्त्रों के बोझ की तरह भार रूप है और क्रिया भी मात्र कायक्लेश रूप है।

जैन दर्शन में हिंसा-अहिंसा की इतनी तार्किक, मार्मिक, व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध होते हुए भी जैन धर्म के मानने एवं पालने वाले समाज की स्थिति आज बड़ी विचित्र, हास्यास्पद एवं दयनीय हो रही है। उसका मूल कारण भी अहिंसा का मूल प्राण जो वीतरागता है, उसको प्रायः भुला देना ही है। हिंसादि अठारह ही पापों जिनमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष एव मिथ्या दर्शन शल्य तक सम्मिलित है, उन सब पापों का करना, कराना, अनुमोदना रूप तीन कारणो से और मनसा, वाचा, कर्मणा रूप तीनों योगों से त्याग करके पूर्ण अहिंसक कहलाने वाले अधिकांश साधु-साध्वियाँ भी आज मम और अहं अथवा राग-द्वेष घटाने के बजाय उल्टे बढ़ाने में व्यस्त दिखाई देते हैं। धर्म, प्रशस्त राग अथवा धर्मानुराग के भुलावे में सम्प्रदाय, संघ अथवा संगठन के नाम पर साम्प्रदायिकता का उन्माद इतना हावी होता जा रहा हैं कि 'मैं' और 'मेरेपन' के सिवाय मानो इनको कुछ नजर ही नही आ रहा है। जब 'तिन्नाणं तारयाण' कहलाने वाले गुरु वर्ग की स्थिति इस प्रकार की हो तो बेचारा गृहस्थ अथवा श्रावक समाज जिसमें ९५ प्रतिशत तो प्रायः इन धर्म-गुरुओं के अन्धभक्त ही होते हैं, वे इस वीतरागता रूप अहिंसा के स्वरूप को समझ ही कैसे सकते है?

अहिंसा को पूर्णरूपेण आचरण में उतारने का दावा करने वाले त्यागी वर्ग मे भी जिस ज्ञान और क्रिया के फलस्वरूप जीवन मे नम्रता, सरलता, उदारता, प्रसन्नता, समता, शान्ति, करुणा, मैत्री आदि जैसे सद्‌गुण न बढ़कर अगर उल्टे अहं, संकीर्णता, वक्रता, तनाव, ममता, राग एवं द्वेष आदि के स्वरूप अगर अन्तरंग अशान्ति बढ़ रही हो तो उस ज्ञान अथवा क्रिया

से न धर्म होता है न पुण्य ही। जिस प्रकार कुटुम्ब में स्वार्थ एवं रागवश किया गया त्याग अथवा सेवा से पुण्य या धर्म नहीं होता, इसी प्रकार जिस ज्ञान अथवा त्याग के अन्दर अगर 'अहं' या 'मम' का स्वार्थ रहा हुआ हो तो वह भी धर्म के नाम पर पाप ही है, स्व-पर की अहिंसा के नाम पर स्व की तो हिंसा ही है। ऐसे अहिंसा के पुजारी अपना तो अहित करते ही है साथ में नव-युवकों एवं अजैन समाज में सच्चे अहिंसा दर्शन एवं धर्म के प्रति आस्था बढ़ाने के बजाय उल्टा घटाने का ही कार्य करते है। जिस प्रकार देश में भी आज अपनी कुर्सी एवं अपनी पार्टी की स्वार्थान्धता में वोटों की राजनीति चल रही है, सच्चे देश-प्रेम के अभाव में देश की भयंकर हानि हो रही है, फिर भी इन नेताओं को समझ में आना मुश्किल हो गया; वही हालत आज के इन धर्म-नेताओं की भी है।

कैसी विचित्र, हास्यास्पद एवं दयनीय स्थिति है हमारी कि अहिंसा के पालनार्थ कच्चे पानी एवं वनस्पति का त्याग करने वाला शरीर के रागवश दवाई के नाम पर मांसाहारी दवाइयों का प्रयोग भी नहीं छोड़ सकता। घर एवं स्थानक में कीड़ी-कुन्थुवे की दया पालने वाला लोभ के वश घी में चर्बी, इससे बढ़कर अण्डे-मछली के व्यापार या कत्लखाने तक भी खुलवाने मे नही हिचकता। लोभवश दहेज के लिये पुत्रवधुओ को मार देना, जला देना अथवा तंग करना तो मानो आम बात हो गई है। हमारे घरों, दुकानो अथवा फैक्टरियों में काम करने वाले नौकरों को जानवर से ज्यादा कुछ नही गिनते। गिरवी जैसा धन्धा करते हम गरीबों का खून भी चूस जाने से नहीं चूकते।

पूर्ण अहिंसक बनने हेतु धन, कुटुम्ब आदि को छोड़ने वालों में अधिकांश साधु-साध्वी अपने मम एवं अहम् के वशीभूत होकर संवत्सरी जैसे पर्व को एक दिन मनाने के लिये भी एक मत नही हो सकते। धर्म के प्रचार-प्रसार के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर, प्रदर्शन अथवा भक्तो की भलाई के नाम पर मन्त्र-तन्त्र एवं चामत्कारिक प्रयोगों मे फँस रहे है। स्वयं के अथवा सम्प्रदाय के ममत्व एवं अहम्त्व-वश अन्य सम्प्रदायों, सघों आदि से ईर्षा, द्वेषवश निन्दा करना, कीचड उछालना, झूठे आरोप लगाना आदि तक से भी नही चूकते। अधिकांश संघ अथवा सम्प्रदाय भी आपसी गुटबाजी संघाडेबाजी के कारण प्रेमपूर्वक रह नहीं सकते।

इन सबका नतीजा यह है कि जैन एवं अहिंसक कहलाने वाले कुटुम्बों अथवा सम्प्रदायों में भी अधिकांश व्यक्ति अन्तरंग तनाव, अशान्ति आदि से त्रस्त है और प्रबुद्ध वर्ग अथवा अन्य समाजों के लिये हँसी के पात्र बने हुये है। जैन समाज की वर्तमान इस दुर्दशा का कारण भी अहिंसा सम्बन्धी ही कुछ भूल की भूले ही है जो निम्न प्रकार है :—

वैसे ये भूले मात्र जैनों में ही हो, ऐसी बात नहीं । प्राय: सभी धर्मो की हालत भी ऐसी ही है परन्तु चूकि जैन धर्म एवं दर्शन सबसे ज्यादा अहिंसक माना जाता है, इसलिये मुख्य रूप में इसका नाम लिया गया है। वैसे तो आज के विश्व में कितनी लड़ाइयाँ, हिंसादि प्रवृत्तियाँ, मारकाट आदि धर्म के नाम पर ही हो रहे है। हिन्दुस्तान की राजनीति में भी आज धर्म को ही बहाना बनाया जा रहा है।

१. धर्म या अहिंसा का मूल जो समता अथवा वीतरागता है उसको न समझ सकना या भुला देना। वास्तव में तो 'अहिंसा परमो धर्म.' का नारा जिसे आज प्राय: सभी जैन एवं अधिकांश अजैन भी इसे जैनों का नारा मानते हैं तथा जो प्राय: हर जैन स्थानक, उपाश्रय आदि में लिखा हुआ भी मिलता है, यह जैनों का है ही नहीं, यह तो महाभारत के अठारहवे पर्व में आया वैदिकों का नारा है । जैनों का असली नारा तो 'वीतरागता परमोधर्म:' है। क्योंकि जैन-दर्शन का मानना है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि सभी पापों के मूल में तो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय हैं जिनका संक्षिप्त दो भेदों में नाम राग एवं द्वेष तथा एक भेद में कहीं मोह, कहीं प्रमाद आदि दिया गया है । कषाय अथवा राग-द्वेष के बिना कोई हिंसादि पाप कर ही नही सकता और अगर हिंसा, झूठ आदि प्रवृत्ति कषाय के अभाव में अशक्य परिहार के रूप हो जाती है तो उससे पाप का लगना नहीं माना जाता, इसे ऊपर विस्तार से सिद्ध किया जा चुका है। इसीलिये जैन दर्शन में पापों में प्राणातिपात को प्रथम रख कर भी इसे मुख्य नही माना गया। मुख्य तो मिथ्या दर्शन शल्य नामक अठारवां पाप ही माना गया है।

२. भौतिक सुखों की प्राप्ति को अर्थात् धन, कुटुम्ब, शरीर, यश आदि के मिलने को धर्म का फल माना जा रहा है, जबकि ये पुण्य रूप कर्म के फल-स्वरूप मिलते है न कि धर्म के फल-स्वरूप। भौतिक सुख जो साता वेदनीय या शुभ नाम कर्म के उदय के फल-स्वरूप है, अगर इनके भोग में जीव राग करता है तो पाप का बन्ध करता है। पर आज के ९५ प्रतिशत जैनी इस अहिंसादि ऊपरी धर्म का पालन भौतिक सुखों के लिये करते है। कई धर्म गुरु स्वयं भी इस भूल के शिकार है । अपने भक्तों का दु:ख दूर करने या धन, पुत्रादि की प्राप्ति हेतु माला, जाप, मन्त्र, तन्त्र आदि बता देते हैं या मांगलिक सुनाया करते हैं। धर्म का फल शान्तियुक्त सच्चा आध्यात्मिक सुख है।

३. स्वार्थ एवं राग आदि से रहित जो अहिंसा दया, करुणा, सेवा, परोपकार आदि धर्म का फल जो तत्काल शान्ति का मिलना है, जिसका सम्बन्ध पहले ज्यादा वर्तमान जीवन से है, उसको न समझ सकना और इसके

फलस्वरूप धर्म का फल परलोक से अर्थात् मरने के बाद स्वर्ग आदि का मिलना मानना। मम अथवा अहम् रूप स्वार्थ के नाश अथवा कमी करने की भावना युक्त होकर जो भी अहिंसादि संवर रूप अथवा स्वाध्याय, सेवा, परोपकार आदि निर्जरा रूप जो भी क्रिया की जाती है, उससे तत्काल शान्ति मिलती है। पानी पीते ही जैसे प्यास बुझती है। जैन दर्शन में नव तत्वों में धर्म के तत्व संवर, निर्जरा एवं मोक्ष को ही स्वीकार किया गया है। इनकी न स्थिति बंधती है न अबाधा काल होता है। स्थिति बंध एवं अबाधा काल कर्म का होता है। धर्म के साथ जो पुण्य होता है वह कर्म है, धर्म नहीं इसलिये कालान्तर या परलोक आदि में जो फल मिलता है वह पुण्य का है। जिस प्रकार गेहूँ, चावल आदि धान्यों के साथ खाखला या भूसादि होता है, इसी प्रकार धर्म धान्य रूप है तो पुण्य खाखले रूप है। इस भूल का नतीजा भी आज समाज भोग रहा है कि अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त के रहस्य को समझने और जीवन में पालन करने का व्रत ग्रहण करने वाले भी अधिकांशतः तनाव एवं अशान्ति से अन्तरंग में ग्रस्त हैं। कारण कि अहं के स्वार्थ को भी स्वार्थ मानना समझ में नहीं आता जबकि धन एवं सेवा के स्वार्थ से बढ़कर मुख्य किन्तु सूक्ष्म स्वार्थ तो अहं का ही है।

४. अहिंसा, दया, करुणा आदि की पालना में भी क्रम जो पंचेन्द्रिय उसमें भी सर्व प्रथम मनुष्य, फिर पशु-पक्षी आदि फिर क्रमशः चौइन्द्रिय. तेइन्द्रिय, बेइन्द्रिय फिर एकेन्द्रिय होना चाहिये था पर आज वह भी उल्टा पकड़ लिया गया। पानी एवं वनस्पति अथवा बेइन्द्रियादि की हिंसा से बचने का लक्ष्य या ध्यान तो फिर भी रह सकता है, उसके लिये तो हमेशा नियम भी लिये जाते हैं परन्तु सभी पंचेन्द्री जो पशु आदि हैं तथा मनुष्यों जिनमें हमारे कुटुम्बीजन, नौकर, ग्राहक आदि भी हैं, उन पर द्वेषवश क्रोधादि नहीं करने का नियम कब लिया जाता है? इससे हमारे कौटुम्बिक एवं सामाजिक दैनिक जीवन में तनाव एवं अशान्ति बढ़ती ही जा रही है, जो सबसे बड़ी हिंसा है।

जैन दर्शन में मोह के क्षय को ही मोक्ष तथा कषाय से मुक्त होने को ही मुक्ति माना है। मोक्ष की साधना के लिये कहा गया है—सम्यग् दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः। —तत्वार्थ अ. १ सूत्र १।

बिना सम्यग् दर्शन के अर्थात् मिथ्या दर्शन शल्य रूप अठारहवें पाप के त्याग के बिना हिंसादि सत्तरह पापों के त्याग को मात्र द्रव्य त्याग कहा है। उसे धर्म या सच्ची अहिंसा की कोटि में स्वीकार नहीं किया गया। मोह की तीव्रतम गांठ मिथ्यात्व मोहनीय एवं राग-द्वेष की जड़ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के नाश किये बिना सम्यग् दर्शन की प्राप्ति नहीं मानी।

वर्तमान जीवन में भी सच्ची शान्ति एवं आनन्द राग-द्वेष की कमी तथा समता एवं वीतरागता की वृद्धि से ही प्राप्त हो सकता है। मुक्ति भी उसी जीव की होती है जो मनुष्य जन्म मे ही पहले राग-द्वेप का सम्पूर्ण नाश कर वीतराग बनता है, फिर सर्वज्ञ बनता है, यही भाव मुक्ति है। वीतराग सर्वज्ञ का ही निर्वाण को प्राप्त होने पर देह मुक्त या द्रव्य मोक्ष होता है। राग-द्वेष से मुक्त होने पर जीव पहले स्वयं का पूरा एवं सच्चा अहिंसक वन जाता है और शरीर से मुक्त होने पर ही वह प्राणी मात्र की होने रूप हिंसा से भी बच कर 'स्व-पर' का सच्चा अहिंसक वन जाता है और सदा-सदा के लिये शाश्वत शान्ति एव आनन्द का भागी बन जाता है।

—संयोजक, स्वाध्याय संघ, घोड़ों का चौक, जोधपुर

फिर भरो अहिंसा का प्रकाश

☐ डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

[१]

ऋषियो-मुनियों की धरती पर,
नर-मेध नित्य अब होते है।
कर रहे हिंस्र पशु अट्टहास,
गीता-कुरान सब रोते है।
हिंसा के भीषण ताण्डव से,
भय-ग्रस्त हुआ सूरज युग का!
हे महावीर! तुम दो प्रकाश,
रोको विनाश, रोको विनाश!

[२]

सत्ता-विलास का लोभ बढ़ा,
जीवन के मूल्य विलीन हुए।
छल दम्भ और पाखण्ड ओढ,
मानव, पशु से भी हीन हुए।
घिर रही चतुर्दिक मृत्यु-घटा,
अंगार झरे अन्यायों के।
हे महावीर! जीवन-रण में,
फिर भरो अहिंसा का प्रकाश।

[३]

सब में ममता, सब की समता,
जन-हृदय प्रेम का सागर हो।
विद्वेप वैर प्रतिशोध भाव,
सब मिटे शिवम् मय हर नर हो।
हे महावीर! हो उदय सत्य,
सब करे क्षमा मे नित्य लास!
दो नई आश, रोको विनाश।
फिर भरो अहिंसा का प्रकाश॥

—४३/८४ उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर (राज.)



चैतन्य महाप्रभु और अहिंसा

□ डॉ० उषा गोयल

विश्व के सभी धर्म मनुष्य मात्र कल्याण के लिए बने हैं। सभी धर्मों ने प्रेम, दया और परोपकार जैसे उच्च मूल्यों का संदेश दिया है। इस संदेश की प्रक्रिया-साधन पद्धतियाँ—चाहे भिन्न-भिन्न रही हों किन्तु लक्ष्य सभी का एक ही है—मानवता का विकास। भारतीय धर्म और संस्कृति के मूल मन्त्र हैं—प्रेम और अहिंसा। इनके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों से सम्बन्धित विपुल मात्रा में सरस साहित्य की रचना हुई है जिसने भारतीय जन मानस को व्यापक रूप में, गहराई तक प्रभावित किया है। वैष्णव धर्म के अनुसार भगवद् प्रेम साध्य भी है और साधन भी। वैष्णव भक्ति में सेवा, परदुखकातरता व दीनता का विशेष स्थान रहा है। भक्त कवि नरसी मेहता ने सच्चे भक्त की परिभाषा इस प्रकार दी—"वैष्णव जव तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।" तुलसीदास ने भी कहा—"परहित सरिस धर्म नहीं भाई। परपीड़ा सम नहीं अधमाई।" वास्तव में दूसरों को किसी भी प्रकार से कष्ट देना हिंसा और सुख देना अहिंसा है। अहिंसा का यही व्यापक अर्थ वैष्णव-प्रेम-भक्ति में अभिव्यक्त हुआ है।

चैतन्य महाप्रभु प्रेम के साक्षात् स्वरूप थे, रसराज श्रीकृष्ण और उनकी आह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा श्री राधा के मीलित अवतार थे। बंगभूमि जब वाममार्गीय तान्त्रिक उपासना की हिंसात्मक व अनाचारपूर्ण साधना एवं बाह्य आडम्बरों व संकीर्ण विचारधाराओं में जकड़ी हुई थी, तब चैतन्य ने राधा-कृष्ण की सात्विक व भावमयी उपासना से जीवन को ऊर्ध्वगामी करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने नृत्य-गीत समन्वित महाभावपूर्ण संकीर्तन के द्वारा कृष्ण-प्रेम भक्ति की मधुर धारा से जन-मानस को आनन्द-रस में निमग्न किया। यही प्रेम—यही अखण्ड आनन्द, अहिंसा और शांति का मूल स्रोत है।

चैतन्य महाप्रभु के अवतरण का मूल प्रयोजन नाम संकीर्तन द्वारा प्रेम-भक्ति का प्रचार करना था। उन्होंने भगवद्-प्रेम को परम पुरुषार्थ—'प्रेमा पुमर्थो महान्'—माना। इसलिए उन्होने किसी सम्प्रदाय विशेष की स्थापना न करके अपने आचरण द्वारा सार्वजनिक प्रेम-धर्म का प्रचार किया। कृष्ण-प्रेम के माध्यम से उन्होंने जीव मात्र के प्रति प्रेम को प्रचारित किया। उन्होंने कहा—

जीवे दया नामे रुचि, वैष्णव सेवन,
एइ त्रय धर्म आछे सुनो सनातन"

—चैतन्य चरितामृत

अर्थात् जीव मात्र पर दया, भगवान के प्रति प्रेम और मनुष्य मात्र की सेवा—ये ही तीन श्रेष्ठ धर्म है।

सच्चे प्रेम में अहं का विसर्जन और आत्म-समर्पण होता है। अभिमान-शून्यता और सहिष्णुता का भाव ही हमें मन, वचन और कर्म से अहिंसक बनाता है। चैतन्य महाप्रभु का मूल मन्त्र था—"कीर्तनीयः सदा हरि"। उन्होंने संकीर्तन का सच्चा अधिकारी उस व्यक्ति को माना जो तिनके से भी अपने को तुच्छ समझे, वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बने और स्वयं अभिमान रहित होकर दूसरो को सम्मान दे—

"तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन, कीर्तनीयः सदा हरि॥"

वस्तुतः चैतन्य ने संकीर्तन के माध्यम से प्रेम और अहिंसा का सन्देश देकर अपने युग की समस्याओं का समाधान किया। उस समय की समस्याएँ भी बहुत कुछ आज जैसी ही थीं। नाना प्रकार के विद्रोह, षड्यन्त्र, हत्या, व्यभिचार व विद्वेष से भय व आतंक का वातावरण था। ऐसे समय में उन्होंने भारत के विभिन्न स्थलों में स्वयं घूम-घूमकर और अपने पार्षदों को भेजकर प्रेम का प्रचार करके हिंसात्मक उग्र प्रवृत्तियों को शान्त किया। उनका महाभावपूर्ण संकीर्तन जड़ और चेतन दोनों को प्रेममय बना देता था। राक्षसी प्रवृत्ति वाले मनुष्य ही नही, शेर, चीते जैसे हिंसक जीव-जन्तु भी उनके प्रेम के वशीभूत हो प्रेमोन्मत्त हो जाते थे।

संकीर्तन रूपी प्रेमास्त्र आज के आणविक अस्त्र से बहुत अधिक शक्तिशाली है। आणविक अस्त्र मनुष्य की देह पर प्रहार करता है अतः विनाशकारी होता है लेकिन संकीर्तन रूपी प्रेमास्त्र मनुष्य के अन्तःकरण पर प्रहार करता है, इसलिए मंगलकारी होता है। महाप्रभु चैतन्य ने इसी मंगलकारी संकीर्तन के अस्त्र से स्वेच्छाचारी व हिंसात्मक शक्तियो को झुकाया। उनके समय में जब काजी ने राजाज्ञा द्वारा कीर्तन पर प्रतिबन्ध लगाकर जनता की स्वतन्त्रता को छीना और मनमाना अत्याचार किया तो उन्होंने उसे चुपचाप सहन नहीं किया और डटकर उसका विरोध किया लेकिन शान्तिपूर्ण तरीके से। उन्होंने जन-शक्ति को जाग्रत कर काजी के सामने सामूहिक संकीर्तन किया और 'मामा' कहकर काजी को आत्मीयता से सम्बोधित किया। प्रेमास्त्र की मार से काजी का हृदय विदीर्ण हो गया और अन्ततः उसे आत्मसमर्पण कर अपनी निषेधाज्ञा वापिस लेनी पड़ी।

महाप्रभु ने काजी के द्वारा गोवध बन्द कराया और उसे अहिंसा व प्रेम का उपदेश देते हुए कहा—"गाय दूध देती है अतः तुम्हारी माता तुल्य है और बैल अन्न उत्पादन करते हैं अतः तुम्हारे पिता तुल्य हैं। माता-पिता का वध कर उनका भक्षण करना अधर्म और निन्दनीय कर्म है। जब मनुष्य में किसी प्राणी को जीवित करने की शक्ति नहीं है तो किसी को मारने का भी उसे क्या अधिकार है?" (चैतन्य चरितामृत—कृष्णदास कविराज, १/१७/१४७,१४८) महाप्रभु ने धर्म के नाम पर मूक, निरीह व निर्दोष पशुओं की बलि जैसी हिंसात्मक कुप्रथाओं की समाप्ति के लिए अनेक प्रयास किए। वे खण्डला और नासिक होते हुए जब सुराट नगर पहुँचे तो वहाँ अष्ट-भुजा देवी के मंदिर में एक ब्राह्मण बकरे को बलि चढ़ाने को तत्पर था। उन्होंने उसे रोकते हुए अहिंसा का शास्त्र सम्मत उपदेश दिया और कहा कि "कोई भी शास्त्र देवी को पशुबलि चढ़ाने के लिए नहीं कहते, शास्त्र तो अहिंसा धर्म का पालन करने और सब प्राणियों पर दया ही करने का उपदेश करते हैं।" इस सदुपदेश से ब्राह्मण के मन में अहिंसात्मक सात्विक भावों का उदय हुआ।

चैतन्य के प्रेम ने जगाई, मधाई जैसे दुराचारी व्यक्तियों और दुर्दान्त डाकुओं का भी हृदय-परिवर्तन किया। बगुला वन में पन्थ भील आदि डाकुओं के साथ तीन दिन रहकर हरिनाम—कीर्तन द्वारा उनके कठोर हृदय को द्रवीभूत किया। महाप्रभु ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि "तुम पत्नी, पुत्र आदि किसी के मोह में नहीं बंधे, गृहस्थियों की तरह विषय—वासनाओं मे नहीं फँसे, जंगलों में विरक्त साधुओं की तरह घूमते हो अतः तुम एक क्षण में सब कुछ त्यागकर प्रभु के भजन में लग सकते हो।" (चैतन्य लीलामृत—डॉ० अवधविहारीलाल कपूर, पृ० २६२)। इस प्रकार के प्रशंसापूर्ण वचनों को सुनकर डाकू के मन में आत्मग्लानि हुई और सहज रूप से पश्चाताप के भाव जाग्रत होते ही वह तुरन्त अपने पापों को स्वीकार कर महाप्रभु के चरणों में गिर पड़ा। इसी प्रकार चोरानन्दी वन में नौरोजी डाकू ने भी सकीर्तनानन्द के प्रभावस्वरूप हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ त्यागीं।

प्रेम और अहिंसा के द्वारा हृदय के परिष्कार पर चैतन्य ने सर्वाधिक बल दिया। उनका आचरण इसे भली भाँति प्रतिपादित करता है। उनके समय में सुबुद्धिराय को षड्यन्त्र के द्वारा काशी के रूढ़िवादी पण्डितों ने जाति से बहिष्कृत कर दिया था और उनके पश्चात्ताप के लिए उबलते हुए घी के पान का विधान किया था। चैतन्य ने इस प्राणघातक हृदयहीन व्यवस्था को चुनौती दी और इस निर्मम दण्ड विधान को ठुकराकर सुबुद्धिराय को वृंदावन भेज दिया, जहाँ संकीर्तनामृत के मधुर आस्वादन द्वारा उनके जीवन को सार्थक दिशा प्रदान की। चैतन्य ने प्रेम से परिपूर्ण मधुर वचनों द्वारा अहिंसात्मक प्रवृत्तियों

अहिंसा जन-साधारण के लिए तो आवश्यक ही है, नेताओं को विशेष रूप से इसका पालन कर जनता के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

गाँधीजी ने अहिंसा की परिभाषा करते हुए कहा—"मेरी सम्मति में अहिंसा किसी भी रूप में निष्क्रियता नही है। जैसा कि मैंने अहिंसा को समझा है, यह संसार में सर्वाधिक क्रियाशील शक्ति है। अहिंसा सर्वोत्कृष्ट एवं सबसे महान् नियम है।"

गाँधीजी की अहिंसा में निष्क्रियता और कायरता लेशमात्र भी नही है। एक अवसर पर उन्होंने कहा—"भारत की इज्जत की रक्षा के लिए, मैं यह अधिक श्रेयस्कर समझूँगा कि हमारा देश शस्त्र का सहारा ले बजाय इसके कि वह कायरों की तरह निस्सहाय होकर अपनी बेइज्जती होते हुए देखे।"

गाँधीजी ने अहिंसा को अपना धर्म स्वीकार करके अपने को कभी असहाय अनुभव नहीं किया। उन्होंने कहा—"कठोरतम धातु भी पर्याप्त ताप के आगे पिघल जाती है। इसी प्रकार कठोर से कठोर हृदय भी अहिंसा के पर्याप्त ताप के आगे द्रवित हो जाता है और ताप उत्पन्न करने की अहिंसा की क्षमता की कोई सीमा नहीं है। मेरे सामने अपने पचास साल के अनुभव में ऐसी स्थिति कभी नहीं आई जब मुझे यह कहना पड़ा हो, कि मेरे पास इसका कोई अहिंसक इलाज नहीं है।"

महात्मा गाँधी के अनुसार—"वस्तुतः, अहिंसा की अग्नि-परीक्षा यह है कि जब हिंसक बनने के लिए भयंकरतम उत्तेजना का अवसर मौजूद हो तब भी आदमी अहिंसक रीति से सोचे, बोले और आचरण करे। भद्र और नेक पुरुषों के प्रति अहिंसक बनने में कोई बड़प्पन नही है। अहिंसा संसार में वह सबसे बड़ी शक्ति है जो कि सबसे बड़े प्रलोभन का सामना करने की क्षमता रखती है।"

गाँधी के अनुसार—अहिंसा (किसी को हानि न पहुँचाना) का अभिप्राय है—असीम प्रेम। यह सबसे बड़ा नियम है। केवल इसी के द्वारा ही मानव जाति को बचाया जा सकता है। अहिंसा और सत्य एक दूसरे से अभिन्न हैं, और दोनों एक दूसरे की पूर्व कल्पना करते हैं। अहिंसा शक्तिशालियों और बहादुरों का अस्त्र है। भगवान् का सच्चा भक्त तलवार का प्रयोग करने की शक्ति रखता है, परन्तु वह यह जानते हुए कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की प्रतिमा है, उसका प्रयोग नहीं करेगा। शांत, दृढ़ निश्चयी और प्रभु से डरने वाली जनता के वेग के आगे दुनिया की कोई ताकत नही टिक सकती। अहिंसा संसार के समस्त शस्त्रों से अत्यधिक शक्तिशालिनी है। अहिंसा सच्ची नम्रता की अपेक्षा रखती है, क्योंकि यह अपने पर निर्भरता नही, अपितु केवल भगवदाश्रितता है।

देश की आजादी में अहिंसा की भूमिका :

स्वर्गीय आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० के शब्दों में, "गाँधी ने इस पर बड़ा चिन्तन किया। शायद यह कह दिया जाय तो भी अनुचित नही होगा कि महावीर की अहिंसा का व्यवहार के क्षेत्र मे उपयोग करने वाले गाँधी थे। संसार के सामने उसूल के रूप में अहिसा को रखने वाले महावीर के बाद में ये पहले व्यक्ति हुए। उन्होंने सोचा कि हमारे लिए यह अमोघ शस्त्र है। हमारे गौरांग प्रभु के पास में तोपें हैं, टैंक हैं, सेना है, तबेला है और हमारे पास में ये सब नही है। गाँधीजी ने अहिसा का तरीका अपनाया। सबसे पहले उन्होंने अहिंसा को अपने जीवन में और विश्व के सम्पूर्ण प्राणीमात्र के जीवन में काम आने वाला अमृत बताया और कहा कि अहिसा का अमृत पीने वाला अमर हो जाता है। उसी अहिसा पर गाँधीजी को विश्वास हो गया। गाँधीजी के सामने भी देश को आजाद करने के लिये विविध विचार रहे।"

अष्टांग योग में अहिंसा :

पतंजलि ऋषि ने अष्टांग योग की साधना मुमुक्षुजनो के सामने रखी। अष्टांग योग मे पहला है—यम। यम पाँच प्रकार के है। अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। सबसे पहला स्थान अहिसा को दिया गया है। उन्होंने कहा कि जब तक अहिसा को साध्य बनाकर नही चलोगे, तब तक आत्मा को, समाज को, राष्ट्र को और किसी को दुःख-मुक्त नही कर सकोगे। पतंजलि के शब्दों में ही "अहिसा प्रतिष्ठायां वैरत्यागः।" यदि आप चाहते है कि दुनिया में आपका कोई दुश्मन न रहे, तो आप अहिसा को धारण करे। मानव समाज में मतभेद स्वाभाविक है। अधिकारो के लिए भी संघर्ष हो सकते है। हिसा जीवन का स्वभाव नही, अपितु मनोविकार है। अहिसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है। देश आजाद हुआ। किससे ? अहिसा, प्रेम और बन्धुत्व भावना की एक शक्ति के द्वारा।

अहिंसा-तत्त्व को जीवन में उतारें :

स्वर्गीय आचार्य श्री हस्तीमल जी म०सा० ने अहिसा के सिद्धान्त को अपनाने का आह्वान करते हुए कहा—"महावीर ने धर्म-क्षेत्र मे अहिसा को अपनाने की शिक्षा दी। गाँधी ने राज्य-क्षेत्र में अहिसा को अपनाने की प्रयोगात्मक शिक्षा दी। महावीर ने अहिसा के द्वारा आत्मशुद्धि करने का बारीक से बारीक चिन्तन किया, लेकिन गाँधी ने चिन्तन किया कि घर गृहस्थी के मामलों को भी अहिंसा हल कर सकती है। अहिसा के द्वारा कोई भी बात-चाहे समाज की हो या घर की, हल की जा सकती है। जिसके घर में अहिसा के बजाय हिसा होगी, प्रेम के बजाय फूट होगी, वहाँ शक्ति, समृद्धि, मान-सम्मान सब का ह्रास होगा। उनका जीवन काम करने के लिये आगे नहीं बढ़ पायेगा।

हम विश्वनागरिक है, हम विश्वमानव हैं, इस युग में अब हम इससे छोटे नहीं रह सकते। यह विश्वमानववृत्ति पनपाने के लिए दिल को बड़ा बनाना होगा। आज विज्ञान के कारण दिमाग बड़ा बन गया है। आज छोटा बच्चा भी दुनिया का भूगोल जानता है और मनुष्य अब आकाश में घूमने लगा है। इतने विशाल और व्यापक ज्ञान के साथ-साथ अगर चित्त में छोटे-छोटे राग-द्वेष रहेंगे तो हम टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। ज्ञान की विशालता के अनुकूल हृदय भी विशाल होना चाहिए।

विराट के सामने हमारी हस्ती :

दिल व्यापक करने के लिए अपनी हस्ती का भान होना आवश्यक है। क्या है हमारी हस्ती ? यह विश्व कितना लम्बा-चौडा है ? करोड़ों गोलकों के बीच एक सूर्य है। इतने बड़े गोलकों के सामने सूर्य की हस्ती तिनके के समान भी नहीं। उस सूर्य के इर्दगिर्द हमारी पृथ्वी घूमती है। उस पृथ्वी पर असंख्य प्राणी हैं। वैज्ञानिक मानते है कि पृथ्वी पर २०/२५ लाख प्रकार के प्राणी हैं। पुराणों में ८४ लाख योनियां बतायी है। जो भी हो, करोड़ों—लाखों की बात है, हजारों की नही। उनमें मानव एक छोटी-सी योनि। उस मानवसमाज में भारत जैसा एक देश। उस देश में महाराष्ट्र प्रदेश का वर्धा नाम का छोटा-सा जिला। उसमें पवनार नाम का एक गांव। उस गांव में एक आश्रम, उसमें हम है। यानी हमारी कोई हस्ती ही नहीं। इतने विशाल ब्रह्माण्ड की कल्पना मनुष्य के सामने आती है और उसके सामने हम कितने छोटे है, इसका भ न होता है, तो अहंकार मिटता है। फिर पाप की प्रेरणा ही नहीं होती।

विज्ञान को, खास कर खगोलशास्त्र—'रेडियो अॅस्ट्रानामी' को मैं बहुत पसन्द करता हूँ। पहले हम जानते थे कि आकाश में यह जो 'मिल्की वे'— आकाशगंगा है, उसमें करोड़ों तारिकाएँ है। परन्तु अब पता चलता है कि आकाशगंगा का एक छोटा-सा हिस्सा ही हमें दिखायी देता है। ऐसी अनेक आकाशगंगाएँ होंगी। यह पढ़ कर हमें हमारी मां की एक बात याद आयी। हमारी मां रोज अपनी पूजा पूरी करके अपने कान पकड़ कर भगवान से कहती, 'हे अनन्तकोटि ब्रह्माडनायक ! मेरे अपराधों को क्षमा कर।' अनन्तकोटि ही कह दिया फिर बचा क्या ! इस तरह अनन्तकोटि ब्रह्मांड है।

'रेडियो अॅस्ट्रानामी' ने अभी यह भी जाहिर किया है कि प्लैनेट—ग्रह ग्यारह नही, लगभग पचास लाख हैं। मालूम नहीं उन ग्रहों पर क्या-क्या होगा ! भगवान की सृष्टि में चारों ओर अनन्तता है। तब पांच इन्द्रियो वाले प्राणी में ही समाप्ति हो जायेगी, यह सम्भव नही लगता। सम्भव है कि कहीं, किसी ग्रह पर आठ, नौ, दस इन्द्रियों वाले प्राणी भी हों। उनका संदेश समझने की शक्ति हममें नही है, इसलिए वे होंगे तो भी हमें मालूम नहीं होता। भगवान की बनायी सृष्टि बड़ी व्यापक है और हम अत्यन्त छोटे है, नगण्य हैं। हमें

म्रतापूर्वक विश्व की सेवा करनी है। अब विश्व से कम चीज नहीं चलेगी। कुल वेश्व और विश्व जिसके पेट में है वह विश्वेश्वर है !

ज्ञानिक बुद्धि :

विज्ञान बढ़ेगा तो जिन्दगी जटिल नहीं बनेगी, बल्कि सरल बनेगी। मने हमारे अंग्रेज मित्र डोनाल्ड से पूछा था कि आपके यहाँ लन्दन में भी यहाँ के जैसे हर दूकान में रेडियो चिल्लाता है ? तब उन्होंने बताया कि वहाँ इसकी मनाही है। वहाँ विज्ञान काफी आगे बढ़ा है, और हमारे यहाँ अभी आया है, इसलिए यह फर्क है। विज्ञान के जमाने में आज के ढंग नहीं टिकेंगे। बुद्धि ज्ञानिक होगी। हमारा हृदय प्राचीन संस्कृति का बना रहेगा और बुद्धि आधुनिक विज्ञान से भरी रहेगी।

उस युग में नम्बर एक की अहमियत इसको मिलेगी कि हर आदमी को वाने के लिए पूरा आसमान मिले। नम्बर दो में हवा, तीन में सूरज की रोशनी, वार में पानी, पाँच में अनाज, छः में काम करने के लिए औजार, कपड़ा, आवास, और सात में मनोरंजन की चीजें आदि।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर सारी दुनिया को एक मानने वाले व्यक्ति थे। संकुचित वृत्ति के व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने हिन्दुस्तान और योरप के मजदूरों की तुलना करते हुए कहा है कि दिन भ की थकान मिटाने के लिए योरप का मजदूर रात को शराब पीता है और भारत का मजदूर थकान मिटाने के लिए रात को भजन करता है। मैं अध्यात्म के ख्याल से नहीं, विज्ञान की दृष्टि से पूछता हूँ कि रात को परमात्मा के सुन्दर भजन गा कर सोना ज्यादा वैज्ञानिक है या शराब पी कर सोना ? मेरी विज्ञान पर इतनी श्रद्धा है कि वह जो भी जवाब देगा वह मुझे मंजूर होगा। रात की नींद यानी इनसान की उस दिन की मौत है। मौत के समय जो विचार बलवान होंगे, उसके मुताबिक आगे गति मिलेगी, ऐसा शास्त्र भी कहता है। तो रात को क्या करना ज्यादा वैज्ञानिक है ?

दुनिया में आज सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में वर्तमान समाज रचना कायम रख कर कुछ हलचलें चल रही हैं। लेकिन विज्ञान-युग में वे निकम्मी साबित होंगी। हम समाज रचना की बुनियाद ही बदलना चाहते है, जैसे कि 'मैं' की जगह 'हम' की स्थापना करनी होगी, विश्व को ही परिवार मानना होगा। इसकी बुनियाद है नया मन, परिवर्तित मन। पुराना मन राग-द्वेष, मान-अपमान, ऊँच-नीच-भाव, अहंकार, वासना आदि कायम रख कर सोचता है। चित्त को यह आदत छोड़नी होगी। चित्त को एक नया परिवेश प्राप्त हो। वह विकारों में न फंस कर निर्विकार भूमिका में रहे और आत्मा में स्थित शक्ति-स्रोत का उसे स्पर्श हो। विज्ञान-युग में ऐसे मुक्त चित्तवाले लोग होंगे तभी ठीक समय पर उचित निर्णय हो सकेगा।

विज्ञान-युग मे ऐसे व्यापक और जटिल सवाल आयेंगे जिनका निर्णय शीघ्रता से करना होगा। पुराने जमाने में ऋषि समाधि लगा कर व्युत्थान के

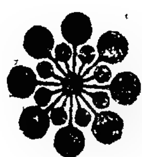
वाद सवालों का जवाब देते थे। लेकिन इन दिनों इतनी देरी के लिए अवकाश नही है। इसलिए आज अचूक उत्तर देने वाले स्थितप्रज्ञों की जितनी जरूरत है, उतनी पहले कभी नही थी। मेरा मानना है कि विज्ञान-युग का स्थितप्रज्ञ नैतिक और भौतिक योग्यता में पहले के स्थितप्रज्ञों की अपेक्षा कही अधिक ऊँचा माना जायेगा। इसमें कोई सन्देह नही कि पहले कि अपेक्षा आज स्थित-प्रज्ञता प्राप्त करना कठिन है, क्योंकि चित्त की चंचलता के लिए अनेकविध कारण उपस्थित है। परन्तु स्थितप्रज्ञता इस युग की अनिवार्य आवश्यकता है, यह भी निर्विवाद सत्य है।

एक या समान चित्त नहीं, सहचित्त :

ऋग्वेद के अंत में एक शब्द आता है—**सहचित्तमेषाम्। समानं मन. समिति. समानी**—हम सबका मन, हम सबकी बैठक समान हो। सबका 'सह-चित्त' हो।

सहचित्त कहा, एकचित्त नहीं कहा। एकचित्त बनेगा तो विविधता का लाभ नही होगा। एकतानता आ जायेगी। विचार में वृद्धि नही होगी, संशोधन नहीं होगा। चित्तलय होगा और चित्त लीन होने पर दुनिया का लोप होगा। वैसे ही, समान चित्त भी नही कहा। समान चित्त समान कार्यक्रम बनाने में मददगार हो सकता है। यानो यह बात भी नहीं कही कि सर्वसाधारण, सर्व-सामान्य अंश सबको मान्य हो, 'मिनिमम अग्रीमेंट' हो। एकचित्त और समान चित्त से भिन्न यह जो सहचित्त शब्द है, वह बहुत जानदार और अच्छा शब्द है, उसमें समान चित्त का विरोध नही। लेकिन सहचित्त वह शब्द है, जिसमें एक-दूसरे के सामने एक-दूसरे के दिल खुल जाते है। सहचित्त की आज अत्यन्त आवश्यकता है।

सहचिंतन की प्रक्रिया चलनी चाहिए। सलाह-मशविरा हो, अन्योन्य प्रबोधन हो और अन्योन्य विश्वास हो। आज दुनिया में अन्योन्य विश्वास की बहुत कमी है। गहराई में पैठ कर एक-दूसरे को समझने की कोशिश नहीं की जाती। अक्सर होता यह है कि हम कुछ अंश जानते है, कुछ नही जानते इसलिए अंदाज लगाते हैं, फलतः कुछ गलत समझ लेते है और एक-दूसरे पर गलत हेतु का आरोप करते है। विश्वास खो बैठते है। विश्वास विश्व की एक महान शक्ति है। मनुष्य जीवन मे जो स्थान श्वास का है, वह स्थान सामाजिक जीवन में विश्वास का है। (श्वास और विश्वास दोनो शब्द 'श्वस्' धातु से बने है) विज्ञान-युग में सहचित्त की आवश्यकता है और उसके लिए परस्पर विश्वास अत्यन्त जरूरी है। एक-दूसरे का मन एक-दूसरे के सामने बिलकुल खुला रहेगा तभी सहचित्त होगा। समान चित्त से सर्वसामान्य कार्यक्रम बन सकता है, लेकिन सहचित्त न हो तो काम में जोश नही आयेगा। सामाजिक काम के लिए सहचित्त की आवश्यकता है। आज मानव के सामने असली समस्या चित्त-निर्माण की है। विज्ञान-युग के लायक नया चित्त अत्यन्त आवश्यक है। □



अहिंसा : व्यक्ति और संघ के संदर्भ में

☐ पं दलसुख भाई मालवणिया

देश, काल व परिस्थिति के अनुसार अहिंसा की विचारणा में नये-नये मोड़ आते रहे है। अहिसा की विकास-यात्रा में उत्सर्ग और अपवाद के जो सोपान है वे केवल व्यक्तिगत साधना की दृष्टि से ही हो सकते है किन्तु जब साधकों का संघ बन जाता है, और सभी साधकों के योगक्षेम की दृष्टि भी विचारणा में आती है, तब अहिसा की विचारणा नया मोड़ ले लेती है। उसमें व्यक्ति की साधना गौण हो जाती है और संघ की सुरक्षा प्रधान बन जाती है। यहाँ सर्वप्रथम भगवान महावीर का जो अहिसा का उपदेश व्यक्ति के लिए था उसका विवरण प्रथम देकर बाद में सघ-दृष्टि से अहिंसा का विवरण देने का सोचा है।

व्यक्तिगत अहिंसा—भ० महावीर ने स्वयं जो साधना की वह एकाकी रहकर की थी। न उनके कोई गुरु थे और न उनके कोई शिष्य। अतएव उनका सर्व-प्रथम अहिसा के विषय में जो उपदेश था वह एकाकी विचरण करने वाले साधुओं के लिये ही था। उसमें प्रारम्भ में गृहस्थों की अहिसा का भी विचार नहीं था, केवल श्रमणों को अपनी साधना किस प्रकार करना है, यही लक्ष्य था, अतएव उसे हम व्यक्तिगत साधना की अहिसा अथवा परिभाषा में कहना हो तो जिनकल्पी की अहिसा कह सकते है। किन्तु यह व्यक्तिगत अहिंसा भ० महावीर के समकक्ष साधकों मे ही संभव है अतएव भ० महावीर के अनुयायियों ने देश-काल की परिस्थिति देखकर अहिसा के अपवादो का विवरण देना शुरू किया और अहिंसा का वह रूप जो भ० महावीर के प्राथमिक उपदेश मे था, वह नही रहा। उसका स्थान नई-नई व्याख्याओं ने ले लिया।

अहिसा का आचार—भ० महावीर का मुख्य उपदेश तो यह था कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाय।[1] इसको ध्यान में रखकर श्रमण के जिए जरूरी था कि वह भिक्षाजीवी हो[2] जिससे कि भोजनपान के निमित्त उसे हिंसा नहीं करनी पड़े। उस काल के भिक्षाजीवी आमंत्रण स्वीकार करते थे और उनके निमित्त से वना भोजन-पान स्वीकार करते थे, अतएव भ० महावीर के श्रमणों के लिए जो मुख्य नियम अहिसा की दृष्टि से अर्थात् हिंसा करना नही, कराना नहीं और अनुमोदन भी नही करना—यह वना कि वह उसके निमित्त वनी कोई भी वस्तु स्वीकार नहीं कर सकता। अन्य जैनेत्तर भिक्षु के लिए ऐसा कोई

---

१. आचा १३२, सूय. १६३, ४४४–५१, ५०६, दशवै. ६ १०-११

२ दशवै. अ ५, आचा. २१, सू. ५०६

नियम नही था 'जहा अन्नउत्थिया एगंतेण उद्देसियातिहाण पसंसंति विहाराति कारेति' (आचा. चू. पृ. ६६) यह नियम जैन श्रमण के लिए केवल भोजन-पान के लिये ही नहीं, अपितु वस्त्र-पात्र निवास के लिए भी था। इस नियम को परिभापा में कहना हो तो कहा जाय कि भिक्षु औद्देशिक वस्तु को स्वीकार न करे। सूय. ५१०

पर सापेक्ष वस्तु के स्वीकार के लिए य- नियम बना किन्तु जीवन में संपूर्ण अहिंसा का पालन करना हो तो केवल इतने से नही चलता। उसकी समग्र व्यक्तिगत प्रवृत्ति भी ऐसा होना जरूरी है कि जिसमें किसी भी जीव की पीड़ा को अवकाश न मिले। ऐसा होने पर ही वह उनकी की हुई प्रतिज्ञा कि वह किसी भी जीव की हिंसा नहीं करेगा, न करायेगा और न अनुमोदन करेगा–का पालन उचित रूप से कर सकेगा। इसके लिए जरूरी था कि वह अपरिग्रही हो क्योंकि भ. महावीर ने कहा है कि संसार में हिंसादि दोष जो होते हैं, उसका मुख्य कारण परिग्रह है[1]। अतएव भिक्षु अपरिग्रही हो– यह अत्यंत आवश्यक है[2]। यदि वह संपूर्ण अहिंसा का पालन करना चाहता है तो यह निश्चित हुआ कि वह सर्वथा नग्न रहेगा। असह्य शीत का या लज्जा का जीतना यदि शक्य न हो तभी वह वस्त्र का उपयोग करेगा। उत्सर्ग तो नग्नता का ही है। सहन शक्ति आ जाने पर और लज्जा-विजय होने पर वह नग्न ही वन जाय[3]। इसी प्रकार जव उसने अहिंसा की प्रतिज्ञा की तव वह असत्य भाषण, चोरी, कामराग से भी मुक्त हो, यह भी जरूरी है, अतएव अहिंसादि पांच महाव्रत उसके लिए अनिवार्य माने गये। (आचा. ७७६)

भिक्षु आत्मार्थी होता है अतएव वह शरीर को उतना ही महत्त्व देता है जितने से उसकी धर्मप्रवृत्ति अप्रमत्त वनी रहती है। अतएव आवश्यक माना गया कि वह स्नानादि शरीर विभूपा के लिए आवश्यक प्रवृत्ति से विरत होगा (सूत्र. ४४८-६) और शरीर की चिकित्सा भी नही करेगा (आचा. ०६४, ३०२, ७२८)

सदैव अपने मन-वचन काया की प्रवृत्ति में जाग्रत रहना, अप्रमत्त रहना अनिवार्य है, अतएव वह अपने आपका निरीक्षण करे और दिन और रात्रि में लगे दोषों का निराकरण भी करे, यह अनिवार्य माना गया। प्रतिक्रमण की क्रिया उनके लिए अनिवार्य मानी गयी जिससे कि पापशोधन होता रहे।

(दशवै. १६४, १६६–२०६, ४१–४७, ४६–५३)

---

१. सूय. ४३६

२. सूय. ११८-११६

३. आचा. १८४, १८७, २१४, २१६, २२१, २२५, २२६

अहिंसा पालन के लिए जीव-ज्ञान आवश्यक—व्यक्तिगत अहिंसा की साधना के साथ-साथ तत्त्वविचारणा भी अनिवार्य है क्योंकि उसी के आधार पर समग्र जीवन नियमित बनता है। भ. महावीर ने देखा कि ऐसे गई लोग हैं जो अनगार तो बन गये है किन्तु जीवों का ज्ञान ही नही तो वे अहिंसा का पालन कैसे करेंगे ? अतएव उनका सर्वप्रथम उपदेश जीवविज्ञान विषयक था। जीवनिकाय छह हैं—पृथ्वी, आप, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस। यदि सच्चे अर्थ में अहिंसक बनना है तो इन जीवों की पीड़ा से, घात से, हिंसा से बचना जरूरी है (आचारांग का प्रथम अध्ययन) त्रस के अलावा स्थावर जीवों के सूक्ष्म और बादर ऐसे भी प्रकार बताये गये। (दशवै. ४२, प्रज्ञापना २०, २६, २६, ३२, ३५) अतएव प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ये जीव सर्वत्र व्याप्त हैं तो उनकी हिंसा से कैसे बचा जा सकता है ? अप्रमाद हो, जागृति भी हो फिर भी जो जीव हमारे चाक्षुष ज्ञान का विषय ही नहीं बनते, उनकी सुरक्षा हम कैसे कर सकते है ? और यदि नही कर सकते तो हमारी प्रतिज्ञा कि हम किसी प्राणी की हिंसा नही करेंगे, उसका पालन कैसे होगा ? सभी तीर्थकरों का यह तो सामान्य उपदेश है ही कि किसी भी जीव का घात नहीं करना चाहिए। (आचा. १३२) ऐसी स्थिति में हमारी प्रतिज्ञा में संशोधन जरूरी है अथवा हिंसा की व्याख्या में ही संशोधन किया जाय।

व्यक्ति की अहिंसा के अपवाद—इस प्रश्न के समाधान में जो अपवाद किया गया कि सर्वजीव की हिंसा का अर्थ होगा—सूक्ष्मातिरिक्त सर्वजीव की हिंसा क्योंकि सूक्ष्मजीवों की हिंसा बादर से (स्थूल से) हो नही सकती। अतएव उसकी हिंसा का प्रश्न ही नहीं। उनकी हिंसा तो परस्पर से होती है। (आचा. चू. पृ. २२) फिर भी प्रश्न तो बना ही रहा कि हम कितना भी प्रयत्न करें जो स्थूल या बादर जीव माने गये है, वे भी सभी प्रयत्न करने पर भी हमारे द्वारा पीड़ा को प्राप्त नही होंगे, यह संभव नही। अपना इरादा न होने पर भी जीव का घात होना संभव है ही। ऐसी स्थिति में हम हमारी प्रतिज्ञा का पालन कैसे कर सकेंगे ? इसका समाधान और एक अपवाद देकर किया गया कि यदि आप यतना से प्रवृत्ति करेंगे तो जीव घात होने पर भी वह हिंसा मानी नहीं जायेगी। (दशवै. ६१-६३) जैसे डाक्टर या वैद्य शुभ निष्ठा से अपना कार्य करता है और रोगी को उससे पीड़ा होती है फिर भी वह दोषी नहीं माना जाता है, वैसे ही अणगार अपनी प्रवृत्ति मे यतना (अप्रमाद) को अपनाता है तो जीवघात होने पर भी वह हिंसक नहीं माना जायेगा।

इस विषय में और भी सूक्ष्म विचारणा हुई और अहिंसा का चिन्तन आगे बढ़ा। हिंसा पाप है—इसीलिए कर्मबन्ध का कारण है और इसीलिए उसका त्याग मोक्षार्थी के लिए जरूरी है और केवल परघात करने से ही हिंसा होती है सो बात नहीं। स्वघात करने से भी हिंसा होती है क्योंकि स्वघात भी पापवन्ध

ण वि किंचि अणुण्णायं पद्रिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं।
एसा तेसिं आणा कज्जे सच्चेण होयव्वं ॥
कज्जं णाणदीयं उस्सग्गववायओ भवेसच्चं।
तं तह समायरंतो तं सफलं होई सव्वं पि ॥
दोसा जेण निरूभंति जेण तिज्जीति पुव्यकम्माई।
सो सो मोक्खोवाओ रोगावत्थासु समणं व ॥

—निशीथ भाष्य ५२४८–५२५०

तीर्थकरों ने यह नही कहा कि तुम यह करो और यह न करो। उनकी सामान्य आज्ञा इतनी थी कि कार्य सिद्ध हो, ऐसा करो। कार्य है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उनकी सिद्धि। इतना समझ लो कि दोष का निरोध जिससे हो और जिससे पूर्व कर्म का क्षय हो, वह सब मोक्ष का उपाय है। जिस प्रकार रोगों का उपशमन जिससे हो भी हो, वह उपाय है। ऐसा कह करके आचार्यों ने अपना मार्ग प्रशस्त कर दिया और उत्सर्ग से अपवाद की ओर बढ़े।

लोग सामान्यतः सूत्र की दुहाई देते हैं और कहते है कि मूल सूत्र में तो इतना ही कहा है, आप यह अपवाद मार्ग कहाँ से लाए तो उसका भी उत्तर दिया गया है कि सूत्र तो सूचक होता है अतएव सूत्रों की सूचनाओं को खोज निकालना व्याख्याताओं का कार्य है—(निशीथभाष्य–५२३३) जैन सूत्र रचना की विशेषता यह है कि तीर्थकंर अर्थ का उपदेश देते हैं, उसके आधार पर शब्द रचना गणधरों की है। अतएव शब्द का प्राधान्य नही किन्तु अर्थ का प्राधान्य है। और व्याख्याताओं का यह कार्य होता है कि वे शब्द में से विविध अर्थो की खोज करे। यही कारण है कि शब्द से सूचित होने वाला अपवाद मार्ग भी तीर्थकर मान्य हो गया और उसे उतना ही महत्त्व दिया गया जितना उत्सर्ग को। यहाँ यह स्पष्टीकरण जरूरी है कि अपवाद मार्ग का सेवन स्थविर कल्पी के लिये है, जिन कल्पी के लिये नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि एकचारी के लिये अपवाद की आवश्यकता ही नही, केवल जो गच्छवासी है, समूह में रहते हैं, उनके लिये ही अपवाद मार्ग की चर्चा है। (निशीथ गाथा चूर्णी ६६९७–९८) और यह भी जानना आवश्यक है कि जिस प्रकार औत्सर्गिक मार्ग का पालन न करने पर प्रायश्चित्त है उसी प्रकार अपवाद का पालन न करने पर भी प्रायश्चित्त का विधान है। (नि. गा. २३१)

इससे स्पष्ट है कि उत्सर्ग और अपवाद आचरण की दृष्टि से समकक्ष हो हो जाते हैं, इतना ही नही किन्तु उत्सर्ग का त्याग कर अपवाद का आचरण अनिवार्य हो जाने से उससे बलवान भी सिद्ध होता है।

उत्सर्ग और अपवाद—संयमी पुरुष के लिये जो प्रतिषिद्ध है वह उत्सर्ग है और उन्हीं प्रतिसिद्ध आचरणों को परिस्थितिवश करना अनिवार्य हो जाता

है तब वे विधि के अन्तर्गत हो जाते हैं और अपवाद या अनुज्ञा कहे जाते है (निशीथ ३६४ की चूर्णि, गाथा ५२४५) इसी विधान में एक ही अपवाद है और वह यह कि मैथुन विषयक प्रतिषेध का कोई अपवाद नहीं, बाकी के सब मूल और उत्तर गुण के विषय में अपवाद हैं।

कामं सव्वपदेसु वि, उस्सगपवाद धम्मता जुत्ता
मोतुं मेहुण धम्मं ण, विणा सो रागदोसेहि ।।

— निशीथ ३६४

तात्पर्य यह है कि अपवाद के सेवन में भी राग-द्वेष का अभाव आवश्यक है। दर्प से सेवन करने पर विराधक होता है और बिना दर्प के सेवन करने पर ही वह आराधक होता है—

रागद्दोसाणुगत्ता तु दप्पिया, कोप्पिया तु तद्भावा,
आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पे ण ।। नि. ३६३
अकारण अपवाद का सेवन दर्प प्रति सेवन है जो निषिद्ध है।

नि. गाथा ८८, १४४, ३६३, ४६३, ७४, ९०, ९१.

और सकारण प्रतिसेवन कल्प है। संयमी पुरुष के लिये मोक्ष मार्ग पर चलना अनिवार्य है। और मोक्ष मार्ग है ज्ञान, दर्शन, चारित्र। ज्ञान और दर्शन जितना विशुद्ध होगा उतना ही चारित्र विशुद्ध होगा क्योंकि चारित्र के कारण रूप ज्ञान, दर्शन है। अतएव चारित्र के विशुद्ध पालन के लिये ज्ञान, दर्शन आवश्यक है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान दर्शन की हानि करके चारित्र पालन नहीं हो सकता अतएव अपवाद के पालन का प्रसंग वहीं आता है जहाँ ज्ञान दर्शन की हानि की सभावना होती है। परम्परा कारण में दुर्भिक्ष आदि भी हो सकते है अर्थात् ज्ञान, दर्शन के लिये अपवाद सेवन को भगवान महावीर की अनुज्ञा के अन्तर्गत किया गया है। और यदि अपवाद का आचरण नहीं किया गया तो ज्ञान, दर्शन की हानि होने से प्रायश्चित्त का विधान भी किया गया। तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में अपवाद मार्ग का सेवन अनिवार्य है। सारांश इतना ही है कि प्रमाद रूप सेवन निषिद्ध है। और अप्रमादी होकर सेवन करना है

दरुप्पो जो पमादो, कप्पो पुण अपमत्तस्य।
कप्पइ त्ति कप्पो, जं भाषित आयारो ।।

— [illegible]

ज्ञान का महत्त्व चारित्र के लिये आवश्यक है। यह तो दशवैकालिक (६४) से स्पष्ट है किन्तु छेद सूत्रों में ज्ञान-दर्शन के लिये अपवाद की अनिवार्यता करार दी गई है, वह व्यक्तिगत अहिंसा की दृष्टि से नहीं की [illegible]

परिग्रह को पाप दोनो ही मानते है। फिर भी दोनों परस्पर खंडन में रत है। परिग्रह के कारण हिंसा होती है, यह जैनागम मानते है और दिगम्बर ग्रंथ भी। फिर भी दोनों के बीच कोई समाधान नही। जिस प्रकार जीव घात हो या न हो फिर भी राग-द्वेष के कारण हिंसा हो सकती है, यदि यह माना जाए तो वस्त्र हो या न हो, मूर्च्छा के कारण ही परिग्रह माना जावेगा। इस तथ्य को दोनो क्यों नही स्वीकारते ? स्पष्ट है कि हमारी विचारणा के अनुसार हमारे आचार को भी नया मोड जैन समाज ने दिया नहीं। केवल एक बार सम्प्रदाय दृष्टि से ग्रहण किया, उसे बदलने को कोई तैयार नही। अन्य बहुत बातें बदल दी गईं फिर भी सवस्त्र और अवस्त्र के कारण दोनों में मतभेद बना हुआ है क्योंकि उसी के आधार पर दोनों संप्रदाय पृथक् हुए हैं।

यही बात मूर्ति-पूजा और अमूर्ति-पूजा के विषय में कही जा सकती है। मूर्ति पूजा करने वाले भी भाव पूजा का ही महत्त्व मानते है और मूर्ति को न मानने वाले भी भाव पूजा का महत्त्व मानते हैं। फिर भी यदि दो सम्प्रदाय बन गए तो इस विषय में समाधान की कोई गुंजाइश नही रही।

यही बात स्थानकवासी और तेरापंथी की भी है। दोनों में आज प्रवचन और आचार में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता, फिर भी दोनों अपने-अपने स्थान में मौजूद है।

बात असल यह है कि शिथिलाचार की समस्या को लेकर ही ये सभी सम्प्रदाय बने और वे उत्तरोत्तर शिथिलाचारी होकर भी अपने को उत्तमाचारी मानकर अपने अहं की पुष्टि करते है। जिस प्रकार स्वयं समग्र जैन समाज का यह दावा है कि हम ही संसार में अहिंसक है और शेष में तो हिंसा का साम्राज्य है, किन्तु जैनियों की ही हिसा की व्याख्या को समक्ष रखा जाय तो मेरी समझ मे जैनों की यह मान्यता भी एक अपने अहं की पुष्टि के अलावा और कुछ भी नही है।

लाउड स्पीकर का प्रयोग करना कि नही और आधुनिक टायलेट का प्रयोग करना कि नही, ऐसे जो विवाद चल रहे है उसे अहिंसा की चर्चित व्याख्या के प्रकाश में देखा जाए तो विवाद को कोई अवकाश रहता ही नही, फिर भी हमारी प्रकृति यह है कि कुछ भी नया करने पर, वह नया है, इसलिये नही अपनाना, यह सामान्य मत बनता है। उसके विषय में पूरा विचार नही किया जाता। एक ही दलील दी जाती है कि ये अपवाद कहाँ जाकर अटकेंगे ? अतएव उनकी प्रवृत्ति नही करना किन्तु यदि वास्तविक परिस्थिति और हिंसा-अहिंसा की आज तक की विचारणा देखी जाय तो विवाद को कोई अवकाश रहता ही नहीं।

—पूर्व निदेशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर,
गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद

□□□



अहिंसा*

प्रस्तोता—श्री पी. एम. चौरड़िया

[१]

(१) **प्रश्न**—अहिंसा का अर्थ बताइये ?

उत्तर—(१) अहिंसा याने किसी को न सताना, किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना। मन, वचन, कर्म से किसी के प्रति अनिष्ट का चिन्तन न करना, अहिंसा है।

(२) अहिंसा अर्थात् प्रेम—सर्वांगीण प्रेम, सर्वस्पर्शी प्रेम, सर्वग्राही प्रेम।

(२) **प्रश्न**—द्रव्य अहिंसा एवं भाव अहिंसा का अर्थ बताइये ?

उत्तर—किसी भी प्राणी के इन्द्रियादि दस प्राणों में से किसी भी प्राण का प्रमाद या कषायवश होकर घात न करना और रक्षा, सेवा, दया, करुणा आदि करना द्रव्य अहिंसा है।

आत्मा के शुभ परिणामों व गुणों का घात न करना किन्तु आत्म-परिणामों व गुणों में वृद्धि करना भाव अहिंसा है।

(३) **प्रश्न**—'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'

दशवैकालिक सूत्र (१–१)

उपर्युक्त शास्त्र की वाणी का अर्थ बताइये ?

उत्तर—धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह अहिंसा, संयम और तप रूप है।

[२]

(१) **प्रश्न**—अहिंसा का प्रारम्भ कहाँ से होता है और उसकी चरम स्थिति क्या है ?

उत्तर—अहिंसा का प्रारम्भ होता है—प्रमाद-त्याग और संयम से। करुणा, मैत्री भाव आदि के रूप में उसका विकास होता है और जब प्राणी मात्र के प्रति अभेदानुभूति या अद्वैत भावना हो जाती है, वह उसकी चरम स्थिति है।

(२) **प्रश्न**—अहिंसा सभी तरह से कल्याणप्रद होने पर भी प्राणी अहिंसा पालन के लिए क्यों प्रयत्नशील नहीं होता ?

---

* श्री एस. एस. जैन युवक संघ, मद्रास द्वारा आयोजित कार्यक्रम जिसमें साहूकार पेट, कोडम्बवाकम एवं सुलै संघ ने भाग लिया।

[६]

(१) **प्रश्न**—कहं चरे कहं चिट्ठे, कहं मासे, कहं सए।
कहं भुंजतो, भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥
जयं चरे जयं चिट्ठे, जयंमासे, जयं सए।
जयं भुंजतो, भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥

अर्थ—हम कैसे चलें, कैसे खड़े हों, कैसे बैठें, किस प्रकार लेटें, कैसे खायें और कैसे बोले कि जिससे पाप कर्म काबन्ध न हो।

यतना पूर्वक चलने, खड़े होने, बैठने, लेटने, भोजन करने और बोलने से पाप बन्ध नहीं होता है।

उपर्युक्त शास्त्र की वाणी किस सूत्र से ली गई है ?

उत्तर—'दशवैकालिक सूत्र' (४-७-८)

(२) **प्रश्न**—'अहिंसा परमं पदमं'।

उपर्युक्त वाणी किस पवित्र ग्रन्थ से ली गई है ?

उत्तर—'भागवत पुराण'

(३) **प्रश्न**—'अहिंसाया य भूतानाममृतत्वाय कल्पते'

अर्थ—अहिंसा प्राणियों के लिए अमृत के समान है। उपर्युक्त वाणी कि पवित्र ग्रन्थ से ली गई है ?

उत्तर—'मनु स्मृति'

[७]

(१) **प्रश्न**—अहिंसा की तुलना भूमि से किस प्रकार की जा सकती है ?

उत्तर—जमीन पर सब टिका हुआ है। विशाल महल, भवन, किले, पहाड़ आदि सभी तो जमीन पर टिके हुए हैं। उसी प्रकार अहिंसा है तो सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह टिक सकेगा। अन्य सब व्रतों की जड़ अहिंसा है। अहिंसा के बिना सत्य, करुणा, क्षमा आदि कुछ भी नहीं टिक सकेंगे।

(२) **प्रश्न**—'पेट भरो, पेटी न भरो' ऐसा किस प्रयोजन से कहा गया है ?

उत्तर—भूख को शांत करने के लिए अपना पेट भरना चाहिए। भूख से अधिक भोजन करना, संग्रह करना चोरी है, अनीति है, हिंसा है। अधिक परिग्रह का संचय बिना हिंसा के सम्भव नहीं। दूसरे के हक-संग्रह करने से प्राणी मात्र में मैत्री भाव का विकास नही हो सकता, अतः हम अहिंसक नही बन सकते।

(३) **प्रश्न**—अहिंसा का क्षेत्र एवं स्वरूप क्या है ?

• **अहिंसा**

उत्तर—अहिंसा का क्षेत्र व्यापक है। किसी भी प्राणी के अधिकार का हनन न हो, उसको परिताप न दिया जाय, उस पर शासन न किया जाय और न ही उसके प्राणों का नाश किया जाये, यही अहिंसा का स्वरूप है।

[८]

(१) **प्रश्न**—तेरहवें गुणस्थान वाले केवलियों को सिर्फ पुण्य प्रकृति का ही बन्ध क्यों होता है, पाप प्रकृति का क्यों नही ?

उत्तर—हिंसा कषाय भाव मे है। किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना, अपने आप में हिंसा नहीं है। केवलज्ञानी राग-द्वेष की स्थिति से सर्वथा अलग है। उनके अन्दर किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव नही है, अपितु सर्वांगीण, सद्भाव है, अतः उनके शरीरादि से होने वाली हिंसा हिंसा नही है। केवली स्वभावतः हिंसा करते नहीं है, इसलिये पाप प्रकृति का बंध नहीं होता।

(२) **प्रश्न**—जैन धर्म में साधु-संतों के अहिंसा व्रत एवं श्रावकों के अहिंसा व्रत में क्या अन्तर है ?

उत्तर—साधु-संत सम्पूर्ण अहिंसा का पालन करते हैं जबकि श्रावक अपने सामर्थ्य के अनुसार देश-अहिंसा का। साधु के अहिंसा व्रत को अहिंसा महाव्रत कहते है, जब कि गृहस्थ के अहिंसा व्रत को अहिंसा अणुव्रत कहते है।

(३) **प्रश्न**—जैन धर्म में अहिंसा व्रत के पाँच अतिचार कौन २ से बताये गए है ?

उत्तर—(१) बन्ध—रोषवश गाढा बंधन बांधा हो।
(२) वध—गाढ़ा घाव घाला हो।
(३) छविच्छेद—अवयव (चाम आदि) का छेद किया हो।
(४) अति भारारोपण—अधिक भार भरा हो।
(५) भक्तपान विच्छेद—आहार, पानी का विच्छेद किया हो।

[६]

(१) **प्रश्न**—(i) 'अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु हैं'।
(ii) 'अहिंसा का अर्थ है, ईश्वर पर भरोसा रखना'।
(iii) 'अहिंसा में ही सत्य के दर्शन करने का सीधा और छोटा सा मार्ग दिखाई देता है'।

अहिंसा के सम्बन्ध में विभिन्न अवसरों पर ये उत्तम विचार किसने प्रकट किए ?

उत्तर—महात्मा गाँधी ने।

(२) प्रश्न—'यह अहिंसा भगवती भयभीतों को शरण के समान है। पक्षियों के लिए आकाश के समान है। प्यासों के लिए पानी के समान है। भूखों को भोजन के समान है। समुद्र के मध्य में जहाज के समान है। चौपायों के लिए आश्रम-स्थल के समान है। दुःखी-रोगियों के लिए औषध-वल के समान है। घोर जंगल में सार्थ के साथ गमन करने के समान है। यही नहीं, अहिंसा इनसे भी विशिष्टतर है। वह पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय बीज, हरित, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस, स्थावर समस्त प्राणियो के लिए क्षेम-कल्याण करने वाली है।'

उपर्युक्त वाणी किस शास्त्र से हिन्दी में अनुवाद है ?

उत्तर—'प्रश्न व्याकरण सूत्र' के प्रथम संवर द्वार से।

(३) प्रश्न—धर्म एवं देश, न्याय एवं नीति की रक्षा के लिए क्या अहिंसक गृहस्थ के लिए शस्त्र उठाना न्याय संगत है ? शास्त्रों में वर्णित उदाहरण देकर इसकी पुष्टि कीजिए।

उत्तर—अहिंसक का पहला कर्तव्य है कि वह धर्म, देश, न्याय-नीति की रक्षा करने के लिए सभी शांतिपूर्ण अहिंसक उपायों से काम ले, लेकिन ऐसा सम्भव न हो सके तो अहिंसक गृहस्थ का नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने पर लादी गई हिंसा और अन्याय का समर्थ न्यायपूर्ण प्रतिरोध करे।

उदाहरण—(१) भगवान महावीर के उपासक वैशाली गणाध्यक्ष चेटक ने, जो व्रतधारी श्रावक थे, न्याय एवं नीति की रक्षा के लिए शरणागत की पुकार पर कोणिक के साथ युद्ध किया।

(२) राजा उदयन ने हार, हाथी और दासी के लिए न्याय की रक्षा हेतु चण्ड प्रद्योतन से युद्ध किया।

[१०]

(१) प्रश्न—।।नेमजी की जान वणी भारी ।।

(तर्ज—दया पालो बुध जन प्राणी....... ....)

नेमजी री जान वणी भारी, देखण को आवे नर नारी।।टेर।।

घट रही हुक्का सरणाई, व्याह में आए वड़े भाई।
झरोखे राजलदे आई, जान को देखत सुख पाई।

दोहा—उग्रसेनजी देख के, मन में कियो विचार।
बहुत जीव को करी एकठा, वाड़ो भर्यो तिवार।
करी जव भोजन की त्यारी........नेमजी........

नेमजी तोरण पर आये, पशु सव मिलकर कुराये।
नेमजी वचन यूं फरमाए, पशु ये काहे को लाये।

दोहा—याको भोजन होवसी, जान वास्ते त्यार ।
एह वचन सुण नेमजी, थर थर कंपी काय ।
भाव से चढ़ गए गिरनारजी.......नेमजी.......

उपर्युक्त स्तवन के रचनाकार कौन है ?

उत्तर—श्री नवल मल ।

(२) **प्रश्न**—भूल चुका है मनुज श्री........

कौन सुनेगा, आज यहाँ पर पीर को,
भूल चुका है आज़ मनुज श्री राम, कृष्ण महावीर को ।
कभी जटायु की सेवा में, राम बलि-बलि जाते थे,
घायल पक्षी को हाथों में, ले आंसू टपकाते थे,
आज खड़ा है भाई आगे, भाई ले शमशीर को ।
भूल चुका है... ....।।१।।
कभी वीर चन्दन बाला से, उड़द बाकुले पाये थे,
चण्डकौशिया विष के बदले, अमृत को बरसाये थे;
आज मनुज बरसाते है, कटु वाणी के विषतीर को ।
भूल चुका है...........।।२।।

उपर्युक्त स्तवन के रचनाकार कौन है ?

उत्तर—श्री कुमुद मुनि

(३) **प्रश्न**—।।वीर जिनेश्वर सोई दुनिया........।।

वीर जिनेश्वर सोई, दुनिया जगाई तूने ।
ज्ञान की मधुर सुरीली, वंशी बजाई तूने ।।१।।
भारत की नैया डोली, मृत्यु आ सिर पर बोली ।
स्वर्ग से आकर भगवन्, पार लगाई तूने ।।२।।
पशुओं पै छुरियाँ चलती, रक्त की नदियाँ बहती ।
करुणा के सागर, करुणा-गंगा बहाई तूने ।।३।।

उपर्युक्त स्तवन के रचनाकार कौन है ?

उत्तर—'श्री अमर मुनि'

[११]

(१) **प्रश्न**—एक मछली को जीवन दान देने से मृगसेन धीवर को किस भव में कई जीवन दान मिले ?

उत्तर—'दामनखा' के भव में ।

(२) **प्रश्न**—ढंढण मुनिराज को किस पूर्व भव की घटना से सदैव भिक्षा में रूखा-सूखा भोजन ही प्राप्त होता था ?

उत्तर—पूर्व जन्म में ढंढण मुनि एक खेत का रखवाला था। राजा के खेत में मजदूरों एवं बैलों से कुछ घंटे काम का नियम था। जब दोपहर के विश्राम में छुट्टी मिलती थी तो वह अपना निजी कार्य करवाता था, जिससे वे सुख से भोजन भी नही कर पाते थे। यद्यपि यह सूक्ष्म हिंसा थी, किन्तु उसके निजी स्वार्थ ने उसे मानवीय कर्तव्य से परे हटा दिया था। उन्ही पूर्व कर्मों के फल स्वरूप ढंढण मुनि को भिक्षा में रूखा-सूखा आहार मिलता था।

(३) **प्रश्न**—निम्न महान् आत्माओं को आज भी 'अहिंसा' के सदर्भ में क्यों याद किया जाता है?

(१) नेमी नाथ तीर्थंकर, (२) धर्म रुचि अणगार, (३) मैतार्य मुनि, (४) मेघरथ राजा

उत्तर—(१) नेमीनाथ तीर्थंकर—पशुओं पर करुणा करने से।
(२) धर्म रुचि अणगार—कीड़ियों पर दया करने से।
(३) मैतार्य मुनि—कुक्कुट की रक्षा के कारण।
(४) मेघरथ राजा—शरणागत कबूतर की रक्षा के कारण।

[१२]

(१) **प्रश्न**—अहिंसा का आचार पक्ष के अलावा विचार और व्यवहार पक्ष भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कृपया यह बताइये कि अहिंसा का विचार एवं व्यवहार पक्ष कौनसा है?

उत्तर—(१) अहिंसा का विचार पक्ष है—अनेकान्त।
(२) अहिंसा का व्यवहार पक्ष है—अपरिग्रह।

(२) **प्रश्न**—मन, वचन और काया के त्रियोग में मन की अहिंसा (मानसिक अहिंसा) को सर्वोपरि महत्त्व क्यों दिया गया है?

उत्तर—हिंसात्मक भावनाएँ सर्व प्रथम मानस पर पनपती हैं, इसलिये मन को हिंसा से बचाना अत्यन्त आवश्यक है। वचन और काय हिंसा मानसिक हिंसा होने के बाद ही सम्भव है, इसलिये मन की अहिंसा को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

(३) **प्रश्न**—अहिंसा के निषेधात्मक एव विधेय पक्ष की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

उत्तर—अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष है—किसी को मत मारो, किसी के मन, हृदय को आघात मत पहुँचाओ। दूसरी ओर अहिंसा का विधेय पक्ष है—मैत्री भाव स्थापित करना और अपने जैसा व्यवहार सबके साथ करना, अहिंसा का विधेय पक्ष है।

—89, Audiappa Naicken Street,
Sowcarpet, Madras-600 079



अहिंसा-तत्त्व

□ प्रो० कल्याणमल लोढ़ा

विश्व का रचनात्मक चिन्तन आज भौतिकवाद, हिंसावाद और आतंकवाद के विरुद्ध जागरूक होकर शान्ति के नए आयाम खोज रहा है—इसके साथ ही वर्तमान काल की भौतिकवादी उपभोक्ता अप संस्कृतिकी चकाचौध में वैचारिक-ऊहापोह से संत्रस्त ऐसी धारा भी है जो युद्ध, हिंसा, प्रतिशोध, सत्ता और अधिकार की अन्तहीन महत्त्वाकांक्षा को मनुष्य की प्रकृति का जन्मजात और आवश्यक अंग गिनती है, तो दूसरी अहिंसा, समता, सहिष्णुता, मैत्री और सह अस्तित्व को। कुछ उदाहरण देखें। नीट्शे ने कहा था कि "दयनीय और दुर्बल राष्ट्रों के लिए युद्ध एक औषधि है।" रस्किन ने माना कि "युद्ध में ही राष्ट्र अपने विचारों की सत्यता और सक्षमता पहचानता है। अनेक राष्ट्र युद्ध में पनपे और शांति में नष्ट हो गये।" मोल्टेक "युद्ध-हिंसा को परमात्मा का आन्तरिक अंग" गिनता था। उसकी धारणा थी कि स्थायी शान्ति एक स्वप्न है। डार्विन का शक्ति सिद्धान्त तो ज्ञात है ही। स्पेंगलर जैसा इतिहासज्ञ भी युद्ध को मानवीय अस्तित्त्व का शाश्वत रूप गिनता है। आर्थर कीथ ने 'युद्ध को मानवीय उत्थान की छँटाई गिना'। वैज्ञानिक डेसमोन्ड मोरिस, 'नैकड एप', राबर्ट आड्रे 'दि टेरीटोरियल इम्पेरेटिव', व कोनार्ड लारेंज 'आन एग्रैसन' मे फ्राइड की मान्यता के पक्ष धर है कि आक्रामकता और हिंसा मनुष्य की जन्मजात, स्वतंत्र, सहज एवं स्वाभाविक चित्तवृत्ति है।

इन भ्रान्त धारणाओं के विपरीत दूसरा व्यापक और स्वस्थ मत है उन विचारकों का, जो अहिसा के सिद्धान्त और दर्शन को आज चिन्तन के नये धरातल पर प्रतिष्ठित कर उसे केवल धर्म और अध्यात्म का ही नहीं, दर्शन और मुक्ति का साधन ही नही, सामाजिक परिवर्तन, अहिंसक समाज, विश्वशांति और सार्वभौम मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में भी स्वीकार कर रहा है। यूनेस्को जैसी संस्था ने भी इस पर गम्भीर विचार-विमर्श के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियां आयोजित कीं व सामाजिक सर्वेक्षण और शोध योजनाओं को विविध रूपेण क्रियान्वित किया। आज सभी देशों, वर्गो और समाजों के प्रबुद्ध चिन्तक यह स्वीकारते है कि स्थायी विश्वशान्ति के लिए आमूल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक, क्रान्ति की अपरिहार्य आवश्यकता है और वह केवल महावीर, बुद्ध व गांधी की अहिसा से सम्भव है। यों कहना अधिक सगत होगा कि मानव सभ्यता का भविष्य अहिंसा व शान्ति पर ही निर्भर करता है। सम्भवत: यही कारण था कि महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने अपने कक्ष मे

महात्मा गाँधी का चित्र लगाया; किसी राजनेता और वैज्ञानिक का नहीं। मानव समाज की मूल प्रक्रिया मानवीय अभिप्रेरणा व प्रयोजन की संरचना शांति, सुव्यवस्था और समता की ओर उन्मुख रही है। द्वितीय महायुद्धोपरांत विनष्ट नागासाकी को देखकर प्रसिद्ध चिन्तक व्रोकोस्वकी ने यह प्रस्ताव किया कि नागासाकी को उसके विध्वंसक और विनष्ट रूप में यथावत रखा जाय, जिससे आने वाली पीढ़ियाँ यह देख सकें कि युद्ध और हिंसा कितनी भयावह और दुर्दान्त होती है। इस सम्वन्ध में एक और उदाहरण ध्यातव्य है। कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका के सांसद भरविक डायमेफी ने कांग्रेस में यह प्रस्ताव रखा था कि संयुक्त राज्य में सेनापतियों, युद्ध विजेताओं और वीर सैनिकों की तो अनेक मूर्तियाँ हैं पर अव समय आ गया है कि हमें महात्मा गांधी का एक स्मारक वाशिगटन मे वनाना चाहिए, जिससे अहिंसा, प्रेम और शांति का व्यापक संदेश मानव-कल्याण के लिए फैले।

सामाजिक मनोविज्ञान का मूलाधार जिस व्यवस्था और संस्थावाद को प्रमुखता दे रहा है, उसकी निर्मिति मैत्री, समता और भ्रातृत्व पर ही आधृत है। प्रसिद्ध विद्वान् सी. राइट मिल का कथन है कि आज मनुष्य की समस्त चिन्ताधारा विभ्रमित होकर तृतीय विश्व युद्ध को यथार्थ मानकर भ्रमवश विश्व शांति की सम्भावना स्वीकार नहीं करती। पी सोरोकिन का भी यही अभिमत है। उसकी दृष्टि में आज सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक जीवन मूल्यहीन, प्रत्ययहीन, आस्थाहीन हो गए है और स्पर्धा एवं संकटग्रस्त होकर चारो ओर विनिष्टिवादी कटुता का वोलवाला है।

आइन्सटीन ने तो स्पष्ट कह दिया था, "हमें मानवता को याद रखना है जिससे हमारे समक्ष स्वर्ग का द्वार खुल जायेगा अन्यथा सार्वभौम मृत्यु को ही झेलना होगा। कोई अंधी मशीन हमें अपने विकराल वज्र दन्तों में जकड़ लेगी।" एक ओर विश्व संहार का यह भय और आतंक है, तो दूसरी ओर यह मान्यता जोर पकड़ रही है कि रचनात्मक पदार्थवाद और नैतिक मानवीय मूल्यों के मानदंड के रूप में ही अहिंसक समाज व संस्कृति के लिए स्थायी विश्वशांति के हेतु वन सकते हैं। सामाजिक व सांस्कृतिक विकास आज द्वयर्थक हो रहा है। एक ओर तकनीकी व वैज्ञानिक आविष्कारों ने राष्ट्रों के आचार-विचार-व्यवहार में परिवर्तन कर दिया है तो दूसरी ओर सत्ता व शासन की अमित महत्वाकांक्षाओं ने चुनौतियां उत्पन्न कर तनाव और संघर्ष उपस्थित किया है। कोई राष्ट्र अन्य उन्नत राष्ट्रों से पिछड़ना नहीं चाहता, दूसरी ओर सामान्य जनता शान्ति, सुव्यवस्था और सामाजिक परिवर्तनों की मांग कर परस्पर सौमनस्य और सौरस्य का आग्रह कर रही है। युद्ध की भयावहता इससे ही स्पष्ट है कि आज संहार अस्त्रों पर तीस हजार डालर प्रति सैकेण्ड खर्च हो रहे हैं और उधर हर दो सैकेण्ड पर वालक, चिकित्सा के अभाव में

कलांग हो रहा है ।' अमेरिका नाभिकीय युद्ध के लिए रसायनिक और जैविक त्वों के मिश्रण से ऐसे अस्त्र बना रहा है, जो विशेष जातियों और नस्लों को पहचानकर समाप्त कर देंगे एवं मानवीय इच्छाओं का दमन कर जनता की मानसिकता और आचरण-क्षमता को स्वचालित शब्दों में बदल देंगे । इसके विपरीत प्रेमचन्द के शब्दों में 'विश्व समर का एकमात्र निदान है विश्व-प्रेम ।' इस सन्दर्भ में आज विश्व साहित्य में तकनीकी संस्कृति का घोर विरोध हो रहा है, ब्रूस मेजलिस ने १९८० में लिखा कि "आविष्कारों की महानता और उनके परिणामों के हीनता की घोर विषमता से मैं हैरान हूँ ।' नारमन फंजिल्स ने कहा कि 'अंतरिक्ष की मानवयात्रा का महत्त्व यह नहीं है कि मनुष्य ने चंद्रमा पर पैर रखे पर यह है कि उसको दृष्टि वहाँ भी अपनी पृथ्वी पर ही लगी रही ।' यही सोचना है कि मनुष्य की इस सर्वव्यापी चारित्रिक आन्तरिक बाह्य अस्मिता के संकट से मुक्ति का उपायक अहिंसक क्रान्ति देकर क्या वह स्थायी शांति और सुव्यवस्था का प्रमाण बन सकती है ? इसी दृष्टि से आज गम्भीर विचारक और चिन्तक अहिंसा के दार्शनिक और धार्मिक पक्ष के साथ-साथ उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उपयोगिता और इयत्ता पर उन्मुक्त भाव से विचार कर रहे है ।

आज मनुष्य की हिंसा प्रवृत्ति-आन्तरिक और बाह्य पक्षो मे पाशविक सीमा को भी पार कर रही है । प्रकृति का संतुलन नष्ट हो रहा है । पर्यावरण का प्रदूषण अत्यन्त भयावह है—तकनीकी आविष्कार मनुष्य की आंतरिक अस्मिता को नष्ट कर रहे है । इसके अनेक उदाहरण हमें आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में मिलते है । कुछ वर्ष पूर्व लन्दन के एक वृद्ध की लकड़ी छीनकर उसे पीटा और फिर पकड़े जाने पर युवकों ने इसे 'मनोरंजन' कहा । इसी प्रकार पार्क के एक कोने में एक अन्धी स्त्री के साथ बलात्कार करने पर उसे भी एक साधारण घटना समझा गया । भारत में भी प्रत्येक दिन ऐसी घटनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञप्त होती है । अमेरिका के उद्धत छात्रों ने एक उपनगर की जन आपूर्ति को उसके दुष्परिणामों का अनुभव करने के लिए समाप्त कर दिया । निर्दोष पशुओं की क्रूरता का तो अन्त ही नहीं है । अब अनेक चिन्तक इस क्रूरता के विरुद्ध आंदोलन कर रहे है और इसके साथ ही मांसाहार के विरोध में भी प्रचार । प्रसिद्ध जीव-वैज्ञानिक रेचल कार्स ने 'सायलेंट स्प्रिंग' पुस्तक लिखी और डी. डी. टी. के प्रयोग से फ्लोरिडा में ऋतु पक्षियों से विहीन हो गयी और सृष्टि का संतुलनन बिगड़ा । साइबेरिया में भी चींटियों को मारने से वहाँ का पर्यावरण नष्ट हो गया—और इस क्रूरता को बंद करना पड़ा । चीनियो ने फसल को नष्ट करने वाली गौरय्यों को मार डाला, इससे अकाल पड़ा और तब उनकी, सुरक्षा का प्रबन्ध हुआ । बेरी कमाण्डर लेखक की 'क्लोजिंग सर्कल और जान मेडोस की 'डूम्सडे सिण्ड्रोम' पर्यावरण की रक्षा और

विलोम देखिये "जो श्रेय है वह अप्रेय हो सकता है।" यदि यह स्वीकार कर रहे हैं तो यह भी स्वीकार कर रहे हैं कि जो श्रेय है वह कष्टकारी हो सकता है, वह दुखदायी हो सकता है। किसी भी बड़े, उत्कृष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में कर्ता को कायिक कष्ट तथा मानसिक मनोव्यथा को भोगना पड़ सकता है। यदि इन बातों में कोई सार है, तो यह स्पष्ट है कि "दुख", "कष्ट" तथा "हित" प्रयोग का एक ही विस्तार नहीं है। यही नहीं, अनेक अवसरों में सुख तथा अहित के गठबन्धन के कारण "कष्ट" एवं "दुःख" का "हित" से सम्बन्ध जुड़ सकता है। "हिंसा मत करो" यह आदेश जैसा हमने पहले देखा, यदि इस रूप में ग्रहण किया जाय कि किसी को दुःख, कष्ट या हानि मत पहुँचाओ, किसी का अहित मत करो, तब स्पष्टतया एक अस्पष्ट रूप ग्रहण कर लेता है और यह बात धूमिल हो जाती है कि अहिंसा से क्या तात्पर्य लिया जाय।

"हित", "अहित" जो मानवीय व्यवहार के सामान्य प्रेरक कहे जा सकते हैं तथा जिनके द्वारा एक बड़ी सीक्ष में परोपकार का रूप भी निर्मित होता है, विवादास्पद अवधारणाएँ कही है। हित की बात सोचते समय एक ओर तो किन्हीं भौतिक प्राप्तियों की ओर ध्यान जाता है, तथा दूसरी ओर किन्हीं अभौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपलब्धियों की ओर ध्यान जाता है। इसके अतिरिक्त हित का प्रश्न तात्कालिक अवस्था के सम्बन्ध में उठता है तो वह जीवन के बड़े हिस्से को या उसकी सम्पूर्णता को ध्यान में रखकर भी उठ सकता है। एक अन्य सन्दर्भ में हित की समस्या वैयक्तिक अथवा सामूहिक सदस्यों से भी जुड़ी जान पड़ती है। ये विभिन्न सन्दर्भ हित की अवधारणा को एक बहस का विषय बना देते है। यदि हित के विषय में निर्णय करना समस्या मूलक है, तो "हिंसा"–"अहिंसा" का प्रश्न भी जितनी सीमा में वह उससे जुड़ता है, उतनी सीमा मे समस्या मूलक हो जाता है।

दूसरे रूप में कहे तो हित-अहित का प्रश्न व्यक्ति एवं समष्टि से वांछित रूप से सम्बन्धित है। मनुष्य क्या है, उसका तात्विक स्वरूप क्या है, वह वस्तुतः क्या हो सकता है, तथा जिस जगत् में वह विचरता है, उसका आदर्श रूप क्या है—इन प्रश्नों का उत्तर दिये या पाये बिना यह कहना कठिन होगा कि मनुष्य के लिए क्या हितकर है तथा क्या अहितकर? वस्तुतः इन आधारभूत प्रश्नों के उत्तर के आलोक में ही अन्य सम्बन्धित अवधारणाएँ को इसी आलोक में समझा जा सकता है।

इस बात के स्पष्टीकरण के लिए एक दृष्टांत लें। अर्जुन को मालूम था कि जिन लोगों से उसे लड़ना था उनमें वे भी शामिल थे जिनके प्रति

उसके मन में श्रद्धा, आदर और प्रेम था, जिनसे उसे किसी प्रकार का बैर नहीं था । इस समस्या को दार्शनिक रूप देते हुए उसने तर्क रखा कि रुधिर से सने राज्य को लेकर वह क्या करेगा ? उसे लगा कि युद्ध करने में वह हिंसा करने जा रहा है और इस कारण नहीं लड़ना ही श्रेष्ठ है। परन्तु कृष्ण अर्जुन की युक्तियों को ज्ञान से नही अज्ञान से उद्भूत मानते हैं । उसके अज्ञान को दूर करने के प्रयास के साथ वे उसे उठ खड़े होने तथा अपने कर्तव्य का निर्वाह करने के लिए प्रोत्साहित करते है। क्षत्रिय के रूप में, तथा उस ऐतिहासिक क्षण में अर्जुन का कर्तव्य लड़ना था भले ही उसमें जीव हिंसा हो। तब प्रश्न उठता है कि कैसे वही कृष्ण अहिंसा को भी दैवी सम्पदा में शामिल करते हैं ? इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है, जब कृष्ण के दोनों कथनों को उसे वृहत तथा तात्त्विक परिप्रेक्ष्य में रख कर समझा जाय जिसे 'गीता' के व्यापक-पटल पर उकेरा गया है।

जीवन तथा कर्म की न्यूनतम अनिवार्यतायें ऐसी होती है कि कुछ हिंसा उद्दिष्ट नहीं होने पर भी अपरिहार्य हो जाती है। वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का प्रश्न सार्थक रूप तब ग्रहण करता है जब वह हमारे सोच-विचार-संकल्प से जुड़ता है । हम हिंसा-अहिंसा किसे समझते है ? कब हम हिंसा में प्रवृत्त होते हैं ? यदि इन प्रश्नों पर विचार करें तथा अपने दैनन्दिन व्यवहार में उनके जवाब को खोजें, तो हम पायेंगे कि हिंसा करना हम किसी को कष्ट देना अथवा हानि पहुँचाना मानते हैं, तथा जब हम बदले की भावना से प्रेरित होते हैं, अथवा लोभ, ईर्ष्या, क्रोध अथवा किसी अन्य आवेश के अधीन होते है, तब हमें हिंसक व्यवहार से ही सन्तोष मिलता है । पीछे जब चित्त शान्त होता है, जब हम अपने संचित विचारों से मुक्त होते है, जब हमारी वृत्ति निर्मल होती है, हमें अपनी गलती का पता चलता है । दूसरे शब्दों में व्यक्ति को किसी रूप में हिंसा-अहिंसा का बोध होता तो है, परन्तु उसी के व्यक्तित्व का अतात्विक पक्ष जब उस पर हावी होता है तो वह इस बोध से वंचित हो जाता है। अर्जुन मोह की अवस्था में है, फलतः आवश्यकता उसके तात्त्विक बोध को जगाने की थी। अर्जुन को उसको यह स्मरण करना आवश्यक था कि वस्तुतः उसका वहाँ क्या स्वरूप है, तथा इस समस्त अस्तित्व का क्या स्वरूप है ?

कर्म की दृष्टि से तात्विक ज्ञान का महत्त्व इस बात में निहित है कि उसके स्मरण पर कर्ता अपनी संकुचित एवं नकारात्मक वृत्ति एवं बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा कर्तव्य का वांछित रूप में अर्जुन निर्वाह कर सकता है । गीता के परिप्रेक्ष्य में अर्जुन का युद्ध से पीछे हटना हिंसा होता क्योंकि उससे उसके कर्तव्य की तथा धर्म की हानि होती है । यदि यह स्वीकार

बाद अच्छे-से-अच्छे सिद्धान्त धूमिल हो जाते हैं या धूमिल कर दिए जाते हैं। इस प्रश्न का दूसरा उत्तर सोचता हूँ।

अहिंसा का सम्बन्ध हृदय के साथ—वस्तुतः अहिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय के साथ है, मस्तिष्क के साथ नहीं है, तर्क-वितर्क के साथ नहीं है, रूढ़ कोरे बँधाए विवेकशून्य विश्वासों के साथ नहीं है, विभिन्न शब्दों के जाल में बंधी हुई उलझी हुई भाषा के साथ भी नहीं है, बल्कि अहिंसा अन्तर्जीवन के साथ है, अन्दर की गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के साथ है। अहिंसा की भूमि जीवन है। जब भूमि से वृक्ष का सम्बन्ध टूट जाता है, तो वह फिर हरा-भरा एवं विकसित नहीं रह सकता। प्रवक्ता को अपनी बात साफ कहनी चाहिए, अतः साफ और बेलाग कह रहा हूँ कि अहिंसा भी जीवन से टूट चुकी है। मूल से असंपृक्त रह कर उसे किस प्रकार पल्लवित रखा जा सकता है? यही कारण है कि अहिंसा आज केवल स्थूल व्यवहार की क्षुद्र परिधि में सीमित हो गई है। जनजीवन में उसका रस संचार क्षीण एवं क्षीणतर हो गया है। और इस प्रकार अहिंसा के प्राणों की एक तरह से हत्या ही हो गई है।

अगर अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है, तो आवश्यकता है, अहिंसा को हम स्थूल व्यवहार की संकीर्ण परिधि से मुक्त कर व्यापक बनाएँ, जीवन की सूक्ष्म अनुभूति एवं हृदय की गहराई तक उसे अवतरित करें।

निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्य में वृत्ति का अर्थ है—चेतना का भाव। यही भाव मन को तरंगित करता है। अहिंसा इन्हीं उदात्त एवं कल्याणकारी तरंगों के आधार पर जीवन के स्थूल व्यवहारों के रूप में प्रगट होती है। इसे ही हम प्रवृत्ति कहते हैं।

धरती के समग्र आध्यात्मिक दर्शन व्यवहार के स्थूल विधि-निषेध के साथ अहिंसा का सम्बन्ध स्थापित नहीं करते है, प्रत्युत् मानव मन की मूल भावना वृत्ति के साथ ही अहिंसा को सम्बन्धित करते हैं। यही अहिंसा का बीज है। सब-कुछ है। अगर यह नहीं है, तो कुछ भी नहीं है।

> अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
> न हणे पाणिणं पाणं, भयवेराओ उवरए॥ —उत्तराध्ययन ६।७
> जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
> संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥ —सूत्र. श्रु. १ अ. ११ गा ३६

अहिंसा के क्रान्तद्रष्टा ऋषि उक्त बीज की जितनी चिन्ता करते हैं, उतनी इधर-उधर के विधि-निषेध रूप फल, फूल और टहनियों की नहीं। बाह्य व्यवहार के आधार पर गढ़े किये गए अहिंसा के विधि-निषेध देश, काल एवं व्यक्ति की स्थिति के अनुसार बदलते रहते है, मूल बीज नहीं बदलता है। हिन्दुस्तान के सामाजिक व्यवस्थापक, चाहे वे धार्मिक रहे हों या राजनैतिक,

अहिंसा को उसकी मौलिक सूक्ष्मता से पकड़ नही सके हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति के स्थूल परिवेश में ही अहिंसा को मानने और मनवाने के आसान तरीके अपनाते रहे और यथाप्रसंग तात्कालिन समाधान निकालते रहे। किन्तु हिंसा की समस्या ऐसी नहीं थी, जो प्रचलित परम्परा के स्थूल चिन्तन से एवं विधि-निषेध के भावहीन विधानों से समाधान पा जाती। वह नये-नये रूपों में प्रकट होती रही और मानव-जीवन के सभी पक्षों को दूषित करती रही। यही कारण है कि हजारों वर्षो से समस्या-समस्या ही बनी रही। कोई भी समाधान उभरते प्रश्नो को मिटा नही सका। यदि हम इधर-उधर के विकल्पों में न उलझ कर अहिंसा की मूल भावना को समझने का प्रयत्न करें, तो आज भी अहिंसा के मूल केन्द्र स्वरूप आन्तरिक वृत्ति पर अहिंसक समाज की रचना हो सकती है। मै यहाँ स्पष्टरूप से कह देना चाहता हूँ कि अहिंसा के आधार पर परस्पर सहयोगी समाज की रचना के लिए निवृत्ति और प्रवृत्ति के प्रचलित व्यामोह के एकान्तिक आग्रह को क्षीण करना होगा, तभी हम मानव की आन्तरिक वृत्ति से सम्बन्धित अहिंसा के वास्तविक रूप को समझ सकेंगे।

भय एव प्रलोभन पर आधारित अहिंसा स्थायी नहीं—अहिसा का मर्म समझाते हुए मैंने कुछ लोगों को सुना है—'किसी को कष्ट मत दो, किसी के प्राणों का वध मत करो, किसी को रुलाओ मत। अगर तुम दूसरो को कष्ट दोगे, तो तुम्हें भी कष्ट भोगने होंगे, अगर किसी को मारोगे, तो तुम्हे भी मरना पड़ेगा और किसी को रुलाओगे, तो तुम्हे भी रोना होगा।' अपने दुःखों की संभावना उन्हे पीडित कर देती है और इसी चिन्तनधारा में दूसरो को परिताप पहुँचाने से अपने आपको बचाने की कोशिश करते है। इस उपदेश ने मनुष्य के मन मे एक भय की भावना पैदा की, जो स्वयं अपने में एक हिंसा है। उक्त स्थिति में प्रवृत्ति-निवृत्ति के स्थूल स्तर पर अहिंसा दिखाई देती है और हम इतने भर से सन्तोष कर लेते हैं। परन्तु, अन्य किसी प्रसंग विशेष पर जब यह समझाया जाता है कि 'अपने दुश्मनों को समाप्त कर दो, स्वर्ग मिलेगा। यज्ञ मे पशुओ को देवताओ के लिए समर्पित कर दो, वे प्रसन्न हो कर तुम्हें सुख-समृद्धि देगे। संघर्परत प्रतिद्वन्द्वियो को परास्त कर दो, तुम्हे सम्मान मिलेगा, सम्पत्ति मिलेगी।' इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है कि इन प्रलोभनो ने ममुष्य से कितने क्रूर और भयानक कार्य करवाए है। प्रश्न है कि यह सब किस कारण हो सका है? स्पष्ट है कि भय के माध्यम से हिंसा का त्याग कराया था। ज्यो ही भय के स्थान पर प्रलोभन आ खड़ा हुआ कि मानव गड़बड़ा गया। प्रलोभन ने हिंसा को फिर से उत्तेजित कर दिया। प्रलोभन हिंसा को इसी कारण उत्तेजित कर सका कि हमने अन्तर्मन मे वृत्ति की हिंसा को छोड़ने के लिए उचित ध्यान नही दिया। अगर वृत्ति की अहिंसा जाग जाती है, तो दुनिया का कोई भी भय या प्रलोभन हिंसा को जन्म नहीं दे सकता। जो अहिंसा केवल स्थूल प्रवृत्ति-

निवृत्ति में है, विधि-निषेध में है, उसे साधारण-सा विरोधी वातावरण एवं कारण भी समाप्त कर देता है। जन-जीवन में उसका मूल स्थायी नही होता।

वृत्ति में अहिंसा का अर्थ—वृत्ति में अहिसा का अर्थ है—जीवन की गहराई मे अहिसा की भावधारा का सतत प्रवाहित होना। जो अन्दर की वृत्ति से अहिसक है, वह किसी को मार नहीं सकता, किसी को कष्ट नही दे सकता, किसी के प्राणो का वध नही कर सकता। अर्थात् वृत्ति के अहिंसक होने में हिंसा की योग्यता ही निर्मूल हो जाती है। यह अहिसा मरणोत्तर स्वर्ग के लिए, सामाजिक एव पारिवारिक सुख-सुविधा के लिए या प्रतिष्ठा के लिए नही होती। वृत्ति में अहिंसा की स्वयं ही यह सहज अवस्था हो जाती है कि वह हिंसा कर ही नही सकता, चाहे उसके लिए प्राप्त प्रतिष्ठा ही क्यों न खोनी पडे, जीवन को दॉव पर ही क्यों न लगा देना पड़े। उसके लिए अहिसा स्वभाविक हो जाती है। मुझे शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए, यह उसका सिद्धान्त नही होता, अपितु दुनिया मे उसका कोई दुश्मन ही नहीं होता। वह यह बात नही कहता कि अहिसा की शिक्षा से हमें सबके प्रति द्वेष नही, प्रेम करना चाहिए, अपितु प्रेम के अतिरिक्त उसके पास करने को और कुछ होता ही नहीं। यह वृत्ति मे अहिंसा, जो अहिसा का शाश्वत और सर्वव्यापी रूप है।

अहिसा की निष्ठा और भावना में अन्तर—वृत्ति में अहिसा होगी, तो अहिसा में निष्ठा होगी। वही उसका सर्वग्राही रूप है। अहिसा, करुणा और सत्य की धाराएँ तो हमारे जीवन मे बहती रहती है, भावनाएँ उमड़ती चली जाती है, पर जब तक अहिसा और करुणा की निष्ठा जागृत नही होती, तब तक वह दर्शन नही बन पाता।

एक माता के हृदय मे पुत्र के प्रति जो करुणा और प्रेम का प्रवाह उमडता है, उसमे अहिसा की धारा छिपी भले ही हो, पर उसे हम अहिंसा की निष्ठा नही कह सकते। उसकी करुणा के साथ मोह का अश जुड़ा हुआ है, व्यक्तिवाद जुड़ा है, इसलिए अनन्त-काल से करुणा का प्रवाह हृदय मे उमड़ते हुए भी उससे आत्मा का विकास नही हो सका, उत्थान नही हो सका।

बिल्ली जब अपने बच्चों को दाँतो से पकड़ कर ले जाती है, तो एक दाँत भी उसके शरीर पर गड़ने नही पाता। क्या बात है कि जब वे ही दाँत चूहे पर लगते है, तो रक्त की धारा बह चलती है, वह ची-ची कर उठता है। इसमे क्या अन्तर आया? भावना का ही अन्तर है! भावना मे एक जगह प्रेम और म.त है, दूसरी जगह क्रूरता है। खूँखार शेरनी भी अपने बच्चो को प्यार से दुलारती-पुचकारती है, उन्हे दूध पिलाती है। किन्तु यह प्रेम की भावना दया-अहिसा के रूप मे वहाँ विकसित नहीं हुई है। इसलिए बिल्ली और शेरनी की ममता को अहिसा का विकास नही कहा जा सकता, चूंकि वहाँ अहिसा की दृष्टि

नहीं है। जहाँ अहिंसा निष्ठा और श्रद्धा के रूप में नहीं है, वहाँ वह बन्धन से मुक्त करने वाली नहीं बन सकती। अहिंसा का आदर्श वहाँ जागृत नहीं हो सकता। अहिंसा की भावना और संस्कार होना एक बात है और उसमें निष्ठा होना दूसरी बात है।

अतः अहिंसा के बाह्यपक्ष पर ही मत उलझो। उसके हृदयपक्ष की ओर देखो! अपने मस्तिष्क से उत्पन्न तर्क को हृदय की सहज-सरल सौहार्दपूर्ण भावनाओं के रस से सिंचित करो। फिर जो अहिंसा का रूप निखरेगा, वही यथार्थ और चिरस्थायी होगा।



अहिंसा और मैत्री के दोहे

मैं करता सबको क्षमा; करें मुझे सब कोय।
मेरे ते सब मित्र है, वैरी दिखे न कोय॥

देख दुखी करुणा जगे, देख सुखी मन मोद।
एबके प्रति मैत्री जगे, रहे समत्व का बोध॥

बैर बैर से ना मिटे, बढ़े द्वेष दुष्कर्म।
बैर मिटे मैत्री किये, यही सनातन धर्म॥

मैत्री करुणा प्यार से, तन मन पुलकित होय।
मानव जीवन सफल हो, सब विधि मंगल होय॥

निर्बल सब निर्भय बनें, सबल त्याग दें दण्ड।
जन-जन के मन प्यार की, गंगा बहे अखण्ड॥

दुखियारे दुःख-मुक्त हों, भय त्यागें भयभीत।
बैर छोडकर लोग सब, करें परस्पर प्रीत॥

दूर रहे दुर्भावना, द्वेष होय सब दूर।
निर्मल निर्मल चित्त में, प्यार भरे भरपूर॥

मन-मानस में प्यार ही, तरल तरंगित होय।
रोम-रोम से ध्वनि उठे, सबका मंगल होय॥

—श्री सत्यनारायण गोयनका



इस्लाम धर्म में प्रेम भाव और अहिंसा

□ श्री इकराम राजस्थानी

हमारा देश विभिन्न धर्मों और जातियों का केन्द्र है। अनेकों संस्कृतियां आईं और विलीन हो गईं भारतीय एकता के सागर में। हमारे यहा इस्लाम धर्म के अनुयायी बहुत बडी संख्या में रहते है और वे इस राष्ट्र की अखंडता की धारा से जुड़े हुए है।

रस्ते अलग-अलग है, ठिकाना तो एक है,
मंज़िल हर एक शख्स को पाना तो एक है।

हम सभी लोग अलग-अलग तरीको से अपने गंतव्य की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहे है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन सभी धर्मो के मूल भावो को पढें, समझें और जनसाधारण तक इसे सही रूप और सच्चे अर्थो में पहुँचायें।

धर्म तो हमारे जीवन का आभूषण है, पथ का आलोक है जो सत्य मार्ग की ओर हमें आगे बढ़ाता है। अगर धर्म ही हमें पथ भ्रष्ट करने लगे तो वह सही मायने में धर्म नही है।

धर्म का अर्थ है—सत्य, आलोक, निष्ठा, प्रेम, सद्भाव, न कि षड्यन्त्र, छल, कपट, धोखा या प्रपंच। आज हमारा राष्ट्र धर्म के गोरखधन्धे में उलझ कर मानव जाति की समस्या के लिए नया भ्रम उत्पन्न कर रहा है। आज प्रत्येक धर्म का सही स्वरूप सामने आये, इस प्रयास की महती आवश्यकता है।

इस्लाम धर्म भी संसार का एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण मज़हब है। इसके सम्बन्ध में हमें बुनियादी ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

आइये, सबसे पहले तो "इस्लाम" शब्द पर ही थोड़ी चर्चा की जाये।

'इस्लाम' शब्द मूलतः अरबी भाषा का है। इसके शाब्दिक अर्थ को आप समझेंगे तो अपने आप ही इसकी गहराई से परिचित हो जायेंगे।

'इस्लाम' का अर्थ है—शांति, अमन, शुद्धता, समर्पण और वचनबद्धता।

अब आप सोचिए, जिस धर्म का मूल अर्थ ही शान्ति, सुलह, सद्भाव, समर्पण हो, वह धर्म किस तरह मानवता के विरुद्ध कोई कार्य कर सकता है ?

इस्लाम धर्म अल्लाह की रहनुमाई और उसकी शिक्षाओं का पूर्ण रूप प्रतिग्रहण है।

इस्लाम धर्म कोई नया मज़हब नही है। पवित्र 'कुरान शरीफ' की एक आयत 'आलेइमरान' में यह कहा गया है "कह दो हम तो अल्लाह पर और उस चीज़ पर ईमान ले आए जो हम पर उतारी गई, और उस चीज़ पर जो हज़रत इब्राहीम, हज़रत इस्माइल, हज़रत इस्हाक़ और हज़रत याकूब और उनकी सन्तानों पर उतारी गई और उस चीज़ पर जो हज़रत मूसा और ईसा और दूसरे नवियों को उनके पालनहार के द्वारा दी गई, हम उनमें से किसी चीज़ के बीच कोई अन्तर नहीं करते और हम उसी के मुस्लिम (आज्ञाकारी) है"।

—आलेइमरान, ८३

आपने दूसरे शब्द 'मुस्लिम' का अर्थ पढ़ा "आज्ञाकारी"। अब आप स्वयं सोचें कि इस्लाम धर्म पूरे विश्व को प्रेम, शांति, भाईचारे का संदेश देता है या नहीं ? आज जब पूरे विश्व में वर्णभेद की समस्या अपना विकराल रूप धारण किये हुए है, ऐसे युग में भी इस्लाम अपना सनातन सन्देश देता है कि पूरी दुनिया के इन्सान एक हैं और उनमें रंग, नस्ल या फ़िरकापरस्ती के भेदभाव नही करने चाहिए। इस्लाम तो आरम्भ से ही कहता आ रहा है—

'एक ही सफ़ में खड़े हो गए महमूदो अयाज़,
न कोई बन्दा रहा और न कोई बन्दा नवाज़।
साइलो, मुफ़लिसो, मोहताजो ग़नी एक हुए,
तेरी सरकार में पहुँचे तो सभी एक हुए।।

आज का आदमी तरक्की की सीढ़ियाँ चढ़कर चाँद की धरती पर अपने क़दम रख सकता है लेकिन आपसी घृणा, भेदभाव और युद्धों को रोक नही सका है।

इस्लाम धर्म सैकड़ो बरसों से यही प्रेम और मुहब्बत का पैग़ाम पूरे संसार को देता आया है—आपसी फर्क कैसे दूर किये जायें, इसके लिए हर साल हज के मौके पर लाखों लोग मक्का मुअज्ज़मा में इकट्ठे होते है। तमाम नस्लो और जातियों के लोग बग़ैर किसी भेदभाव के आपसी भाईचारे में जुड़कर दुनिया के सामने एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते है।

सारा विश्व, इस्लाम का यह चमत्कार अपनी खुली आँखों से प्रतिवर्ष देख रहा है।

व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपनी जातीय भाई की हिंसा नहीं करने से अधिक नहीं रहा। धर्म के नाम पर तो हम स्वयं पिता को अपने पुत्र की बलि देता हुआ देखते है। इस्लाम ने चाहे अल्लाह को 'रहमानुर्रहीम'—करुणाशील कह कर सम्बोधित किया हो, और चाहे यह भी मान लिया हो कि सभी जीव-धारियों को जीवन उतना ही प्रिय है, जितना तुम्हें अपना है, किन्तु उनमें अल्लाह की इस करुणा का अर्थ स्वधर्मियों तक ही सीमित रहा। इतर मनुष्यों के प्रति इस्लाम आज तक संवेदनशील नहीं बन सका है। पुनः यहूदी और इस्लाम दोनों ही धर्मो में धर्म के नाम पर पशुबलि को सामान्य रूप से आज तक स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार इन धर्मो में मनुष्य की संवेदनशीलता स्वजाति और स्वधर्मी अर्थात् अपनों से अधिक अर्थविस्तार नही पा सकी है। इस संवेदनशीलता का अधिक विकास हमें ईसाई धर्म में दिखाई देता है। ईसा शत्रु के प्रति भी करुणाशील होने की बात कहते हैं। वे अहिंसा, करुणा और सेवा के क्षेत्र में अपने और पराये, स्वधर्मी और विधर्मी, शत्रु और मित्र के भेद से ऊपर उठ जाते हैं। इस प्रकार उनकी करुणा सम्पूर्ण मानवता के प्रति बरसी है। यह बात अलग है कि मध्ययुग में ईसाइयों ने धर्म के नाम पर खून की होली खेली हो और ईश्वर-पुत्र के आदेशों की अवहेलना की हो किन्तु ऐसा तो हम सभी करते हैं। धर्म के नाम पर पशुबलि की स्वीकृति भी ईसाई धर्म में नही देखी जाती है। इस प्रकार उसमें अहिंसा की अवधारणा अधिक व्यापक बनी है। उसकी सबसे बड़ी विशेपता यह है कि उसमे सेवा तथा सहयोग के मूल्यों के माध्यम से अहिंसा को एक विधायक दिशा भी प्रदान की है। फिर भी सामान्य जीवन में पशुवध और मांसाहार के निषेध की बात वहाँ नहीं उठाई गई है। अतः उसकी अहिंसा की अवधारणा मानवता तक ही सीमित मानी जा सकती है, वह भी समस्त प्राणी जगत् की पीड़ा के प्रति संवेदनशील नही बन सका।

भारतीय चिन्तन में अहिंसा का अर्थ-विस्तार :

चाहे वेदो मे 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद, ६.७५.१४) के रूप मे एक दूसरे की सुरक्षा की बात कही गई हो अथवा 'मित्रास्याह चक्षुपा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद, ३६.१८) के रूप में सर्वप्राणियो के प्रति मित्र-भाव की कामना की गई हो किंतु वेदों की यह अहिंसक चेतना भी मानव-जाति तक ही सीमित रही। मात्र इतना ही नही, वेदो मे अनेक ऐसे प्रसंग है जिनमे शत्रु-वर्ग के विनाश के लिए प्रार्थनाएँ भी की गई है। यज्ञों मे पशुबलि स्वीकृत रही, वेद विहित हिंसा को हिंसा की कोटि में नही माना गया। इस प्रकार उनमे धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा को समर्थन हो दिया गया। वेदो मे अहिंसा की अवधारणा का अर्थविस्तार उतना ही है जितना कि यहूदी और इस्लाम धर्म में। वैदिक धर्म की पूर्व-परम्परा मे भी अहिंसा का सम्बन्ध

मानव जाति तक ही सीमित रहा। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का उद्घोष तो हुआ, लेकिन व्यावहारिक जीवन में वह मानव-प्राणी से अधिक ऊपर नहीं उठ सका। इतना ही नहीं, एक ओर पूर्ण अहिंसा के बौद्धिक आदर्श की बात और दूसरी ओर मांसाहार की लालसा एवं रूढ़ परम्पराओं के प्रति अंध आस्था ने अपवाद का एक नया आयाम खड़ा किया और कहा गया कि 'वेदविहित हिंसा हिंसा नहीं है।'[1] श्रमण परम्पराएँ इस दिशा में और आगे आयीं और उन्होंने अहिंसा की व्यावहारिकता का विकास समग्र प्राणी-जगत् तक करने का प्रयास किया और इसी आधार पर वैदिक हिंसा की खुल कर आलोचना की गई। कहा गया कि यदि यूप छेदन करने से और पशुओं की हत्या करने से और खून का कीचड़ मचाने से ही स्वर्ग मिलता हो तो फिर नर्क में कैसे जाया जावेगा।[2] यदि हनन किया गया पशु स्वर्ग को जाता है तो फिर यजमान अपने माता-पिता की बलि ही क्यों नहीं दे देता?[3] अहिंसक चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है श्रमण परम्परा में। इसका मुख्य कारण यह था कि गृहस्थ जीवन में रहकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर पाना सम्भव नहीं था। जीवनयापन अर्थात् आहार, सुरक्षा आदि के लिए हिंसा आवश्यक तो है ही, अतः उन सभी धर्म परम्पराओं में जो मूलतः निवृत्तिपरक या संन्यासमार्गीय नहीं थीं, अहिंसा को उतना अर्थविस्तार प्राप्त नहीं हो सका जितना श्रमणधारा या संन्यास-मार्गीय परम्परा में सम्भव था। यद्यपि श्रमण परम्पराओं के द्वारा हिंसापरक यज्ञ-यागों की आलोचना और मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि वैदिक परम्परा में भी एक ओर वेदों के पशु-हिंसापरक पदों का अर्थ अहिंसक रीति से किया जाने लगा (महाभारत में शान्तिपर्व में राजा वसु का आख्यान—अध्याय ३३७—३३८—इसका प्रमाण है) तो दूसरी ओर धार्मिक जीवन के लिए कर्मकाण्ड को अनुपयुक्त मानकर औपनिषदिक धारा के रूप में ज्ञान-मार्ग का और भागवत धर्म के रूप में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ। इसमें अहिंसा का अर्थविस्तार सम्पूर्ण प्राणीजगत् अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा के निषेध तक हुआ है। वैदिक परम्परा में संन्यासी को कन्दमूल एवं फल का उपभोग करने की स्वतन्त्रता है, इस प्रकार वहाँ वानस्पतिक हिंसा का विचार उपस्थित नहीं है। फिर भी यह तो सत्य है कि अहिंसक चेतना को सर्वाधिक विकसित करने का श्रेय श्रमण परम्पराओं को ही है। भारत में ई० पू० ६ठी शताब्दी का जो भी इतिवृत्त हमें प्राप्त होता है उससे ऐसा लगता है कि उस युग में पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार बनाने में श्रमण सम्प्रदायों में होड़ लगी हुई थी। कम से कम हिंसा ही श्रामण्य-जीवन की श्रेष्ठता का

---

१. "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"।

२. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० ११२९।

३. भारतीय दर्शन [दत्त एव चटर्जी], पृ० ४३ पर उद्धृत।

में कुछ आचार्यों ने धार्मिक अनुष्ठानों, मन्दिर-निर्माण आदि कार्यों में होने वाली हिंसा का समर्थन अल्प-हिंसा और बहु-निर्जरा के नाम पर किया, लेकिन जैन-परम्परा में सदैव ही ऐसी मान्यता का विरोध किया जाता रहा और जिसकी तीव्र प्रतिक्रियाओं के रूप में दिगम्बर सम्प्रदाय में तेरापंथ और तारणपंथ तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लोकागच्छ, स्थानकवासी एवं तेरापंथ (श्वेताम्बर आम्नाय) आदि अवान्तर सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का तीव्र विरोध किया।

(४) वैदिक परम्परा में जिस धार्मिक हिंसा को हिंसा नहीं माना गया उसका बहुत कुछ सम्बन्ध पशुओं की हिंसा से है, जबकि जैन-परम्परा में मन्दिर-निर्माण आदि के निमित्त से भी हिंसा का समर्थन किया गया, उसका सम्बन्ध मात्र एकेन्द्रिय अथवा स्थावर जीवों से है।

(५) जैन परम्परा में हिंसा के किसी भी रूप को अपवाद मानकर ही स्वीकार किया गया, जबकि वैदिक परम्परा में हिंसा आचरण का नियम ही बन गयी। जीवन के सामान्य कर्तव्यों जैसे यज्ञ, श्राद्ध, देव, गुरु, अतिथि पूजन आदि के निमित्त से भी हिंसा का विधान किया गया है। यद्यपि परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायों ने इसका विरोध किया।

(६) प्राचीन जैन मूल आगमों में संयमी जीवन के अनुरक्षण के लिए ही मात्र अत्यल्प स्थावर हिंसा का समर्थन अपवाद रूप में उपलब्ध है। जबकि वैदिक परम्परा में हिंसा का समर्थन सांसारिक जीवन की पूर्ति तक के लिए किया गया है। जैन-परम्परा भिक्षु के जीवन-निर्वाह की दृष्टि से अपवादों का विचार करती है, जबकि वैदिक परम्परा सामान्य गृहस्थ के जीवन के निर्वाह की दृष्टि से भी अपवाद का विचार करती है।

अहिंसा का विधायक रूप—जैन धर्म निवृत्तानुलक्षी होने से उसमें अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप ही अधिक मिलता है। श्वेताम्बर तेरापंथी जैन समाज तो केवल अहिंसा के निषेध रूप को ही मानता है। अहिंसा के विधायक पक्ष में उसकी आस्था नहीं है। पूर्वकाल के जैन सन्त अहिंसा के इस निषेध पक्ष को ही अधिक प्रस्तुत करते थे, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। फिर भी जैन सूत्रों में अहिंसा का विधायक पक्ष मिलता है।

अहिंसा का विधायक पक्ष प्राणियों के हित-साधन में ही निहित है। जैन धर्म की अहिंसा इस रूप में विधायक है। 'आचारांगसूत्र' में तीर्थस्थापना का उद्देश्य समस्त जगत् के प्राणियों का कल्याण बताया गया[1]। इस प्रकार अहिंसा में जीवों के कल्याण-साधन का तथ्य निहित है, जो विधायक अहिंसा का मूल है। इतना ही नहीं, आचारांग-सूत्र में कहा गया है कि समस्त तीर्थंकरों ने 'अहिंसा-धर्म' का प्रवर्तन समस्त लोक के खेद को जानकर ही किया है[2]।

१. आचारांग, २।१५।६५८ ।
२. वही, १।४।१।२७ ।

'खेयन्नेहिं' शब्द के मूल में अहिंसा का विधायक रूप स्पष्ट बोल रहा है। इसमें अहिंसा का उद्देश्य मनुष्य का अपना कल्याण न होकर लोक-कल्याण ही स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, तीर्थंकर अरिष्टनेमि का विवाहप्रसंग तथा शान्तिनाथ के पूर्व-भव में कबूतर की रक्षा का प्रसंग, ऐसे अनेक प्रसंग, जैन कथा-साहित्य में हैं जिनमें अहिंसा का विधायक स्वरूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैन-संघों द्वारा संचालित औषधालय, गोशालाएँ, पिंजरापोल (पशु-रक्षा गृह) आदि संस्थाएँ भी इस बात के प्रमाण है कि जैन-विचारक अहिंसा के विधायक पक्ष को भूले नही है। पुण्य के नौ भेदों में अन्नदान, वस्त्रदान, स्थान (आश्रय) दान आदि इसी विधायक पक्ष की पुष्टि करते हैं। विधायक पक्ष का एक और प्रमाण जैन तीर्थंकरों की गृहस्थावस्था में मिलता है। सभी तीर्थंकर संन्यास लेने के पूर्व, एक वर्ष तक प्रतिदिन स्वर्णमुद्राएँ याचकों को दान करते हैं[1]। इस प्रकार जैन धर्म अहिंसा के दोनों पक्ष स्वीकार करता है।

बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में अहिंसा का विधायक पक्ष :

यह निस्सन्देह सत्य है कि बौद्ध और वैदिक परम्पराओं ने अहिंसा को अधिक विधायक स्वरूप प्रदान किया। साधना के साथ सेवा का समन्वय करने में भारतीय धर्मों में बौद्ध धर्म और विशेष रूप से उनकी महायान शाखा अग्रणी रही है। यद्यपि जैन धर्म में भी ग्लान, वृद्ध, रोगी, शैक्ष्य आदि की सेवा का निर्देश है, मात्र यही नहीं मुनियों की सेवा को गृहस्थ धर्म का अनिवार्य अंग मान लिया गया है फिर भी मानवता के लिए सेवा और करुणा का जो विस्फोट जैन धर्म में होना चाहिए था, वह न हो सका। अहिंसा और अनासक्ति की जो सूक्ष्म व्याख्याएँ की गईं, वे ही इस मार्ग में सबसे बाधक बन गईं। असंयती की सेवा को और रागात्मक सेवा को अनैतिक माना गया। यही कारण था कि जहाँ हम बौद्ध भिक्षुओं और ईसाई पादरियों को सेवा के प्रति जितना तत्पर पाते है, उतना जैन भिक्षु संघ को नहीं। जैन भिक्षु अपने सहवर्गी के अतिरिक्त अन्य की सेवा नहीं कर सकता। जबकि बौद्ध भिक्षु प्राचीन काल से ही पीड़ित एवं दुःखित वर्ग की सेवा करता रहा है।

हिन्दू परम्परा में सेवा, अतिथिसत्कार, देवऋण, पितृऋण, गुरुऋण तथा लोकसंग्रह की अवधारणाएँ अहिंसा के विधायक पथ को स्पष्ट कर देती है। तुलनात्मक दृष्टि से हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि सैद्धान्तिक रूप में जैन मुनिवर्ग की अहिंसा निषेधात्मक अधिक रही। किन्तु जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है—जैन गृहस्थ समाज एवं लोकसेवा के कार्यों से किसी भी युग में पीछे नहीं रहा है। आज भी भारत में जैन समाज द्वारा जितनी लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, वे आनुपातिक दृष्टि

---

१. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, अ० १५।१७९ मूल एवं टीका।

से किसी भी अन्य समाज से कम नहीं हैं। यही उसकी अहिंसा की विधायक दृष्टि का प्रमाण है।

हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार—हिंसा और अहिंसा का विचार हमारे सामने एक समस्या यह भी प्रस्तुत करता है कि किसी विशेष परिस्थिति में जब एक की रक्षा के लिए दूसरे की हिंसा अनिवार्य हो—अथवा दो अनिवार्य हिंसाओं में से एक का चयन आवश्यक हो, तो मनुष्य क्या करे ? इस प्रश्न को लेकर तेरापंथी जैन सम्प्रदाय का जैनों के दूसरे सम्प्रदायों से मतभेद है। उनका मानना है कि ऐसी स्थिति में मनुष्य को तटस्थ रहना चाहिए। दूसरे सम्प्रदाय ऐसी स्थिति में हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार करते हैं। मान लीजिए, एक आदमी प्यासा है, यदि उसे पानी नहीं पिलाया जाय तो उसका प्राणांत हो जायेगा; दूसरी ओर, उसे पानी पिलाने में पानी के जीवों (अपकाय-जीवों) की हिंसा होती है। इसी प्रकार, एक व्यक्ति के शरीर में कीड़े पड़ गये है, अब यदि डॉक्टर उसे बचाता है तो कीड़ों की हिंसा होती है और कीड़ों को बचाता है तो आदमी की मृत्यु होती है। अथवा प्रसूति की अवस्था में माँ और शिशु में से किसी एक के जीवन की ही रक्षा की जा सकती हो तो ऐसी स्थितियों में क्या किया जाय ? अहिंसा का सिद्धान्त ऐसी स्थिति मे क्या निर्देश करता है ?

पण्डित सुखलालजी ने यह माना है कि वध्य जीवों का कद, उनकी संख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि के तारतम्य पर हिंसा के दोष का तारतम्य अवलम्बित नहीं है; किन्तु हिंसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मंदता, सज्ञानता-अज्ञानता या बलप्रयोग की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है।[1] यद्यपि हिंसा के दोष की तीव्रता या मंदता हिंसक की मानसिक वृत्ति पर निर्भर है, तथापि इस आधार पर इन प्रश्नों का ठीक समाधान नहीं मिलता। इन प्रश्नों के हल के लिए हमें हिंसा के अल्प-बहुत्व का कोई बाह्य आधार ढूंढना होगा।

जैन परम्परा में परम्परागत रूप से यह विचार स्वीकृत रहा है कि ऐसी स्थितियों में हमें प्राण-शक्तियों या इन्द्रियों की संख्या एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर ही हिंसा के अल्प-बहुत्व का निर्णय करना चाहिए। इस सारी विवक्षा मे जीवों की संख्या को सदैव ही गौण माना गया है। महत्त्व जीवों की संख्या का नहीं, उनकी ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास-क्षमता का है। 'सूत्रकृतांग' मे हस्तितापसों का वर्णन है, जो एक हाथी की हत्या करके उसके मांस से एक वर्ष तक निर्वाह करते थे। उनका दृष्टिकोण यह था कि अनेक स्थावर जीवों की हिंसा की अपेक्षा एक त्रस जीव की हिंसा से निर्वाह

---

1. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ६०।

कर लेना अल्प पाप है, लेकिन जैन विचारकों ने इस धारणा को अनुचित ही माना।[1]

'भगवतीसूत्र' में स्पष्ट ही कहा गया है कि यद्यपि सभी जीवों में आत्माएँ समान हैं,[2] तथापि प्राणियों की ऐन्द्रिक क्षमता एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर हिंसा-दोष की तीव्रता आधारित होती है। एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ मनुष्य तत्सम्बन्धित अनेक जीवों की हिंसा करता है।[3] एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनन्त जीवों की हिंसा करने वाला होता है।[4] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों की और त्रस जीवों में पंचेन्द्रियों की, पंचेन्द्रियों में भी मनुष्य की और मनुष्यों में भी ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट है। इतना ही नहीं, त्रस जीव की हिंसा करने वाले को अनेक जीवों की हिंसा का और ऋषि की हिंसा करने वाले को अनन्त जीवों की हिंसा का करने वाला बता कर शास्त्रकार ने यह स्पष्ट निर्देश किया है कि हिंसा-अहिंसा के विचार में संख्या का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है प्राणी की ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास-क्षमता।

जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमें अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल, परिस्थिति आदि अनेक बातों हर निर्भर करेगा। यहाँ हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी आँकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है—(१) प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और (२) उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यतया मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यों में भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। संभवतः हिंसा-अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चीटियों के प्रति तो संवेदनशील बन सके किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति अहिंसा को सकारात्मक बनाना है। यह आवश्यक है कि हम अपरिहार्य हिंसा को हिंसा के रूप में समझते रहे, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जावेगा। विवशता में चाहे हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नहीं पावे, अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन

---

१. सूत्रकृतांग, २।६।५३–५४।
२. भगवतीसूत्र, ७।८।१०२।
३ वही, ६।३४।१०६।
४. वही, ६।३४।१०७।

जावेगी जैसे—कसाई बालक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नहीं है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-शून्य नहीं बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध करेंगे, साथ ही वह हमारी अहिंसा विधायक बनकर मानव समाज में सेवा की गंगा भी बहा सकेगी।

—निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

अन्तरात्मा जाग उठी

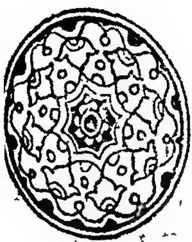
□ डॉ. भैरूलाल गर्ग

एक बार संत तुकड़ोजी गांधी जी के आश्रम में कुछ दिनों रहने के लिए आये। प्रतिदिन गांधी जी और संत तुकड़ोजी में विचार–विनिमय होता रहता। एक बार गांधी जी ने उन्हें अपनी बात समझाने के लिए एक कहानी सुनाई।

एक गरीब आदमी था और एक अमीर। दोनों के घर आस-पास-ही थे। एक दिन गरीब के घर में चोर आ घुसे। उसने देखा कि चोर इधर-उधर परेशान होकर चीजें खोज रहे है। वह उठा और बोला, 'आप क्यों हैरान होते है। मेरे पास जो कुछ है, वह आपके पास लाकर रख देता हूँ।' यह कह कर उसके पास जो दस-पांच रुपये जमा-पूंजी थी, उसने चोरों के हवाले कर दी।

चोर रुपये लेकर चलते बने। पर उतने से उनका मन भरा नहीं। वे धनी आदमी के यहाँ पहुँचे। वह पहले से ही जाग रहा था। उसने उनकी बातें सुन ली थीं। सोचा 'जब गरीब ऐसा कर सकता है तो वह क्यों नहीं कर सकता ?' उसने चोरों से कहा, "आप लोग बैठो। मेरे पास जो कुछ है, वह मैं दिये देता हूँ।' उसने सब कुछ चोरों के सामने लाकर रख दिया। चोरों पर तो मानों घड़ों पानी पड़ गया। उनकी अन्तरात्मा जाग उठी। वे अमीर-गरीब का सारा माल छोड़कर वहाँ से चले गये और अपना धंधा त्यागकर साधु बन गये।

यह कहानी सुनाकर गांधी जी ने कहा, "मैं हिंसा के मुख मे अहिंसा को इसी तरह झोंक देना चाहता हूँ।" आखिर कभी तो हिंसा की भूख शांत होगी। अगर दुनिया को शान्ति से जीना है तो मेरी जानकारी में इसका दूसरा और कोई रास्ता नहीं है।"



सकारात्मक अहिंसा पर आपत्तियाँ और उनका निराकरण

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

१. आपत्ति :—प्रवृत्ति रूप योग क्रिया कर्म की जनक है फिर वह दान, दया, परोपकार, सेवा व रक्षा करने रूप सद्प्रवृत्ति होती ही है और सद्वृत्तियाँ कर्म बंध की ही हेतु हैं। कर्म बंध त्याज्य है, हेय है उपादेय नहीं।

निराकरण :—यह ठीक है कि प्रवृत्ति क्रिया रूप होती है परन्तु सभी क्रियायें सकर्मक नहीं होती हैं, बहुत सी क्रियायें अकर्मक ही हैं। कर्म-बंध करने वाली क्रिया वह है जिस क्रिया के साथ कषाय व विषय-सुख रूप फल की आशा व इच्छा लगी हो, कर्ता भाव व भोक्ता भाव हो परन्तु जो क्रिया कर्मोदय से या निसर्गत: स्वत: होती है जिसके साथ कर्ता व भोक्ता भाव नहीं होता, जो केवल दृष्टा व साक्षी भाव से होती है वह क्रिया बंध का कारण नहीं होती। जैसे अघाती कर्म की उदय रूप क्रियायें कर्म-बंध करने वाली नहीं होती। इसीलिए उन्हें अघाती कहा है। देश घाती भी नहीं कहा—उदाहरणार्थ वीतराग के निरन्तर मन-वचन-काया से क्रिया होती रहती है परन्तु उनके कर्म-बंध नहीं होता, भले ही वे श्वास लें, चलें, प्रवचन दें।

यही नहीं, वीतराग केवली द्वारा दया, दान, वात्सल्य आदि प्रवृत्तियां या क्रियायें भव्य जीवों के निमित्त से स्वत:, सहज, स्वाभाविक रूप से होती रहती है, वे अनन्त दानी, जगत-वत्सल हैं परन्तु दया, दान आदि क्रियाओं से उनके बंध नहीं होता क्योंकि उनकी ये क्रियायें उसी प्रकार होती हैं जैसे ढोलक हाथ की थपकी के निमित्त से बोलने लगती है, उसमें करने का संकल्प नहीं होता। संकल्प पूर्वक की गई क्रिया कर्तृत्व भाव की द्योतक होती है तथा कर्म-बंध में हेतु होती है। आँख खोलते ही जगत् के अच्छे-बुरे सब पदार्थ दिखाई देते हैं, कान में इधर-उधर से शब्द सुनाई पड़ते रहते हैं परन्तु वस्तुयें दिखाई देने मात्र से या शब्द सुनाई पड़ने मात्र से कर्म-बंध नहीं होता है। कर्म-बंध होता है क्रिया के साथ रहे हुए संकल्प-विकल्प से, कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव से, राग-द्वेष-मोह रूप विषय-कषाय से। कहा भी है—

सुख-दु:ख दोनों बसत हैं, ज्ञानी के घट मांहि।
गिरिसर दिसे मुकुर में, भार भीजवो नांहि ।।

अर्थात् जैसे दर्पण में पर्वत और तालाव दोनों दिखाई देते है परन्तु दर्पण पर्वत से भारी नहीं होता और तालाव के जल से गीला नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानीजन के हृदय में सुख-दु.ख रूप साता या असाता का वेदन (अनुभव) होता है परन्तु उन्हें उनके कारण से कर्म-बंध नही होता है। आशय यह है कि क्रिया बंध का कारण नही है। बंध का कारण उसके साथ रहा हुआ कषाय है। अत सद्-प्रवृत्तियां त्याज्य या हेय नहीं है, कपाय हेय है।

२. **आपत्ति** :—सद् प्रवृत्तियां पुण्य रूप होती है और पुण्य बंध का कारण होने से मुक्ति में दया, दान आदि बाधक है।

निराकरण :—पुण्य को कर्म-बंध का कारण मानना भूल है, कारण कि कर्म की सत्ता (सत्व) तभी सम्भव है जब स्थिति-बंध हो, स्थिति-बंध के अभाव मे कर्म-बंध सम्भव नही है। स्थिति-बंध कषाय से होता है। कपाय कभी भी पुण्य रूप नही होता सदैव पाप रूप होता है अतः पुण्य मुक्ति-प्राप्ति में किसी रूप में बाधक नहीं है, प्रत्युत् मुक्ति-प्राप्ति में सहायक है। पुण्य के प्रकर्ष या उत्कर्ष से ही सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। पुण्य रूप विशुद्धि-लब्धि के बिना सम्यग्दर्शन हो ही नही सकता। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सम्भव ही नही है। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र के अभाव में मुक्ति हो ही नहीं सकती। अतः पुण्य मुक्ति-प्राप्ति मे साक्षात् व परम्परा कारण है।

यह नियम है कि पुण्य का क्षय किसी भी साधना से नही होता। साधना के दो मुख्य अंग है—संवर और निर्जरा। इन दोनो से पुण्य के अनुभाग का उत्कर्ष (वृद्धि) होता है, क्षय नहीं होता। पुण्य का यह उत्कृष्ट उदय सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक रहता है। सिद्ध अवस्था प्राप्ति होने पर पुण्य स्वतः उसी प्रकार छूट जाता है जिस प्रकार यात्री के अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच कर अपने वाहन से उतरने पर वायुयान, रेल, कार आदि वाहन स्वतः छूट जाते हैं। उन्हें छोड़ने का प्रयत्न नही करना पड़ता और न वह यात्री इन्हें त्यागने का संकल्प ही करता है। सच तो यह है कि यात्री अपने वाहन की सहायता से ही गन्तव्य स्थल या लक्ष्य तक पहुँचता है। अतः सद् प्रवृत्तियाँ मुक्ति में सहायक है, लेश मात्र भी बाधक नही है।

यदि सद् प्रवृत्तियाँ मुक्ति में कहीं भी, किसी भी रूप में बाधक होती तो जैसे मुक्ति में बाधक पाप का त्याग किया जाता है वैसे ही दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों का भी त्याग किया जाता। परन्तु समस्त जैनागमों व उनकी टीकाओं मे सद् प्रवृत्तियों या पुण्य के त्याग का न कोई पाठ ही आता है और न कोई उल्लेख ही। व्रत-ग्रहण पाप के त्याग का ही होता है पुण्य त्याग का व्रत नही लिया जाता।

जैनागमानुसार 'दुष्प्रवृत्ति' पाप व अधर्म है और सद्प्रवृत्ति पुण्य व धर्म है जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन की गाथा ३७ में कहा है—"अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय-सुप्पट्ठिओ।" अर्थात् आत्मा की दुष्प्रवृत्तियाँ अपनी शत्रु है और सद्प्रवृत्तियाँ अपनी मित्र हैं। जैन धर्म ग्रन्थों में कर्मो की संक्रमण प्रक्रिया का अति महत्त्वपूर्ण विस्तृत वर्णन है तदनुसार यह नियम है कि जब कोई प्राणी दुष्कर्म-पाप करता है तो उसके पूर्वोपार्जित सत्ता में स्थित 'पुण्य-कर्म' पाप-कर्म में परिवर्तित हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कोई सद्-प्रवृत्ति करता है तो उसके पूर्वोपार्जित पाप कर्मो का स्थिति व अनुभाग बंध का अपवर्तन हो जाता है अर्थात् पाप कर्म घट जाता है, क्षय हो जाता हैं। साथ ही पाप कर्मो का पुण्य में रूपान्तरण हो जाता है, इसे वर्तमान मनोविज्ञान में उदात्तीकरण (Sublimation) कहा जाता है। इस प्रकार दया, दान, सेवा, परोपकार, अनुकम्पा, करुणा, वात्सल्य रूप सद्प्रवृत्तियों से पाप कर्मो का नियम से क्षय होता है व निर्जरा होती है। पाप के क्षय से 'मुक्ति' होती है। अतः दया, दान, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियाँ मुक्ति के साधन व सहायक है। इन्हें मुक्ति में बाधक मानना जैन धर्म का अपलाप करना है।

यदि पुण्य को किसी भी रूप में कोई हेय माने तो उसके लिए उसका पुण्य क्षय करना आवश्यक होगा और पुण्य का क्षय संवर-निर्जरा रूप साधना से तो होता नही। उल्टा उनसे पुण्य का उत्कर्ष ही होता है। पुण्य-क्षय करने का एक मात्र उपाय पाप-प्रवृत्ति रह जाता है। पाप प्रवृत्तिको पुण्य के क्षय के उपाय के रूप में ग्रहण करना मुक्ति में बाधक ही होगा।

यही नहीं पुण्य पूर्ण रूप से अघाती कर्म है अर्थात् इससे जीव के किसी भी निज गुण का लेशमात्र भी घात नहीं होता। जिससे जीव के किसी भी गुण को किंचित् भी हानि नहीं पहुँचती, उसे मुक्ति में बाधक मानना न युक्ति-युक्त है न उचित ही।

३. **आपत्ति :**—सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य रूप होती है। पुण्य धर्म नहीं होता और धर्म के बिना मुक्ति नहीं मिलती।

निराकरण :—सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य रूप भी होती है और धर्म रूप भी। यही नहीं पुण्य और धर्म सहचर है अतः जहाँ धर्म होगा वहाँ पुण्य होगा ही। पुण्यहीन कभी धर्मात्मा नही हो सकता। धर्म के साथ पुण्य उसी प्रकार जुड़ा हुआ है जैसे काया के साथ छाया। धर्म और पुण्य को अलग करके नहीं देखा जा सकता। कारण कि सद्प्रवृत्तियाँ रूप सद्गुणों के दो पहलू है—(१) भावात्मक और (२) क्रियात्मक। सद्प्रवृत्तियों का भावात्मक पक्ष है अपने राग-द्वेष, विषय-कषाय जन्य सुख का त्याग करना। त्याग में ही धर्म है अतः सद्प्रवृत्तियों का भावात्मक रूप धर्म है। सद्गुणों का क्रियात्मक रूप है दया, दान, सेवा, वात्सल्य आदि की प्रवृत्ति करना। इसी क्रियात्मक रूप को पुण्य कहा जाता है। ये दोनों पक्ष एक सिक्के के समान दो पहलू है जिन्हें एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अतः जहाँ धर्म होगा वहाँ पुण्य होगा ही और जहां पुण्य होगा वहां धर्म होगा ही। क्योंकि पुण्य कहा ही उसे जाता है जो आत्मा को पवित्र करे और आत्मा को पवित्र करे, वही धर्म है। उसे अधर्म कदापि नही कहा जा सकता। इसीलिए जैनागम में दया, दान, करुणा, सेवा (वैयावृत्य), वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियों को धर्म कहा है।

दान, दया आदि समस्त सद्प्रवृत्तियाँ सद्गुण है। सद्गुण स्वभाव होता है, विभाव नहीं। स्वभाव धर्म होता है अधर्म नही। यदि स्वभाव को ही धर्म न माना जाय तो धर्म का अभाव हो जायेगा।

४. **आपत्ति :**—दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो में एकेन्द्रिय व हलते-चलते जीवों की हिंसा होती है। हिंसा पाप है, कर्म बंध का कारण है। अतः सद्प्रवृत्तियां साधक के लिए त्याज्य है।

निराकरण :—पुण्य या धर्म रूप सद्प्रवृत्तियों से एकेन्द्रिय जीवों की जो मृत्यु होती है वह अनायास होती है। वह किसी भी प्रकार के आयाम या प्रयासपूर्वक की नहीं जाती है। हिंसा आदि पाप-बंध का कारण करण और योग ये दोनों है। इन दोनों के मिलने से पाप-बंध होता है, अकेले करण या अकेले योग से नही। अतः जिस प्रवृत्ति मे करण और योग होते है वह पाप रूप व बंध का कारण होती है अन्यथा वह बंध का कारण नहीं बनती। यदि बिना करण (करना-कराना अनुमोदन) के ही बंध माना जाय तो वीतराग के भी श्वास लेने, चलने-फिरने, बैठने-उठने आदि प्रवृत्तियों व क्रियाओं में

वायुकाय आदि एकेन्द्रिय की व त्रसकाय की हिंसा होती रहती है अतः उनसे उनके भी कर्म-बंध होने चाहिए, परन्तु उनके बंध नहीं होता। क्योंकि जब तक किसी भी क्रिया के साथ कर्तृत्वभाव रूप करना, कराना व अनुमोदन रूप कारण न हो तब तक बंध सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दान, दया, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों में हिंसा करने, कराने व अनुमोदन का लेशमात्र भी भाव नहीं होता है अतः वह पाप रूप व कर्म बंध का कारण नहीं है। इसीलिए साधु द्वारा खाने-पीने, चलने-फिरने, श्वास लेने आदि क्रियाओं में त्रस-स्थावर जीवों की मृत्यु या हिंसा होने पर उनका हिंसा विरमण रूप अहिंसा महाव्रत तीन करण व तीन योग से माना गया है। उनके हिंसा के त्याग का व्रत भी तीन करण, तीन योग से होता है और स्थावर जीवों के मरने पर भी उनका अहिंसा महाव्रत खण्डित नहीं होता है। क्योंकि साधु व वीतरागी के द्वारा जीवों की हिंसा होती है पर वे हिंसा करते नहीं है। उनका लक्ष्य तो प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ सर्व जीवों की रक्षा व हित का ही रहता है, किसी भी जीव की हिंसा व अहित करने का नहीं होता है। अतः सद्प्रवृत्तियों में हिंसा का पाप नहीं लगता व कर्म बंध नही होता है।

५. **आपत्ति** :—दान, दया आदि द्वारा जिस जीव की रक्षा की जाती है वह जीव बचकर भविष्य में संसार में पाप प्रवृत्ति करता है। इससे रक्षा करने वाला अनुमोदन रूप पाप का भागीदार होता है। पाप त्याज्य होता है। अतः दान, दया आदि से जीवों की रक्षा करना पाप है व त्याज्य है।

निराकरण :—उपर्युक्त युक्ति सर्वथा तथ्यहीन है। कारण कि रक्षा करने वाले का यह भाव कदापि नही होता कि यह जीव बचकर पाप करे। यदि किसी जीव के बचने पर उसके द्वारा आगे होने वाले पाप का कारण उसके रक्षक को माना जाय तो वीतराग को छोड़कर शेष सब जीव पाप करते है। उसके माता-पिता, भाई-बहिन मित्र, परिजन आदि भी बचकर पाप करेंगे, यहां तक कि साधु भी दसवें गुणस्थान तक पाप कर्मों का बंध करता है अर्थात् पाप करता है। अतः अपने माता-पिता आदि परिजनों की सेवा करना व साधु को दान आदि देना उन्हें भूख-प्यास आदि से बचाना, पाप बंध का ही कारण होगा, अधर्म होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो कोई किसी को भी बचाए तो उस बचाने वाले को पाप ही लगेगा। इस प्रकार दया, दान द्वारा किसी की भी सेवा करना, उसे भूख-प्यास से बचाना पाप का कारण होने से त्याज्य ही होगा।

इस मान्यता के अनुसार तो दया, दान आदि धर्म का ही लोप हो जाएगा। चारों ओर सर्वत्र घोर हिंसा, निर्दयता का साम्राज्य हो जाएगा और किसी भी प्राणी का जीवित रहना दूभर हो जाएगा। यहां तक कि किसी से स्वयं अपनी रक्षा, सहायता व सेवा करने की अपेक्षा करना भी पाप को बढ़ावा देने का ही कारण होगा जो घोर अमानवता, पशुता, दानवता है। कितने आश्चर्य की बात है कि पाप कोई दूसरा ही करे और उसका फल दूसरे व्यक्ति को बिना पाप किए ही मिले अर्थात् करे कोई भरे कोई, हत्या करे कोई और फांसी दूसरे को मिले। यह कर्म-सिद्धान्त व आगम के विपरीत तो है ही, साथ ही व्यवहार-विरुद्ध भी है। अतः सर्वथा त्याज्य है।

किसी भी जीव को बचाये जाने फल उस बचाये गए जीव का बचना है अर्थात् जीवित रहना है अतः जो लोग किसी जीव को बचाने में एकान्त पाप मानते हैं उनके लिए तो इतना ही कहना काफी होगा कि उनके सिद्धान्तानुसार किसी भी जीव का या उनका स्वयं बचा रहना, जीवित रहना भी पाप का ही फल है। अतः जो किसी जीव को बचाने—उसकी रक्षा करने में पाप मानते हैं, उन्हें स्वयं को बचे रहने का, जीवित रहने का अधिकार ही नहीं है। किसी मरते हुए जीव को भोजन, जल आदि देकर बचाने को या उसके दुःख को दूर करने की सेवा करने व सहायता पहुँचाने को पाप या त्याज्य मानना मानवता, व्यावहारिकता, बुद्धिमत्ता आदि सभी पक्षों से घोर विरुद्ध है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

उपर्युक्त मान्यता इसलिए भी तथ्यहीन है कि जीवों की रक्षा करने वाले की लेशमात्र भी यह भावना नही होती कि कोई जीव बचकर हिंसा, झूठ, चोरी, शोषण आदि दुष्प्रवृत्तियां करे व राग-द्वेष, कषाय, मोह का सेवन करे क्योंकि वह तो स्वयं ही इन दुष्प्रवृत्तियों व पापों को बुरा समझता है तथा इनके त्यागने में अपना हित मानता है। यह नियम है कि जो जिसे बुरा समझता है उसकी भावना सदैव यही रहती है कि वह बचने वाला प्राणी या व्यक्ति भी इन दुष्प्रवृत्तियों व बुराइयों से बचकर अपना हित करे। पाप का अनुमोदन तो तब होता है जब पाप कर्म या क्रिया को अच्छा समझा जाय। अतः सद्प्रवृत्तियों से पाप का अनुमोदन होता है, यह मानना भूल है।

६. **आपत्ति :—**सकारात्मक अहिंसा के विरोध में एक युक्ति यह भी दी जाती है कि जीव "जीव" है, सभी जीव समान हैं। अतः किसी भी जीव

को मारा जाय, उसका पाप समान ही लगेगा भिन्न नहीं। अतः एक जीव को बचाने के लिए असंख्यात-अनन्त निरपराध जीवों की हिंसा करना कहां तक उचित व न्यायसंगत है ?

निराकरण :—इस सम्बन्ध में यह कहना होगा कि "सब जीवों को या किसी भी जीव को मारने में समान पाप लगता है, यह मान्यता भूल भरी है। कारण कि पृथ्वीकाय के एक कण में, जलकाय की एक बूंद में असंख्यात जीव होते हैं और वनस्पितिकाय व निगोद में सूई के अग्र भाग में असंख्यात व अनन्त जीव होते हैं। अतः हमारे व वीतराग के प्रत्येक श्वास में असंख्यात वायुकाय के जीवों की हत्या हो रही है, जल की एक घूंट में, वनस्पति उपयोग में असंख्यात अनन्त जीवों का प्राणान्त हो रहा है। इन जीवों में से प्रत्येक जीव की हिंसा को मनुष्य की हत्या के समान माना जाय तो हम प्रति क्षण असंख्यात मनुष्यों की हत्या का पाप कर रहे है जो विद्यमान समस्त मनुष्यों की संख्या से असंख्यात गुणें है। उपर्युक्त मान्यता के अनुसार कोई इन सब मनुष्यों की हत्या भी कर दे तो यह हत्या का पाप एक घूंट के जलकाय के जीवों की हत्या से कम ही होगा। महाभारत जैसे हजारों-लाखों युद्धों की हत्या का पाप भी एक श्वास लेने में मरे जीवों से कम ही होगा। इस मान्यता के फलस्वरूप अपने स्वार्थ के लिए हजारों मनुष्यों की हत्या करने में भी संकोच नहीं होगा कारण कि उसका पाप एक घूंट जल के पाप से कम ही होगा। अतः यह मान्यता भयंकर हत्या को प्रोत्साहन देने वाली तथा अनाचार-अत्याचार की पोषक है।

अतः उपर्युक्त मान्यताओं को मानना आगम, कर्म-सिद्धान्त, व्यवहार, संविधान, न्याय-नीति-नियम व युक्ति आदि से विरुद्ध ही है व अहिसा का उपहास ही है। अतः यह मान्यता सर्वथा आधारहीन, विचारहीन और कपोल-कल्पित ही है। प्राचीन काल में "हस्तितापस" नाम का एक पंथ था जो इसी मान्यता को स्वीकार करता था। इस पंथ के अनुयायी अनेक व असंख्य जीवों की हिंसा से बचने के लिए एक हाथी को मारकर लम्बे समय तक उसे खाते रहते थे और अपने को अहिंसक मानते थे तथा इस मत या सिद्धान्त को नही मानने वालों को हिंसक मानते थे।

वास्तविकता तो यह है कि जीव तो अजर-अमर-अविनाशी है अतः जीव का विनाश होता ही नही। विनाश होता है—कान, नयन, नाक आदि इन्द्रियों व तन-मन-वचन आदि प्राण शक्तियो का। इसीलिए जैनागमो मे हिंसा के स्थान पर प्राणातिपात अर्थात् प्राणों का हनन करना शब्द आया

है और अणुव्रत या महाव्रत की प्रतिज्ञा भी प्राणातिपात विरमण की ही ली जाती है जो सार्थक व उचित ही है। यह नियम है कि जिस जीव में जितनी अधिक प्राण शक्ति है वह उतना ही अधिक विकसित प्राणी है। उसके हनन में उतना ही अधिक प्राणातिपात (हिंसा) है। एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि से द्वीन्द्रिय जीव लट, केंचुआ आदि की प्राण शक्ति (संवेदनशीलता) अनन्तगुणी है इसीलिए इन्हें एकेन्द्रिय से अनन्तगुणा पुण्यवान माना है। अतः इनकी हिंसा में एकेन्द्रिय जीव के प्राणातिपात से अनन्तगुण प्राणातिपात होता है—हिंसा होती है, पाप होता है।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय से तेइन्द्रिय चींटी आदि, तेइन्द्रिय से चउन्द्रिय मक्खी, मच्छर आदि और चउइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी-मनुष्य आदि क्रमश अनन्त-अनन्त गुणी अधिक प्राण शक्ति वाले हैं, पुण्यात्मा है। अतः उनके हनन में क्रमशः अनन्त-अनन्त गुणा अधिक प्राणातिपात है, अनन्त-अनन्त गुणी अधिक हिंसा होती है या पाप लगता है। अतः सब जीवों के मारने में समान पाप लगता है, समान हिंसा है, यह भयंकर भूल है।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ऊपर दिए गए क्रम में जीवों की रक्षा करने, दया करने में क्रमशः अनन्त-अनन्त गुणा धर्म व पुण्य है। अतः पशु-पक्षी, मनुष्य आदि पचेन्द्रिय प्राणियों को अन्न-जल देकर भूख-प्यास से मरने से बचाने व रक्षा करने, इनकी सेवा करने में अनन्त गुणा धर्म व पुण्य है और इनके मारने में अनन्त गुणा पाप व अधर्म है। यदि इनकी रक्षा या सेवा में पाप या हिंसा मानना धर्म को अधर्म मानना है, पुण्य को पाप मानना है जो घोर मिथ्यात्व रूप पाप है।

तात्पर्य यह है कि सब जीवो के मारने में समान पाप या हिंसा नहीं है। बल्कि जो प्राणी जितना अधिक प्राणवान है उसके हनन में उतना ही अधिक प्राणातिपात है, हिंसा है, पाप है, आत्म-पतन है और उसकी रक्षा में, दया में सहायता में उतना ही अधिक धर्म है, पुण्य है, आत्मा का उत्थान है।

७. **आपत्ति :**—कोई जीव किसी दूसरे जीव को कष्ट दे रहा है या मार रहा है तो ऐसी स्थिति में जिसे कष्ट दिया जा रहा है—मारा जा रहा है उसे बचाने से जो जीव अपने सुख के लिए उसे कष्ट दे रहा है, मार रहा है उस जीव को आघात लगता है, दुःख होता है। अतः यह हिंसा है।

निराकरण :—इस सम्बन्ध में विचारने से ऐसा लगता है कि किसी जीव को कष्ट होना हिंसा नही है। जैसे एक डॉक्टर पेट का ऑपरेशन करने के लिए किसी रोगी का पेट छुरी से काटता है और एक डाकू धन लूटने के लिए किसी व्यक्ति के पेट में छुरा घोंपता है, बाहरी दृष्टि से दोनों घटनाये एक सी है, दोनों का काम एकसा है परन्तु आन्तरिक दृष्टि में बहुत अन्तर है। डॉक्टर द्वारा छुरे से रोगी का पेट चीरना और उससे रोगी को कष्ट होना या मर जाना, हिंसा नही कही जा सकती। कारण कि डॉक्टर की भावना रोगी के हित की होती है और डाकू द्वारा व्यक्ति का पेट चीरना हिंसा है क्योंकि डाकू की भावना व्यक्ति का हित करने की नहीं अहित करने की है। किसी प्राणी के हित के लिए किया गया कार्य मैत्री है, सेवा है, दया व अहिंसा है अतः पेट में छुरा घोंपने का डॉक्टर का कार्य हितकारक होने से अहिसा व दया है तथा डाकू का कार्य अहित का हेतु।

८. **आपत्ति :**—कोई व्यक्ति किसी जीव को मार रहा है उससे उस मरने वाले जीव को बचाया जाता है तो जिस जीव को बचाया जाता है उसके प्रति राग और मारने वाले व्यक्ति के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष पाप है। अतः किसी जीव को बचाने का कार्य पाप है, पाप से बचने में ही धर्म है।

निराकरण :—कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार रहा है तो मरते हुए जीव को बचाने में न तो जिस जोव को बचाया जा रहा है उसके प्रति राग है और न जिससे वचाया जा रहा है उसके प्रति द्वेष है। वल्कि दोनों ही के प्रति हित की भावना है अर्थात् मैत्री भावना है, वात्सल्य भाव है। कारण कि राग-द्वेष या कषाय वहां ही होता है जहां विषय-सुख के भोग रूप स्वार्थ भाव हो। अपने इन्द्रिय विषय के सुख भोग के लिए किसी व्यक्ति, वस्तु आदि के प्रति आकर्षण होना राग है और राग की पूर्ति में बाधा पहुँचने में रोष का उत्पन्न होना द्वेष है। राग-द्वेष मोह या कषाय की उत्पत्ति भोग की इच्छा व स्वार्थपरता से ही होती है। किसी जीव को बचाने में राग-द्वेष व हिंसा नही होती है। राग तो तब होता है जब जिस जीव को बचाया जा रहा है उससे सुख भोगने की व किसी स्वार्थ पूर्ति की इच्छा होती है और द्वेष तव होता है जब जीव घातक हत्यारे के प्रति अहित की भावना होती है। वचाने वाले के किसी प्रकार का स्वार्थ न होने से हृदय में दोनों ही नही होते, वह तो दोनों ही का हित चाहता है। उसकी भावना किसी

को भी कष्ट देने की, आघात पहुँचाने की, अहित करने की नहीं होती है। सभी का भला या हित करने की होती है। उसका सब के प्रति मैत्री भाव होता है।

यथार्थता तो यह है कि मरते हुए जीव को बचाने वाले के हृदय में जो उस जीव को मार रहा है उसके प्रति द्वेष नही होता है। यदि उसके प्रति द्वेप होता तो जीव को कोई अन्य व्यक्ति उसे मारे या कष्ट पहुँचाये तो उसे वचाने की भावना नही होती परन्तु दयावान व्यक्ति उसे भी मरने व कष्ट से वचाने का पूरा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जिस जीव को बचाया गया है यदि उसके प्रति राग होता तो वह वचाया गया जीव अन्य किसी जीव को मारता है या कष्ट पहुँचाता है तो उसकी इच्छा पूरी करने दी जाती परन्तु दयावान व्यक्ति उसे भी ऐसा करने से रोकता है। अत. दयावान व्यक्ति के हृदय में मारने वाले व मरने वाले प्राणियों के प्रति राग-द्वेप नहीं होता है क्योंकि प्रथम तो वह दोनों से अपना विषय कषायजन्य सुख नही चाहता है दूसरा उसकी दोनों के प्रति हित की मैत्री भावना होती है। इस प्रकार हिंसक को हिंसा करने से वचाने मे न तो जिसकी हिंसा की जा रही है उसी का अहित है और न जो हिंसा कर रहा है उसका अहित है और न वचाने वाले का अहित है प्रत्युत् सभी का हित है, सभी का भला है, लाभ है, अहित या हानि किसी की भी लेशमात्र भी नही है। किसी जीव को हिंसा, झूठ, चोरी, राग, द्वेष, विषय, कपाय आदि दुष्प्रवृत्तियों से, पापों से बचाने में किसी का भी अहित नही है। जिसमें सभी का हित है, वह अहिंसा है। उसे हिंसा मानना भयंकर भूल है। उसमे सभी का कल्याण है।

६ **आपत्ति** —दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों में दूसरो की रक्षा करने का सकल्प होता है और सकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प होता है। संकल्प-विकल्प कर्म-बन्धन का कारण है। कर्म-बन्ध बुरा व त्याज्य होता है।

निराकरण :—उपर्युक्त मान्यता निराधार है। क्योंकि यह मान्यता संकल्प और विचार या कामना व भावना का भेद न समझने का परिणाम है। सकल्प उसे कहा जाता है जिसमे अपने भोग के सुख पाने रूप फल प्राप्ति की, स्वार्थ पूर्ति की कामना या इच्छा हो और बुद्धि के द्वारा चिन्तन करना वचार या भाव है। विचार या भाव दो प्रकार का है—(१) विभाव

रूप और (२) स्वभाव रूप। बुद्धि द्वारा भोग प्राप्ति का व विषय-कषाय का चिन्तन करना विभाव रूप विचार है जो विकार व संकल्प का द्योतक है। इस सकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प पैदा होते है। ऐसा संकल्प-विकल्प आर्तध्यान है और कर्म बंध का कारण होने से त्याज्य है।

बुद्धि द्वारा अपने हित व कल्याण का विचार या चिन्तन करना 'ज्ञान' है संकल्प नहीं और अपने हित व कल्याण के लिए दया, दान आदि सद्-प्रवृत्तियों, रूप आचरण करना चारित्र है। ज्ञान-चारित्र से कर्म की निर्जरा होती है, बंध नही। इन्हें संकल्प-विकल्प मानना अज्ञान है।

दया, दान, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि भाव स्वभाव रूप है। यह नियम है कि स्वभाव में संकल्प नही होता, विभाव में ही संकल्प-विकल्प होता है जो आर्तध्यान रौद्रध्यान का द्योतक है। मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव तथा अनित्व, अशरण आदि अनुप्रेक्षायें चिन्तन व तद्नुरूप आचरण, संयम व धर्मध्यान है जो कर्म क्षय का हेतु है।

तात्पर्य यह है कि दया, दान, मैत्री आदि सद्प्रवृत्तियों व सद्गुणों में स्वभाव रूप होने से व इनमें विषय-कषाय रूप भोग की भावना न होने से ये संकल्प व विकल्प नहीं होते। प्रत्युत विवेकमय विचार रूप ज्ञान तथा चारित्र रूप धर्म होता है। जो मुक्ति प्राप्ति में सहायक होता है, बाधक नहीं। सकल्प में राग, स्वार्थपरता व भोगेच्छा होती है और सद्प्रवृत्तियों में मैत्री-वात्सल्य भाव, स्वार्थ-त्याग व सर्व हितकारी भावना होती है। उसे राग-द्वेष रूप संकल्प-विकल्प मानना व बध का कारण मानना भूल है।

१०. आपत्ति :—वर्तमान में एक युक्ति यह भी दी जाती है कि जीव संयमयापन करके तथा दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां करके अनन्त बार नव-ग्रैवेयक देवलोक में चला गया परन्तु मुक्ति में नहीं गया। इसका कारण यह है कि जैसे हिंसा, झूठ आदि पाप प्रवृत्तियों को मुक्ति-प्राप्ति में बाधक समझ कर त्याग किया उसी प्रकार सद्प्रवृत्तियों को, पुण्य कार्यो को, पुण्य कर्मो को मुक्ति में बाधक न माना। इसी मिथ्यात्व के कारण वह जीव नवग्रैवेयक से आगे मुक्ति की ओर बढ़ने से रुका रहा। मुक्ति का बाधक कारण पुण्य कर्मो का न त्यागना ही है।

को भी कष्ट देने की, आघात पहुँचाने की, अहित करने की नही होती है। सभी का भला या हित करने की होती है। उसका सब के प्रति मैत्री भाव होता है।

यथार्थता तो यह है कि मरते हुए जीव को बचाने वाले के हृदय में जो उस जीव को मार रहा है उसके प्रति द्वेष नहीं होता है। यदि उसके प्रति द्वेप होता तो जीव को कोई अन्य व्यक्ति उसे मारे या कष्ट पहुँचाये तो उसे बचाने की भावना नही होती परन्तु दयावान व्यक्ति उसे भी मरने व कष्ट से बचाने का पूरा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जिस जीव को बचाया गया है यदि उसके प्रति राग होता तो वह बचाया गया जीव अन्य किसी जीव को मारता है या कष्ट पहुँचाता है तो उसकी इच्छा पूरी करने दी जाती परन्तु दयावान व्यक्ति उसे भी ऐसा करने से रोकता है। अत. दयावान व्यक्ति के हृदय में मारने वाले व मरने वाले प्राणियों के प्रति राग-द्वेप नहीं होता है क्योंकि प्रथम तो वह दोनो से अपना विषय कपायजन्य सुख नहीं चाहता है दूसरा उसकी दोनो के प्रति हित की मैत्री भावना होती है। इस प्रकार हिसक को हिसा करने से बचाने मे न तो जिसकी हिंसा की जा रही है उसी का अहित है और न जो हिंसा कर रहा है उसका अहित है और न बचाने वाले का अहित है प्रत्युत् सभी का हित है, सभी का भला है, लाभ है, अहित या हानि किसी की भी लेशमात्र भी नही है। किसी जीव को हिंसा, झूठ, चोरी, राग, द्वेष, विषय, कपाय आदि दुष्प्रवृत्तियों से, पापों से बचाने मे किसी का भी अहित नही है। जिसमे सभी का हित है, वह अहिंसा है। उसे हिसा मानना भयंकर भूल है। उसमे सभी का कल्याण है।

९ **आपत्ति**—दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों मे दूसरों की रक्षा करने का सकल्प होता है और सकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प होता है। संकल्प-विकल्प कर्म-बन्धन का कारण है। कर्म-बन्ध बुरा व त्याज्य होता है।

निराकरण—उपर्युक्त मान्यता निराधार है। क्योंकि यह मान्यता संकल्प और विचार या कामना व भावना का भेद न समझने का परिणाम है। संकल्प उसे कहा जाता है जिसमें अपने भोग के सुख पाने रूप फल प्राप्ति की, स्वार्थ पूर्ति की कामना या इच्छा हो और बुद्धि के द्वारा चिन्तन करना विचार या भाव है। विचार या भाव दो प्रकार का है—(१) विभाव

रूप और (२) स्वभाव रूप। बुद्धि द्वारा भोग प्राप्ति का व विषय-कषाय का चिन्तन करना विभाव रूप विचार है जो विकार व सकल्प का द्योतक है। इस संकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प पैदा होते है। ऐसा संकल्प-विकल्प आर्तध्यान है और कर्म बंध का कारण होने से त्याज्य है।

बुद्धि द्वारा अपने हित व कल्याण का बिचार या चिन्तन करना 'ज्ञान' है संकल्प नहीं और अपने हित व कल्याण के लिए दया, दान आदि सद्-प्रवृत्तियों, रूप आचरण करना चारित्र है। ज्ञान-चारित्र से कर्म की निर्जरा होती है, बंध नही। इन्हें संकल्प-विकल्प मानना अज्ञान है।

दया, दान, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि भाव स्वभाव रूप है। यह नियम है कि स्वभाव में संकल्प नही होता, विभाव में ही संकल्प-विकल्प होता है जो आर्तध्यान रौद्रध्यान का द्योतक है। मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव तथा अनित्व, अशरण आदि अनुप्रेक्षायें चिन्तन व तद्नुरूप आचरण, संयम व धर्मध्यान है जो कर्म क्षय का हेतु है।

तात्पर्य यह है कि दया, दान, मैत्री आदि सद्प्रवृत्तियों व सद्गुणो में स्वभाव रूप होने से व इनमें विषय-कपाय रूप भोग की भावना न होने से ये संकल्प व विकल्प नही होते। प्रत्युत विवेकमय विचार रूप ज्ञान तथा चारित्र रूप धर्म होता है। जो मुक्ति प्राप्ति में सहायक होता है, बाधक नही। संकल्प में राग, स्वार्थपरता व भोगेच्छा होती है और सद्प्रवृत्तियों में मैत्री-वात्सल्य भाव, स्वार्थ-त्याग व सर्व हितकारी भावना होती है। उसे राग-द्वेष रूप संकल्प-विकल्प मानना व बंध का कारण मानना भूल है।

१०. आपत्ति :—वर्तमान में एक युक्ति यह भी दी जाती है कि जीव संयमयापन करके तथा दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां करके अनन्त बार नव-ग्रैवेयक देवलोक में चला गया परन्तु मुक्ति में नही गया। इसका कारण यह है कि जैसे हिंसा, झूठ आदि पाप प्रवृत्तियों को मुक्ति-प्राप्ति में बाधक समझ कर त्याग किया उसी प्रकार सद्प्रवृत्तियों को, पुण्य कार्यो को, पुण्य कर्मो को मुक्ति में बाधक न माना। इसी मिथ्यात्व के कारण वह जीव नवग्रैवेयक से आगे मुक्ति की ओर बढ़ने से रुका रहा। मुक्ति का बाधक कारण पुण्य कर्मो का न त्यागना ही है।

निराकरण :—जैनागम के अनुसार पाप उसे कहा जाता है जिससे आत्मा का पतन हो, आत्मा अपवित्र हो, आत्मा को असाता का वेदन हो और पुण्य उसे कहा जाता है जिससे आत्मा का उत्थान हो, आत्मा पवित्र हो, आत्मा को साता का वेदन हो, दुःख उपशान्त हो। जिससे आत्मा पवित्र हो, आत्मा का उत्थान हो, उसे मुक्ति मे वाधक मानना जैनागमो का घोर अपमान व अनादर है। जैन धर्म व कर्म सिद्धान्तानुसार पुण्य से पाप कर्मो का क्षय होता है, संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग, अनुकम्पा से पुण्य का उपार्जन नियम से होता है। यदि पुण्य के उपार्जन को मुक्ति में वाधक नाना जाय तो संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग व अनुकम्पा से मुक्ति माननी होगी। पुण्य कर्म से मुक्ति पाने के लिए संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग को त्यागना होगा। सयम, त्याग, तप, शुद्धोपयोग को ही जैनागम मे मुक्ति का साधन कहा है।

अतः पुण्य मुक्ति में वाधक है यह मान्यता जैनागम और कर्म-सिद्धान्त से विपरीत है, घोर मिथ्यात्व है। कर्म सिद्धान्तानुसार जव साधक क्षपक श्रेणी की साधना कर केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त करता है उसी समय पुण्य के अनुभाग का उत्कृष्ट वंध होता है जो मुक्ति प्राप्ति के पूर्व अन्तिम क्षण तक उत्कृष्ट ही रहता है, उसमें अंश मात्र भी कमी नही होती है कारण कि संयम, त्याग, तप, शुद्धोपयोग वीतराग भाव से तो पुण्य का उपार्जन होता है, क्षय होता ही नही है। पुण्य का क्षय संक्लेश भाव पाप प्रवृत्ति से ही होता है और वीतराग के संक्लेश भाव है ही नही। मुक्ति प्राप्ति के समय इससे पहले भी पाप कर्मो की स्थिति के क्षय के साथ पुण्य कर्मो की स्थिति का क्षय स्वतः होता जाता है। स्थिति का क्षय ही कर्म का क्षय है। पुण्य कर्मो की स्थिति के क्षय के लिए साधक को किसी प्रकार का पुरुषार्थ व प्रयत्न नही करना होता है। अतः पुण्य को दया, दान, करुणा, वात्सल्य भाव आदि सद्प्रवृत्तियो को मुक्ति मे वाधक मानना जैनागम व कर्म सिद्धान्त के घोर विरुद्ध है, महा मिथ्यात्व है।

यह सर्वमान्य तथ्य है, आगम सम्मत सिद्धान्त है कि राग-द्वेप रूप कपाय ही कर्म का वीज है, कर्म के वंध का कारण है। राग-द्वेप कपाय के मोहनीय कर्म के ही रूप है। मोहनीय कर्म की कोई भी प्रकृति पुण्य रूप नहीं है। सभी प्रकृतियां पाप रूप ही है। देव, गुरु धर्म के श्रवण-मनन आदि से जो प्रसन्नता होती है वह राग नही, प्रमोद है, गुणीजनों को

देखकर हृदय में जो प्रेम उमड़ता है वह राग नहीं, मैत्री भाव व वात्सल्य है।

दुखियों को देखकर हृदय द्रवित होता है वह भी राग नहीं, करुणा भाव है। उनके दुःख दूर करने के लिए उनकी सहायता, सेवा करना अनुकम्पा है। मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य भाव जीव का स्वभाव है इसीलिए जैनागमो में इन्हें संवर में ग्रहण किया गया है। संवर से, शुभ भाव से कर्म क्षय होते है, कर्म बंधते नही है। कर्म बंध का कारण मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा आदि भाव व दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियां नही है। प्रत्युत् इनके साथ रहा हुआ कषाय भाव है। मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भावों दया, दान, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों को कर्म-बंध का व संसारभ्रमण का कारण मानना, स्वभाव को कर्मबंध व ससार परिभ्रमण का कारण मानना है जो जैनागम के विरुद्ध है तथा घोर मिथ्यात्व है। सारांश यह है कि हिंसा, झूठ आदि पाप प्रवृत्तियां असंयम ही संसार-भ्रमण के कारण है, दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां नही।

पहले कह आए हैं कि अनुकम्पा, वात्सल्य, मैत्री, मृदुता आदि भाव स्वभाव है अतः धर्म है, स्वभाव असीम व अनन्त होता है। वीतराग केवल ज्ञानी के दान, लाभ आदि को अनन्त कहा है। यह कथन भावात्मक है। परन्तु इनका प्रवृत्तिपरक क्रियात्मक रूप शरीर, वस्तु, परिस्थिति आदि पर निर्भर करता है, अतः सीमित होता है। यह क्रियात्मक रूप, अनुकम्पा, करुणा आदि भावों को पुष्ट करता है, राग को गलाता है। अत. प्रवृत्ति साधन रूप है साध्य रूप नही। क्योंकि साध्य असीम व अनन्त होता है जबकि प्रवृत्ति का अन्त होता है अतः प्रवृत्ति साध्य न होकर साधन है।

दया, दान, करुणा के क्रियात्मक रूप साधन को साध्य मान लेने पर इन क्रियाओं के प्रति कर्तृत्व भाव व फल की आशा रूप राग पैदा होता है, जिससे इन सद्प्रवृत्तियों की पूर्ति में बाधक बनने वाले के प्रति द्वेष एवं सहायक बनने वाले के प्रति राग होता है जो साधक को लोकातीत व भावातीत नही होने देता। अतः सद्प्रवृत्तियाँ राग-द्वेष उत्पत्ति की कारण न बन जाय, साधक को इसके लिए सदैव सजग रहना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य मुक्ति मे बाधक नही है, बाधक है इनके साथ रहा हुआ राग-द्वेष आदि दोष व पाप।

११. आपत्ति :—किसी एक क्रिया के दो फल नहीं हो सकते इसे सिद्धांत मान कर कुछ लोग सेवा, परोपकार, दया, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्ति रूप सकारात्मक अहिंसा पर यह आपत्ति करते है कि प्यासे प्राणी को पानी पिलाने, भूखे को भोजन कराने, रोगी की चिकित्सा करने आदि सेवा कार्यो में जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय आदि के असंख्य-अनन्त जीवो की हिंसा होती है। अतः ये सेवा कार्य हिंसा है, पाप है, अधर्म हैं, असंयम है, कर्मबंध के हेतु हैं और एक कार्य के हिंसा और अहिसा ये दो विरोधी फल न होने से ये सेवा कार्य पुण्य, धर्म, संयम व कर्मक्षय के हेतु नहीं हो सकते।

निराकरण :—यहाँ सर्व प्रथम यह विचार करना है कि एक क्रिया के दो फल नही होते, इस सिद्धान्त में कितना तथ्य है ?

प्राणी मात्र कोई न कोई क्रिया निरन्तर करता रहता है अतः निरन्तर कर्म का बंध होता रहता है। यह कर्म बंध पाप व पुण्य दो प्रकार से हो रहा है। प्रति समय ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि कर्मो की पाप प्रवृत्तियों का एवं अगुरुलघु, निर्माण, तेजस, कार्मण शरीर आदि पुण्य प्रविृत्तियों का बंध व उदय निरन्तर हो रहा है। अर्थात् प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति से पुण्य और पाप ये दोनों फल निरन्तर हो रहे है। साथ ही उदय में आए कर्मो का क्षय व नवीन कर्मो का बंध ये दोनो फल भी सदैव हो रहे हैं तथा कषाय में कमी रूप विशुद्ध भाव (पुण्य) से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होकर उनकी स्थिति में कमी होती ही है और जितना कषाय उदय रूप है उससे कर्म बंध भी होता ही है। श्रावक के संयमासंयम गुणस्थानक होता है अर्थात् व्रती श्रावक के संयम और असंयम दोनों युगपत होते हं।

दशवें गुणस्थानक तक साधुओं के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि पाप प्रवृत्तियों का कर्म बंध निरन्तर होता है तथा श्वास लेने से साधक के वायुकाय के जीवों की हिंसा भी निरन्तर हो रही है। अतः एक क्रिया के दो फल न होने के सिद्धान्त के अनुसार दशवें गुणस्थान तक पाप होने से पुण्य, धर्म नही हो सकता, हिंसा होने से अहिंसा, संयम नहीं हो सकता, कर्म क्षय, कर्म बंध होने से नहीं हो सकता। जबकि जैनागम में साधु के अहिंसा, संयम पुण्य, धर्म क्षय होना माना है। अतः एक क्रिया के दो फल नहीं होते हे, यह सिद्धान्त, कर्म

सिद्धान्त व आगम विरुद्ध है और यह मानना कि किसी भूखे-प्यासे को भोजन कराना है। जहाँ हिंसा है वहाँ अहिंसा नही हो सकती। इस प्रकार का तर्क या युक्ति व मान्यता स्याद्वाद व विज्ञान के विरुद्ध है। कारण कि जैसे सर्दी-गर्मी, लाभ-हानि आदि विरोधी गुण कहे जाते है परन्तु वास्तव में ये सर्दी-गर्मी दोनों विरोधी न होकर सापेक्ष है और एक तापमान गुण के अंकन के दो रूप है। कारण कि तापमान की प्रत्येक डिग्री सर्दी-गर्मी युक्त है अर्थात् उस डिग्री से नीचे की डिगी की अपेक्षा गर्म है और उस डिग्री से अधिक उच्च डिग्री की अपेक्षा सर्द है। अतः तापमान की प्रत्येक अवस्था या स्थिति सर्दी-गर्मी रूप है।

इसी प्रकार प्राणी की प्रत्येक क्रिया हिंसा-अहिसा युक्त होती है। उसके श्वास लेने, खाने-पीने, हिलने-चलने आदि क्रियाओं में वायुकाय व अन्य असंख्य जीवों की हिंसा निरन्तर होती रहती है। कोई जीव एक क्षण मात्र भी हिंसा रहित नहीं है तथा वह जगत् के शेष अनन्त जीवों की हिंसा नहीं कर रहा है, अतः अहिंसक भी है। यह नियम है कि कोई भी पूर्ण हिसक नहीं हो सकता। अहिंसा की कमी ही हिसा है, हिसा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः सर्दी-गर्मी की तरह हिंसा-अहिसा भी सापेक्ष है, विरोधी नहीं। दोनों सदैव साथ ही रहते है, यही कारण है कि पाप के साथ पुण्य का बंध सदैव होता रहता है और साथ ही कर्मो की नैर्सगिक (अकाम) निर्जरा भी सदैव होती रहती है, इस प्रकार छद्मस्थ जीव (सरागी) की प्रत्येक क्रिया पाप, पुण्य, बंध और निर्जरा युक्त ही होती है। पुण्य कषाय की मंदता या आत्म विशुद्धि का द्योतक है। कषाय की कमी या मंदता रूप आत्म विशुद्धि धर्म है। अतः प्रत्येक क्रिया के साथ धर्म भी सदैब होता रहता है। वस्तुतः धर्म-अधर्म, सर्दी-गमा की तरह सापेक्ष है विरोधी नहीं। धर्म की कमी अधर्म है। अधर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्राणी की प्रत्येक क्रिया आंशिक हिसा और आंशिक अहिसा युक्त होती है। अतः जितने अंशों में वह अहिंसक है उतने अंशों में धर्म है और जितने अशों में हिसक है उतना अधर्म है। अतः यह मान्यता कि जहाँ हिसा है वहाँ अहिसा नहीं हो सकती तथ्य हीन है। इसी प्रकार अशुभ योग और शुभ योग भी सापेक्ष है : विरोधी नही। दूसरे शब्दों में पुण्य-पाप भी सापेक्ष हैं। यही कारण है कि हर क्रिया में पाप-पुण्य तथा निर्जरा-वंध होता रहता है।

यही नही कर्मो का उत्कर्पण-अपकर्पण ये दोनों भी सभी प्राणियों मे वीतराग केवली के भी सदा होते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि

पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, गुण-दोष सापेक्ष हैं । इनमें से एक की कमी दूसरे की वृद्धि हो और ये सभी संसारी प्राणियों में न्यूनाधिक रूप से सदैव विद्यमान रहते हैं । इन्हे विरोधी समझ कर इनका आत्यंतिक अभाव मानना भ्रान्ति है ।

—अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान
ए–६, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर-१७

• □ •

जिनवाणी की ज्योति

□ वर्षा सिंह

जिनवाणी की ज्योति जगा ले ।
जीवन अपना सफल बना ले ।।

यह जग माया–जाल रे, प्राणी ।
माया से तू पांव बचा ले ।।

धर्म–ध्वजा की छांह बैठ कर ।
चिन्तन की तू मधुर हवा ले ।।

जिन का नाम हृदय से जप कर ।
सारी पीड़ा–कष्ट मिटा ले ।।

ध्यान–मग्न हो प्रभु–चरणों में ।
अग–जग की सब व्यथा भुला ले ।।

उच्च विचारों की मणियों से ।
मन–आंगन के ठौर सजा ले ।।

'वर्षा' करुणा के सिंचन से ।
प्रीति–शान्ति के फूल खिला ले ।।

—एफ-३६, एम. पी. ई. बी. कॉलोनी
मकरोनिया, सागर–४७०००४ (म. प्र.

जो ज्ञानी हो और आरम्भ तथा परिग्रह से विरत हो, वही सच्चा गुरू है ।

आचार्य श्री हस्ती

सर्वजनहिताय—सबके हित के लिये काम
किया जाय, वही अहिंसा है ।

आचार्य श्री हस्ती

हिंसा और अनावश्यक रूप से चढ़ी हुई
आवश्यकतायें कम हो जाये तो दुःख
कम हो जायेगा ।

आचार्य श्री हस्ती

समाधि — अवस्था को प्राप्त करने के लिये
सामायिक व्रत का अभ्यास आवश्यक है ।

आचार्य श्री हस्ती

WITH BEST COMPLIMENTS FROM

□□□

यदि अहिसा को, देश मे बढावा देना है -

तो उसके लिए सयम जरूरी होगा ।



जिसके मन में तन में और वाणी में सयम
होगा, वह व्यक्ति अहिंसा का ठीक रीति से पालन करेगा ।

आचार्य श्री हस्ती



गुरू हस्ती के दो फरमान ।
सामायिक स्वाध्याय महान् ॥

आचार्य श्री हस्ती





पूर्ण शांति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है
कि जीवन में करुणा, मैत्री, परस्पर प्रेम, सहयोग
एवं सद्भावना की गंगा बहाओ।

आचार्य श्री हस्ती

जय गुरु हस्ती

जय गुरु हीरा

द्रव्य — हिंसा की अपेक्षा भाव हिंसा कई गुना
अधिक भयावह, घातक और महा विनाशकारी होती है।

आचार्य श्री हस्ती

यदि आध्यात्मिकता न रहे, तो
मानवता दानवता का रूप धारण कर लेगी ।

आचार्य श्री हस्ती

जय गुरू हस्ती

जय गुरू हीरा

द्वितीय खण्ड

अहिंसा व्यवहार



हिंसा : कारण और प्रयोजन

☐ स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

जब हम अहिंसा के सम्बन्ध में कुछ और अधिक गहराई से विचार करते हैं तो अनेक प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे—अहिंसा सभी तरह से कल्याणप्रद होने पर भी प्राणी अहिंसापालन के लिए क्यों प्रयत्नशील नहीं होता है तथा आत्मा को आत्मा में पाने के लिए क्यों लालायित नहीं होता ? तो इसका एकमात्र कारण यही दीखता है कि प्राणी प्रमाद और कामभोगों में तीव्र आसक्ति के कारण ज्ञात या अज्ञातरूप में हिंसा की ओर आकृष्ट होता है।

प्रारम्भ में हम बता चुके हैं कि हिंसा का मूल कारण आत्मा की प्रमाद वृत्ति है। कषाय और विषय-वासना से प्रेरित होकर व्यक्ति दूसरे जीवों की हिंसा करता है।

हिंसा का मूल कारण प्रमादाचरण होते हुए भी, अज्ञान, मोह, स्वार्थ आदि भी हिंसा के प्रेरक हैं। कभी मनुष्य अपने स्वार्थवश हिंसा करता है, तो कभी अज्ञान या भूल से भी किसी का घात कर डालता है। कभी सप्रयोजन और कभी निष्प्रयोजन भी हिंसा कर देता है। इस प्रकार हिंसा के कारण व प्रयोजन अनेक तरह के हो जाते हैं।

भगवान् महावीर ने हिंसा के निमित्त कारणों का विवेचन करते हुए पाँच कारण बताये है—

(१) अर्थदण्ड, (२) अनर्थदण्ड, (३) हिंसादण्ड, (४) अकस्मात् दण्ड, और (५) विपर्यासदण्ड।[1]

(१) अर्थदण्ड—अपने लिए, अपनी जाति, मित्र, घर आदि के प्रयोजन-वश हिंसा करना, उस हिंसा को अच्छा समझना और दूसरों के द्वारा भी उनके निमित्त हिंसा करवाना अर्थदण्ड है।

(२) अनर्थदण्ड—बिना प्रयोजन के कुतूहल आदि के लिए प्राणियों को मारना, क्लेश पहुँचाना, अंग-भंग करना, अनर्थदण्ड है। जिस प्रवृत्ति से न तो अपने शरीर की रक्षा होती है, न परिवार, कुटुम्ब, मित्र आदि का भी उस कार्य से प्रयोजन हो, किन्तु मन में तरंग आई और प्राणियों का घात कर दिया या करवा दिया—यह अनर्थदण्ड माना गया है।

---

१. स्थानांगसूत्र ५ [दण्ड का अर्थ है—हिंसा]

[illegible] कि [illegible] पहले आता है। [illegible] उस धर्म का पालन कर सकता है। जो राजा इस धर्म का पालन करे और अपने [illegible] के अनुसार प्रजा के कल्याण के लिए अपराधियों को दण्ड दे, [illegible] और [illegible] दूसरों को सजा भी देता है। दूसरे में [illegible] नहीं, पर [illegible] की पूर्ति [illegible] यदि [illegible] में दोनों ही [illegible] प्रजा को [illegible] पहुँचाने की [illegible] किया जायगा।

[illegible] है पर [illegible] श्रावक-जीवन में [illegible] दुष्टता का परिचय न देना चाहिये। [illegible] दूसरों [illegible] है। [illegible] जिम्मेवारी उसके ऊपर [illegible] है। यदि उसे किसी प्रकार [illegible] अपराध [illegible] उसका [illegible] जायगा।

[illegible] के लिये भी समझ [illegible] चाहिये। अर्थात् जाति के बन्धन, [illegible] रिवाज, [illegible] कानून, ऐसे न हों, [illegible] जायँ। जिस समाज में [illegible] न होगा, और जो अभी प्रचलित कितने ही [illegible] समाज में [illegible] आनन्द [illegible] जायगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

४. अब [illegible] अतिचार का कुछ [illegible] (...) पर विचार किया जाता है। [illegible] 'अर्थ'। [illegible] किसी [illegible] आदि में [illegible] पहुँचाना, अनर्थ में [illegible] और दूसरा निषेध। यथा [illegible] जाति का विचार [illegible] और [illegible] पर [illegible] है, ऐसा [illegible] पशु आदि को [illegible] किया जाय यह भी [illegible] है।

दूसरे अतिचार [illegible] 'अनर्थ' [illegible] को [illegible] उपांग में [illegible]

५. [illegible] — [illegible] अतिचार है [illegible] अनर्थ। बिना प्रयोजन कुतूहलवश किसी [illegible] अनर्थ है, [illegible] अर्थ के [illegible]



अहिंसा का प्रशिक्षण

□ आचार्य तुलसी

हिंसा मनुष्य के संस्कारों में रहती है। निमित्तों का योग पाकर वह प्रकट होती है। 'आचारांग' सूत्र में हिंसा के तीन कारण बताये गये हैं—प्रतिशोध, सुरक्षा और आशंका। कारण कुछ भी रहे हों, हिंसा का प्रशिक्षण नियमित रूप से चलता है। उसमें उत्तरोत्तर दक्षता बढ़ रही है। उसके लिए नये-नये साधन विकसित हो रहे है। आगे-से-आगे नई तकनीक खोजी जा रही है। अनेक प्रसंगो में इसका खुला प्रयोग भी हो रहा है। लगता है महावीर की इस वाणी को समर्थन मिल रहा है कि "अत्थि सत्थ परेणपरं"—शस्त्र आगे से आगे तीक्ष्ण होता है, उसकी परम्परा चलती है।

अहिंसा के प्रयोग की बात तो दूर, उसके प्रशिक्षण की भी कोई व्यवस्था नहीं है। अहिंसा का उपदेश बहुत दिया जाता है, उसके गुणगान बहुत किये जाते है, पर उसके प्रशिक्षण की बात कौन सोचते है? ऐसी स्थिति में यह आशा कैसे की जा सकती है कि अहिंसा आएगी और वह जीवन-शैली से जुड़ेगी? अधिक लोगों को तो यह विश्वास ही नही है कि अहिंसा कुछ कर सकती है या उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है। हमारी मान्यता यह है कि अहिंसा में असीम शक्ति है और उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप :

अहिंसा प्रशिक्षण के स्वरूप का निर्धारण किया जाए तो उसके दो रूप हो सकते है—सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है। अहिंसा के दार्शनिक पहलू अनेक हैं। उन सबकी चर्चा में प्रशिक्षण की बात बिखर सकती है। इस दृष्टि से यहाँ कुछ ऐसे बिन्दुओं को उल्लिखित किया जा रहा है, जिनको समझे बिना अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई आधार ही नही बनता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्यवत्ता प्रमाणित करने वाले पाँच बिन्दु है—

१. आत्मा का अस्तित्व २. आत्मा की स्वतंत्रता ३. आत्मा की समानता ४. जीवन की सापेक्षता ५. सह-अस्तित्व।

आत्मा है। प्रत्येक आत्मा का सुख-दुःख अपना-अपना है। इस दृष्टि से आत्मा स्वतंत्र है। गणित की भाषा में आत्मा अनन्त है। उनकी कर्मकृत अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न है। पर स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएँ समान हैं। समानता

का यह सिद्धान्त मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। संसार में जितने प्राणी हैं, सबकी आत्मा समान है। कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष रहकर अपने अस्तित्व नही बचा सकता। इसी कारण जीवन को सापेक्ष माना गया है। सापेक्षता सिद्धान्त प्रकृति के प्रत्येक कण पर लागू होता है। कहीं पर वृक्ष का एक भी टूटकर गिरता है तो उसका प्रभाव पूरी सृष्टि पर पड़ता है। मैं रहूँगा वह रहेगा, अहिंसा की परिधि में इस चिन्तन को स्थान नहीं मिल सकता। भी रहूँगा, तुम भी रहोगे। यह भी रहेगा, वह भी रहेगा—इस प्रकार स अस्तित्व की भाषा में सोचना अहिंसा का दर्शन है।

अन्तर्जगत् में अहिंसा के प्रयोग :

अहिंसा के सैद्धान्तिक पक्ष को समझने के बाद उसके प्रायोगिक स्वरू को समझना आवश्यक है। प्रायोगिक प्रशिक्षण के दो बिन्दु हैं—अन्तर्जगत् औ बाह्यजगत्। अन्तर्जगत् में प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है संवेग-संतुल (Balance of Emotions)। मनोविज्ञान की भाषा मे मानसिक उथल-पु या उद्वेलन की अवस्था का नाम संवेग है। भय, क्रोध, जुगुप्सा, कामुकता, सुख, दु:ख आदि संवेग प्रतिक्रियात्मक भावो के रूप में अपना प्रभाव दिखाते है।

मनुष्य जब तक वीतराग नही बन जाता, संवेगों के प्रभाव से मुक्त नही हो सकता। पर इसका सन्तुलन न होने से अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा हो जाती है। संवेगों को सन्तुलित करने की प्रक्रिया को यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

क्रोध एक संवेग है। इसे नियन्त्रित करने के लिए इमोशनल एरिया—भाव क्षेत्र पर ध्यान के प्रयोग करवाए जाते है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा और लेश्या-ध्यान के प्रयोग इसके लिए कार्यकारी प्रमाणित हुए है।

प्रमाद एक संवेग है। यह जागरूकता घटाता है। इसको नियंत्रित करने के लिए चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा, लेश्या-ध्यान और दीर्घ-श्वास प्रेक्षा के प्रयोग निर्धारित है। नशा-मुक्ति के लिए भी इन प्रयोगों को काम में लिया जाता है।

हीन भावना और अहं भावना ऐसे संवेग है, जो मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित करते है। इनके प्रभाव को क्षीण करने के लिए अनुकम्पी और परानुकम्पी Sympathetic & Parasympathetic नाड़ी-तन्त्र पर ध्यान के विशेष प्रयोग करवाये जाते है।

बाह्य जगत् में प्रशिक्षण बिन्दु :

बाह्य जगत् में अहिंसा के प्रायोगिक प्रशिक्षण की भूमिका बहुत विस्तृत है। मुख्य रूप मे उसके तीन बिन्दु हो सकते है—

मानवीय सम्बन्धों का परिष्कार या विकास।
प्राणी जगत् के साथ सम्बन्धों का विस्तार।
पदार्थ जगत् के साथ सम्बन्धों की सीमाएँ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहता है। वहाँ वह अनेक प्रकार के सम्बन्ध जोड़ता है। सम्बन्ध जोड़ना कोई कठिन काम नहीं है। कठिन है उनका समुचित निर्वाह। कठिनाई का कारण है मनुष्य की स्वार्थपरायण मनोवृत्ति। स्वार्थ की आँख से देखने वाला और स्वार्थ की धरती पर चलने वाला परमार्थ की बात कैसे सोच सकता है? अहिंसा परमार्थ का दर्शन है। अहिंसा में विश्वास करने वाला व्यक्ति सम्बन्धों की आंच पर स्वार्थ की रोटी नहीं सेक सकता। स्वार्थवाद या व्यक्तिवाद के कारण सम्बन्धों के संसार में जो जहर घुल रहा है, उससे बचने के लिए अहिसा का प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

मानवीय संबंधों का परिष्कार :

मनुष्य के दृष्टिकोण को दो रूपों में देखा जाता है—मानवीय और अमानवीय। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति कैसा सम्बन्ध या व्यवहार होना चाहिए, नीति सूत्रों में यह बात निर्धारित होती है। उसके अनुसार व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण मानवीय कहलाता है। जो व्यक्ति दूसरे के हितों की उपेक्षा करता हो, उन्हें कुचल देता हो, किसी का शोषण करता हो या सताता हो, यह पाशवी या दानवी वृत्ति कहलाती है। इस वृत्ति को बदलने से ही मानवीय संबंधों का परिष्कार हो सकता है।

माननीय सम्बन्धों को कई इकाइयों में विभक्त किया जा सकता है। हम यहाँ मुख्य रूप से तीन इकाइयों की चर्चा कर रहे हैं—पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक सम्बन्ध और व्यावसायिक सम्बन्ध। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भ ई-भाई, सास-बहू, देवरानी-जिठानी, माँ-बेटी आदि पारिवारिक सम्बन्ध है। इनमें मानवीय दृष्टिकोण का विकास हो तो किसी को मारने, पीटने, सताने या प्रताड़ित करने का प्रसंग उपस्थित ही नहीं हो सकता।

सामाजिक सम्बन्धों का दायरा वहुत विस्तृत होता है। पड़ौसी से लेकर दूर-दराज बसने वाले समाज के हर व्यक्ति के साथ किसी न किसी रूप में संवंध रहता है। सम्बन्धों की स्थापना में स्वार्थ की प्रेरणा न हो और स्वार्थ मे वाधा पहुँचने पर सम्बन्ध तोड़ने की परिस्थिति भी पैदा न हो, यह अहिसा की प्रेरणा है। जाति, रंग, लिंग, वर्गभेद आदि को आधार वनाकर मनुष्य-मनुष्य के वीच जो दूरियाँ वढ़ती जा रही है, वे किसी-न-किसी रूप में हिंसा को वढ़ावा दे रही है। इन सव भेदों से ऊपर एक तत्त्व है, वह है मनुष्यता। यह भी मनुष्य है, मैं भी मनुष्य हूँ। मै इससे जिस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखता हूँ, इसको भी

मुझसे वैसी ही अपेक्षा है। चिन्तन के इस धरातल पर ही मानवीय सम्बन्धों का विकास सम्भव है।

मालिक-कर्मचारी, व्यापारी-मुनीम, स्वामी-सेवक, भागीदार-भागीदार आदि सम्बन्ध व्यवसाय जगत् से जुड़े हुए है। इन सम्बन्धों में मानवीय दृष्टि-कोण न हो तो मालिक शोषण करता है और श्रमिक श्रम से जी चुराता है। चार डिग्री बुखार में काम करने की बाध्यता और बहानेबाजी की आदत इसी परिवेश में पलती है। इस क्षेत्र में सहानुभूति और संविभाग के प्रशिक्षण से अनेक प्रकार की समस्याओं से राहत मिलती है।

प्राणी-जगत् के साथ सम्बन्धों का परिष्कार :

मनुष्य अपने आपको संसार का श्रेष्ठ प्राणी समझता है। इसी कारण अन्य प्राणियों के प्रति उसका दृष्टिकोण बहुत उदार नही होता। वह अपने जीवन के लिए प्राणियों की हिंसा करता है। हिसा के दो रूप है—अपरिहार्य और परिहार्य। उसके द्वारा की जा रही अपरिहार्य हिंसा भी हिंसा ही है। उसे अपरिहार्यता की दृष्टि से एक ओर किया जा सकता है, किन्तु परिहार्य या अनावश्यक हिंसा प्राणी-जगत् के प्रति उसके अमानवीय दृष्टिकोण का परि-णाम है।

प्राणी-जगत् के साथ मनुष्य के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए—इस सन्दर्भ में मनुष्य को प्रशिक्षण दिया जाता तो परिहार्य या अनावश्यक हिसा नही होती, प्राणियों के प्रति निर्दय व्यवहार नही होते और मानव-समाज में विलासिता नही पनपती। क्रूर, हिंसाजनित प्रसाधन सामग्री और परिधानों के उपयोग वे ही लोग कर सकते है जो सब प्राणियों के साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करते। कुछ लोग मनोरंजन के लिए पशुओ को आपस में लड़ाते है। थोड़े से लोगों का क्षणिक मनोविनोद प्राणी-जगत् के प्रति क्रूरता का खुला निदर्शन है। अहिसा का प्रशिक्षण मनुष्य को इस प्रकार की क्रूरता से विरत कर सकता है।

समस्त प्राणी-तगत् के प्रति उदार या मानवीय दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति प्रकृति की भी अधिक छेड़छाड नहीं कर सकता। पर्यावरण विज्ञान प्रकृति के किसी भी हिस्से में हस्तक्षेप को उचित नही मानता। उसकी यह अवधारणा बहुत प्राचीन नही है। भगवान् महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले अहिसा और संयम के सूत्र दिये, उसके अनुसार प्रकृति के एक कण को भी क्षतिग्रस्त नही किया जा सकता।

पदार्थ-जगत् के साथ सम्बन्धों की सीमाएं :

मनुष्य की एक मौलिक मनोवृत्ति है—अधिकार की भावना। इसी भावना से प्रेरित होकर वह परिग्रह का सग्रह करता है। परिग्रह की चेतना

मनुष्य के अस्तित्व को समाप्ति की ओर अग्रसर करने वाली है। "एरिक फ्रोम" ने एक पुस्तक लिखी है—टू हेव ऑर टू बी (To Have or To Be)—अधिकार अथवा अस्तित्व? मनुष्य को इन दोनों में से एक का चुनाव करना है। उसे अपने अस्तित्व को बचाकर रखना है तो अधिकार की भावना का त्याग करना होगा।

मनुष्य के सामने यह एक दोहरी समस्या है। एक ओर पदार्थ के बिना उसका काम नही चल सकता। दूसरी ओर ममत्व या अधिकार की भावना उसके अस्तित्व के लिए खतरा बन रही है। ऐसी स्थिति में प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है—पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा या अनासक्ति का विकास। पदार्थ के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव आते ही उसके संग्रह और उपभोग की सीमाएँ अपने आप स्वीकृत हो जाती है।

अन्तिम शरण आदिम शरण बने :

अहिंसा के प्रशिक्षकों और प्रशिक्षुओ को भगवान् महावीर का उद्घोष—"अहिसा सव्वभूयखेमंकरी" याद रखना है। उन्होंने कहा—"अहिसा सब प्राणियो के लिए कल्याणकारिणी है। यह उद्घोष उस समय अधिक सार्थक और प्रासंगिक लगता है, जब युद्ध की विनाशलीला से थके-हारे और डरे-सहमे लोग अहिंसा की शरण स्वीकार करते है, युद्ध विराम की घोषणा करते है। यदि हिंसा या युद्ध मे शरण बनने की क्षमता होती तो युद्ध-विराम की बात क्यों सोची जाती? अन्तिम शरण युद्ध नही, युद्ध-विराम है। यह अन्तिम शरण आदिम शरण बने, इसके लिए आवश्यक है युद्ध को विराम देने के स्थान पर युद्ध के प्रारम्भ को हो विराम मिले।

कुछ लोग मानते है कि अहिसा आदमी को कायर बनाती है, भयभीत बनाती है। मै उनसे पूछना चाहता हूँ कि यदि अहिसा कायरता है तो अन्त मे उसकी शरण क्यो ली जाती है? क्या कायरता किसी की शरण बन सकती है? महावीर ने भय और कायरता को हिसा माना है। अहिसा कायरों का नही, वीरो का हथियार है। शौर्यवती और वीर्यवती अहिंसा ही समूचे संसार को त्राण और शरण दे सकती है। काश! संसार उसकी क्षमता को पहचाने और उसे आदिम शरण के रूप मे स्वीकार करे।

प्रशिक्षण की पद्धति शिक्षा के साथ जुड़े :

अहिंसा के प्रशिक्षण हेतु ऊपर-निर्दिष्ट कुछ विन्दुओं को ही चुना गया क्योंकि हिसा के तीन मुख्य कारण है—

वैचारिक आ[illegible]
पदार्थ के प्रति [illegible]

मानवीय सम्बन्धों में क्रूरता

मनुष्य के दैनंदिन जीवन में इन बिन्दुओं से सम्बन्धित जो प्रसंग उ
स्थित होते हैं, उन्हें टालने का कार्यकारी उपाय एक है कि मनुष्य को प्र ।५
कर दिया जाए। बहुत बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अज्ञानवश हिंसा
प्रवृत्त हो जाता है। हिंसा के परिणामो से परिचित न होने के कारण भी ऐ
हो सकता है। इसलिए अहिंसा के प्रशिक्षण की प्रक्रिया को काफी सघन
अपेक्षित है। कुछ व्यक्तियों अथवा गाँवों को चुनकर प्रयोग करना ही
नहीं है। परीक्षण के तौर पर ऐसा किया जा सकता है। पर प्रशिक्षण कार्य
को व्यापक बनाने के लिए इसे शिक्षा के साथ नत्थी करना होगा।

जितने भी विद्यालय और महाविद्यालय है, उनमें अहिंसा को अनि
सब्जेक्ट के रूप में स्वीकार किया जाए और थ्योरिटिकल ट्रेनिंग के
प्रेक्टिकल ट्रेनिंग पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाये तो इस विषय को
अधिक व्यापक बनाया जा सकता है। अहिंसा के प्रशिक्षण की यह पद्धति
अधिक वैज्ञानिक और सुगम बने, इस दृष्टि से इस पर समीक्षात्मक बहस
आमंत्रित की जा सकती है।

—जैन विश्व भारती, ८

दया

जब दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और जब अ
का फव्वारा सूख जाता है, तब मनुष्य रेगिस्तान की रेत में रेंगते सांप के
हो जाता है।

—२।१२

दया से लबालब भरा हुआ दिल ही सब से बड़ी दौलत है,
दुनियावी दौलत तो नीच आदमियों के पास भी देखी जाती है।

—।त९१

दयालु-हृदय खुशी का फव्वारा है, जो कि अपने पास की हर
मुस्कानों से भर कर ताजा बना देता है।

—वाशिं८न

मेरी यह प्रबल कामना है कि मैं हर आँख का हर आंसू पोंछ दूं।



हिंसा का सामना कैसे किया जाय ?

□ काका कालेलकर

धर्म की अनेक व्याख्याएँ की गई हैं। मेरे विचार से धर्म की उत्तम व्याख्या यह है : "जीवन-शुद्धि और समृद्धि की साधना जो दिखाये वह धर्म है।" प्रत्येक धर्म में आत्मोद्धार के लिये जो बातें बताई गई हैं, उनके द्वारा ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। यह साधना दो प्रकार से होती है। केवल अपना ही विचार करके आत्मशुद्धि से आत्म-विजय प्राप्त करना और अन्त में मुक्त होना, यह पहली साधना है। दूसरी साधना वह है जिसमें केवल व्यक्ति का विचार न करके समस्त समाज का विचार किया जाता है। सारे व्यक्तियों को मिलाकर समाज बनता है और वह समाज ही मुख्य माना जाता है। जैसे हम शरीर के एक-एक अवयव का विचार नहीं करते, परन्तु समग्र शरीर का विचार करते है, वैसे ही मुख्यतः विचारणीय प्रश्न यह है कि संगठन बनाकर रहने वाली मनुष्य-जाति अहिंसा की साधना कैसे कर सकती है ?

मेरी मान्यता के अनुसार अभी तक मनुष्य-जाति की बाल्यावस्था थी, इसलिये केवल व्यक्ति के लिये मार्ग विचारने और बताने से हमारा काम चल जाता था परन्तु अब जो कार्य हमारे सामने है वह विकट और व्यापक है। अब निश्चित तथा व्यवहार्य सामाजिक साधना बताने के दिन आये हैं। आज की साधना केवल आत्मशुद्धि की नहीं परन्तु समाज-जीवन की शुद्धि की साधना है।

अहिंसा एक सनातन तत्त्व है। अमुक समय के पहले अहिंसा नहीं थी, यह नहीं कहा जा सकता। समय-समय पर अहिंसा का प्रचार करने वाले पुरुष निकल ही आते हैं। मुझे सदा यह लगा है कि अहिंसा की सच्ची साधना ब्रह्म-चर्य में, सयम में है। जो मनुष्य भोग-विलास मे डूबा रहता है और वैसा करके मरने के लिये बच्चे पैदा करता है, वह अहिसक नही है। जीवन में विलासिता, ...मुकता कम हो तो ही सच्ची अहिंसा को जीवन में उतारा जा सकता है और ...माज मे उसे फैलाया जा सकता है।

पुण्य दुःखकर है, लेकिन उसका फल सुखकर है; जब कि पाप बाहर में ...थवा प्रारम्भ में सुखकर होता है, लेकिन उसका फल दुःखकर होता है। इस-...ये भोग-विलास का सुखकर मालूम होना स्वाभाविक है। मनुष्य जिस हद ...क विलासिता का त्याग करता है उसी हद तक वह अहिंसा-धर्म के निकट ...च पाता है। विलासिता को दूर करने के लिये इन्द्रियों की वृत्तियों को जीतना

पड़ता है। इसी को तप कहा जाता है। यह तप ही अहिंसा है। यह सा व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों प्रकार से होती है। उसे बताने वाले समय-समय पर आते ही रहने चाहिये। और, इस प्रकार सनातन अहिंसा का विकास होना चाहिये।

अपराध के लिये सजा देना मनुष्य-जाति का बड़ा अपराध है। को सजा देने वाले हम कौन होते हैं? अपराध के लिये अपराधी को प्रायश्चि करना चाहिये। अपराध के लिये सजा देकर तो हम हिंसा को घटाने के प्रतिहिंसा करते हैं। सजा देने से मनुष्य का सुधार नहीं होता। सजा देकर भले ही संतोष अनुभव करें, परन्तु वास्तव में उससे हिंसा दुगुनी होती अपराध करने वाले की हिंसा अप्रतिष्ठित मानी जाती है। जब किसी अप को सजा होती है तो लोग उस कार्य को अच्छा मानते हैं; इसलिये यह हिंसा प्रतिष्ठित मानी जाती है। यह उलटे मार्ग की साधना है। इतनी हम समझ लें, तो अहिंसा का मार्ग हमारी समझ में आ जायेगा। भावी त कर हमें अवश्य कहेंगे कि अपराधी को सजा देना भी अपराध ही क्रोधी के सामने अगर हम क्रोध न करें, तो अन्त में उसे शांत होना ही पड़े 'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'—तृणरहित स्थान में पड़ी हुई अपने आप बुझ जाती है।

आज हम अहिंसा के बाल्यकाल में हैं। अहिंसा के विकास के लिये धीरज और अखूट साहस की जरूरत है। मार्ग लम्बा है। समाज में अहिंसा शिक्षा का कार्य करना आवश्यक है। इसके लिये अनेक महापुरुष आयेंगे मार्ग दिखायेंगे।

केवल स्थूल हिंसा का त्याग पर्याप्त नहीं होगा। जहाँ धन के ढेर हो गये हैं वहाँ उनकी नींव में शोषण का पाप है—हिंसा है। अमेरिका में सम्प्रदाय के लोग अहिंसक हैं और धनी भी हैं। भारत में जैन लोग अहिं होने का सकारण दावा करते हैं। फिर भी वे धनाढ्य हैं। द्रोह के बिना नहीं मिलता। इसलिये मेरी समझ में नहीं आता कि अहिंसा और धन का कैसे बैठ सकता है। आप चींटियों के दर के सामने आटा डालें, रात्रि-भोज करें, आलू न खायें—यह सब तो अच्छा है परन्तु यह आरम्भ की क्रिया हमें तो अहिंसा-धर्म में आगे बढ़ना है। जगत् में जब युद्ध चल रहा हो तब शान्ति से कैसे बैठ सकते हैं? हमें उसे रोकने का मार्ग खोजना चाहिये। विचारों में परिवर्तन की आवश्यकता है। कई लोग कहते हैं कि युद्ध तो यूर में लड़ा जा रहा है, हमारे देश में तो गांधीजी के प्रताप से सब ठीक चल र है। लेकिन मैं कहता हूँ कि हमारे देश में प्रत्येक प्रान्त में भीतर ही भीतर फैली हुई है, हर जगह अविश्वास फैला हुआ है। ये सब हिंसा के ही प्र हैं। यूरोप के पास अस्त्र-शस्त्र हैं, इसलिये वहाँ के लोग युद्ध करते हैं। हम

दूसरे के पैर खींचकर एक-दूसरे को नीचे गिराते हैं। वृत्ति से तो दोनों एक से ही हैं। वहाँ समर्थों की शस्त्राधारी हिंसा चलती है, यहाँ असमर्थों की अविश्वास द्वेष, निद्रा और द्रोह-मूलक हिंसा।

अदालत में जाने के बदले पंच के द्वारा अन्याय दूर करना और अन्याय करने वालों को अपना बनाकर उसकी शुद्धि का प्रयत्न करना—इस प्रकार की अहिंसक साधना का विकास विचारपूर्वक अभी तक हमने नही किया है।

सरकारी अन्याय के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करने के बजाय सत्याग्रह करने की अहिंसक साधना हमारे जमाने में गाँधीजी ने ही बताई है। राज्य के विरुद्ध किये जाने वाले पुराने 'त्रागा' (धरना) या ऐसे ही दूसरे विद्रोह में अहिंसा नही थी। शायद ऐसा कहा जा सकता है कि उसमें अहिंसक पद्धति के बीज थे।

राष्ट्रों के बीच जो युद्ध लड़े जाते है उनके बजाय चढ़ाई करने वाले शत्रु का अहिसक पद्धति से प्रतिकार कैसे किया जाय, यह सोचने या सुझाने का मौका गांधीजी को भी नहीं मिला है।

अमेरिका में या अफ्रीका में गोरे लोग काले लोगों पर जो जुल्म ढाते है, उन्हे दूर करने का अहिंसक मार्ग दिखाने की जिम्मेदारी अहिंसा के उपासकों और आचार्यो की है परन्तु आज तो ये लोग शास्त्र-वचनों की व्याख्या करने में और परम्परागत मार्ग से अपने तप या प्रतिष्ठा को बढ़ाने में ही मशगूल है।

आज दुनिया में बड़ी से बड़ी हिंसा शोषण की चल रही है। दूसरों की कठिन परिस्थितियों का लाभ उठाकर उनकी सेवाओं का दुरुपयोग करने, और उन पर अनुचित अत्याचार करना अर्थात् उनके जीवन का शोषण करना बहुत बड़ी हिंसा है। इस तरह की हिंसा परिवारों में भी चलती है। जमींदार और काश्तकार, खेत में काम करने वाले मजदूरों के मालिक और खेतीहर मजदूर, कारखानेदार और कारखाने के मजदूर, उच्च वर्गों के लोग और श्रमजीवी लोग—इन सब के सम्बन्धों में शोषण की, दबाव की और जुल्मों की हिंसा सतत चला ही करती है। साहूकार मनमाना ब्याज लेकर कर्जदार को चूसता है, यह भी हिंसा ही है।

जैन समाज तथा जैन साधुओं और आचार्यो को यह सोचना चाहिये कि इस सारी हिंसा का सामना कैसे किया जाय और इस दृष्टि से समाज-जीवन का परिवर्तन करने के लिये कौनसे कदम उठाये जाने चाहिये।

जब हमारा समाज धर्मप्राण था उस समय हमारे धर्माचार्य तत्त्वज्ञान विज्ञान की मदद से साहस पूर्वक जीवन परिवर्तन करने में हिचकिचाते नहीं और समाज की पुरानी रूढ़ियों का विरोध करने में भी डरते नहीं थे।

प्राणियों के प्रति प्रमोदभावना हो, विशेष आत्मीयता हो; (५) जो मनुष्य, परिवार, सम्प्रदाय, नगरग्राम, राष्ट्र अथवा प्राणी उद्दण्डता करते हों, संसार की व्यवस्था को बिगाड़ते हों, अशान्ति पैदा करते हों, उनकी उपेक्षा की जाय, उनके साथ प्रेम-पूर्वक असहयोग रखा जाय; उन पर सामाजिक-नैतिक-दवाव डालने का प्रयत्न किया जाय, उनको न्याय दिया जाय।

विशेषरूप से गृहशान्ति के लिए परिवार में परस्पर सहनशीलता व स्वार्थत्याग की भावना आवश्यक है।

१७वी शताब्दी में जापान मे उस समय के राज्यमंत्री ओ-चो-सान का परिवार अपने सौहार्द के लिए प्रसिद्ध था। यद्यपि उनके परिवार मे लगभग एक हजार सदस्य थे, पर उनके बीच एकता का अटूट सम्बन्ध था। सभी सदस्य साथ रहते, साथ ही खाना खाते। कलह तो उनके घर से दूर ही रहता था। शान्ति का अखण्ड झरना उनके कुटुम्ब में बहता रहता था। दूर-दूर तक इस कुटुम्ब की शोहरत फैल गई थी। ओ-चो-सान—परिवार मे इस प्रकार की शान्ति की बात उस समय के सम्राट् 'यामातो' के कानों में पहुँची। वे इसकी जाँच करने के लिए स्वयं उस वृद्धमंत्री के घर पहुँचे। स्वागत, सत्कार और शिष्टाचार की रस्म पूरी हो जाने पर सम्राट् ने पूछा—"मैने आपके परिवार की एकता, शान्ति, स्नेहसम्बन्ध और सहृदयता की कई कहानियाँ सुनी है। क्या आप मुझे बतलायेगे कि एक हजार से भी अधिक परिवार वाले घर मे यह सौहार्द, ऐक्य, शान्ति और स्नेहसम्बन्ध किस तरह बना हुआ है?" ओ-चो-सान वृद्धावस्था के कारण अधिक देर तक बातें नहीं कर सकते थे, इसलिए अपने पौत्र को कलम-दावात व कागज लाने का इशारा किया और कागज पर काँपते हाथों से कोई सौ शब्द लिख कर उस कागज को सम्राट् यामातो की ओर बढ़ा दिया। सम्राट् ने बड़ी उत्सुकता से कागज पर दृष्टि डाली और आश्चर्यान्वित हो गए। एक ही शब्द—'सहन-शीलता'—को १०० बार लिखा गया था। सम्राट् को चकित और अवाक् देखकर वृद्ध महामंत्री ने काँपती हुई आवाज में कहा—"महाराज! मेरे परिवार में एकता और शान्ति का रहस्य बस इसी एक शब्द में निहित है। सहनशीलता का मन्त्र ही हमारे बीच एकता का धागा अब तक पिरोये हुए है। इस महामंत्र को जितनी बार दुहराया जाय उतना ही कम है।"

भाग्यशालियो! जहाँ सहनशीलता आ जाएगी, वहाँ स्वार्थत्याग तो लाजिमी होगा। फिर गृहशान्ति में क्या कमी रह जायगी? अगर घरों मे हमारी माताएँ-बहनें इस मंत्र को जीवन मे उतार ले तो आए दिन छोटी-छोटी बातों पर होने वाला महाभारत बन्द हो जाय और परिवार मे शान्ति का झरना बहने लगे।

ग्राम और नगर की शान्ति के लिए विशेष तौर तर प्रत्येक ग्रामजन व नागरिक को ग्रामधर्म और नगरधर्म का पालन करना आवश्यक है। तभी ग्राम और नगर में शान्ति स्थापित हो सकेगी। जब भी गाँव या नगर पर आफत आये उस प्रत्येक व्यक्ति को उस आफत को मिटाने के लिए एकमन से जुट पड़ना चाहिये। गाँव और नगर में कोई भी फूट, कलह या वैमनस्य की अप्रिय घटना होने लगे, तब तुरन्त ही उसे मिटा कर परस्पर शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न होना चाहिये।

संघशान्ति या धर्म-सम्प्रदाय-शान्ति के लिए विभिन्न धर्मसंघों या सम्प्रदायो में परस्पर सौहार्द, समन्वय और सौजन्य की भावना होनी चाहिए। सर्वमान्य कार्यक्रम सभी धर्मसम्प्रदाय के लोगों को एक होकर मिलजुल कर सम्पन्न करने चाहिए। साम्प्रदायिक विद्वेष, तनातनी, मारपीट, कलह एवं वैमनस्य को कतई बढ़ावा नहीं देना चाहिए। तभी संघशान्ति होगी।

इसी प्रकार एक धर्मसंघ के अंदर फिरकेबाजी, वैमनस्य, कलह और फूट नही होनी चाहिए। अन्यथा संघ में अशान्ति फैलेगी और व्यक्ति की शान्ति पर भी उसके छींटे उछलेगे। संघशान्ति के लिग यह भी आवश्यक है कि संघ पर कोई भी आफत आए तो उसका निवारण करके शान्ति स्थापित की जाय।

भद्रबाहुस्वामी ने संघ में शास्त्रीयज्ञान लुप्त होने के समाचार सुन कर ज्ञान की उन्नति के लिए प्रयत्नशील चतुर्विध संघ का आमंत्रण पा कर अपनी योगसाधना छोड़कर पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान किया और वहाँ संघ की उन्नति के लिए विशिष्ट पुरुषार्थ में योग दिया। संघशान्ति के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य को संघधर्म का पालन करना आवश्यक है।

राष्ट्रशान्ति के लिए राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रधर्म का पालन करना चाहिए। राष्ट्र के प्रति पूरी वफादारी रख कर, राष्ट्रीय उन्नति के कामों में सहयोग देना चाहिए। जब भी राष्ट्र पर आफत आए तब सब मतभेदों को भुला कर उस आफत का पूरी ताकत से सामना करना चाहिए। राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों को न तो बढ़ावा देना चाहिये और न स्वयं राष्ट्रहित के विरुद्ध कोई कार्य करना चाहिए। राष्ट्र में फूट डालना, राष्ट्र को गुलाम बनाने की मुरादवालों को प्रोत्साहन देना, दंगे, हड़ताल, तोड़फोड़ आदि करना राष्ट्र के प्रति गद्दारी है, राष्ट्र में अशान्ति को न्यौता देना है। अतः इन गलत कार्यों को करना राष्ट्रशान्ति में विघ्न डालना है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवालों के प्रति द्वेष, शत्रुता या वैर-विरोध रखें, उनकी उन्नति देख कर जलें; अपितु दूसरे राष्ट्रों के प्रति स्नेह-सौजन्य व सहयोग की भावना रखनी है।

अन्तर्गत विभिन्न ग्राम-नगरप्रान्त आदि विभागों में शान्ति हो, राष्ट्रों की शान्तिसंस्थाओं या उनके शांतिदूतों में शान्ति हो, नगरनेताओं या राष्ट्रनेताओं में शान्ति हो, नगर (ग्राम) वासियों में शांति हो, ब्रह्म (विश्व के समस्त चेतन) लोक में शान्ति हो।"

ये है विश्वशान्ति की भावना के लिए मन्त्र। आत्मशान्ति के इच्छुक साधक को विश्वशान्ति की भावना किये बिना कोई चारा नहीं।

इन मंत्रों का हृदय से, श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना ही जाप कहलाता है। मंत्रजप में अपूर्व शक्ति होती है। इससे सामूहिक संकल्प-बल तैयार होता है और वह बड़ी से बडी अशान्ति को शीघ्र मिटा देता है। विश्वशान्ति का वायुमण्डल तैयार करने में इन शान्तिमंत्रों का जप आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि त्याग के बिना कभी शान्ति नहीं हो सकती। इच्छाओं के त्याग का ही नाम तप है। इसलिए जप के साथ तप भी जरूरी है। इस प्रकार के शान्तिमंत्र के जप के साथ आयंबिल, एकाशन या उपवास आदि तप सामूहिक रूप से होने पर शीघ्र असर होता है। विष्णुकुमार मुनि ने तपस्या के साथ शान्तिमंत्र की जप-साधना की; जिसके फलस्वरूप श्रमणसंघ पर आई हुई भयंकर विपत्ति—अशान्ति दूर हुई। इसी प्रकार के विश्वशान्ति के हेतु कई और भी जप-तप के प्रयोग समय-समय पर आचार्यों द्वारा हुए हैं। हमें भी विश्वशान्ति के लिए जपतप के इस प्रकार के प्रयोग करने चाहिए।

इसके बाद एक सवाल और खड़ा होता है कि सारे संसार मे आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक; दूसरे शब्दों मे स्वकृत, परप्राणीकृत और प्रकृतिकृत—ये तीन प्रकार के दुःख या अशान्तिकारक ताप हैं। इनको दूर करने या शान्त करने का उपाय क्या है; भारतीय मनीषियों ने इसके लिए भी शान्तिमंत्र बताया है। वैदिक धर्म की प्रार्थना में आता है—

"ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः, सा मां शान्तिरेधि।"

"ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः"

अर्थात्—आकाश (द्यु) लोक शान्तिदायक हो, ज्योतिषलोक शान्तिमय हो, पृथिवी शान्तिमयी हो, जल शान्तिप्रद हो, औषधियाँ (अन्न आदि खाद्य वस्तुएँ) शान्तिकारिणी हों, वनस्पतियाँ (फल, मूल, फूल, शाक-भाजी आदि) शान्तिदायिनी हो, समस्त देव शान्तिदायक हों, समस्त ब्रह्म (चेतनाशील प्राणी) शान्तिदाता हो, सृष्टि का कणकण शान्तिमय हो, सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो और वह शान्ति मुझ में भी बढे। सारे जगत् की त्रिविध ताप से शान्ति हो! शान्ति हो!! शान्ति हो!!!"

यह है भारतीय महापुरुषों का सारी सृष्टि की शान्ति के लिए शान्ति-पाठ ! सृष्टि की शान्ति की कितनी उच्चभावना है ! इसके अलावा संक्षेप में भी विश्वशान्ति की भावना व्यक्त की गई है—

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वो भवतु सुखी लोकः ॥

"सारा संसार निरुपद्रव हो, कल्याणमय हो, समस्त प्राणी दूसरों के हित में रत रहें। उनमें जो भी दोष हों, वे नष्ट हो जाँय और सारा संसार सुखी हो।"

विश्वशान्ति का सक्रिय प्रयोग :

अशान्त विश्व की शान्ति के लिए पूर्वोक्त दो उपायों के बाद तीसरा उपाय है—सक्रिय प्रयोग। अर्थात् विश्वशान्ति के लिए ऐसे ठोस प्रयोग भी साथ-साथ होते रहने चाहिए। इसके लिए मेरे निम्नलिखित सुझाव हैं—

(१) संसार के सभी छोटे-बड़े राष्ट्र संयुक्तराष्ट्रसंघ के सदस्य बनें और उसकी नीतियों पर चलें।

(२) राजनैतिक पंचशील का सभी राष्ट्र भलीभाँति पालन करें।

(३) संसार के समस्त शान्तिपरायण राष्ट्रों और संस्थाओं तथा शान्ति के लिए सक्रिय कार्य करने वाले विशिष्ट व्यक्तियों का अनुबन्ध हो।

(४) शीतयुद्ध और महायुद्ध होने से रोके जाँय, राष्ट्रों के आपसी विवाद समझा-बुझा कर न्यायी मध्यस्थों द्वारा हल किये जाँय।

(५) अणुअस्त्रों पर प्रतिबन्ध के बारे में सभी राष्ट्रों को सहमत किया जाय और इस शर्त का पालन सबके लिए अनिवार्य कर दिया जाय।

(६) सैनिक गुटबन्दियों के संगठनों को तोड़ दिया जाय। कोई भी शान्तिवादी राष्ट्र उनका सदस्य न बने।

(७) प्रत्येक राष्ट्र व उस राष्ट्र का नागरिक विश्वशान्ति के कार्यों में सहयोग दे।

(८) युद्धों को मिटाकर विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए अपने हृदय को उदार और समन्वयशील बनाएँ।

मेरे ख्याल से ये आठ सूत्र ही विश्वशान्ति के सक्रिय प्रयोग के लिए काफी होंगे।

इनके अलावा समय-समय पर विश्वशान्ति-परिषदों व विश्वशान्ति-सम्मेलनों का आयोजन किया जाय और प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा का लोकमत इस दिशा में तैयार किया जाय। □□

मिलकर करना चाहिए। सहकर्म, सहपुरुपार्थ और सहवीर्य होना चाहिए। जिस परिस्थिति का निर्माण करना हो, सब मिलकर करेंगे। परिस्थिति सबके लिए है, इसलिए उसमें स्थूल कर्म होना चाहिए, स्थूल पुरुषार्थ होना चाहिए। क्लेश और कष्ट सामुदायिक हैं, संकट सामुदायिक हैं, इसलिए पुरुषार्थ भी सामुदायिक होना चाहिए। इसके समझने में कोई दिक्कत नहीं है। जैसे बाढ़ आती है, भूकम्प आता है, शहर में आग लग जाती है—इन सामुदायिक संकटों से बचने के लिए पुरुषार्थ भी सामुदायिक ही चाहिए।

सामुदायिक पुरुपार्थ हो और रेजिमेंटेशन न हो, इसलिए वह पुरुपार्थ सर्वसम्मत होना चाहिए। नहीं तो जो कम है, उन्हे उनकी बात माननी पडेगी, जोकि ज्यादा हैं। इसलिए यह जरूरी है कि सामुदायिक पुरुषार्थ सर्वसम्मति से हो। अल्पसंख्या पर बहुसंख्या की सत्ता न हो। बहुसंख्य अल्पसंख्य को समझायें। समझाने के लिए पहले क्या करें? बहुसंख्य अल्पसंख्य को समझे। जिस व्यवस्था में समझना और समझाना अधिक-से-अधिक होता है, वही 'लोकतन्त्र' कहलाती है।



अहिंसक : अहिंसा

अहिंसा की शक्ति अमाप है, वैसी ही अहिंसक की है। अहिंसक स्वयं कुछ नही करता, उसका प्रेरक ईश्वर होता है।

—महात्मा गांधी

जो अहिंसक है और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, वही ब्रह्मा के आसन पर बैठने का अधिकारी होता है।

इन्द्रियो के निग्रह से, राग-द्वेष की विजय करने से और प्राणी-मात्र के प्रति अहिंसक रहने से साधक अमरत्व प्राप्त करता है।

—मनुस्मृति

अनेको को जो एक रखती है, भेदो मे से अभेद ढूंढ़ती है, वही अहिंसा है।

—विनोबा भावे



अहिंसा जीवन के भीतर : अहिंसा जीवन के बाहर

☐ डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया

जन्म-मरण प्राणि-चर्या के अनिवार्य परिणाम हैं। प्राणी शुभ-अशुभ जैसे कार्य करता है, तदनुसार उसे अपने कर्म-फल भोगने पड़ते हैं। शुभ-कर्म सुखदायी परिणाम देते हैं और अशुभ कर्म का परिणाम होता है सर्वथा दुःखद। अशुभ कर्मों के मूल में पाँच प्रमुख दुष्प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं—हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। संसार की तमाम दुष्प्रवृत्तियाँ इन्हीं में अन्तर्भुक्त हो जाती है। यहाँ हिंसा-अहिंसा पर संक्षेप में चर्चा करना हमारा मूल अभिप्रेत है।

हिंसा एक दुष्प्रवृत्ति है। भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इसका पोषण करती है। इन सभी दुष्प्रवृत्तियों के विनाश करने के लिए प्राणी को संयम और तप का आचरण करना पड़ता है। जीवन-चर्या से जैसे-जैसे हिंसा नामक दुष्प्रवृत्ति का समापन होता जाता है, वैसे-वैसे जीवन में अहिंसा-स्वभाव का जागरण होने लगता है। इसके यह अर्थ कभी नहीं है कि हिंसा के अभाव में अहिंसा का जन्म होता है। वास्तविकता यह है कि अहिंसा आत्मिक स्वभाव है और आत्मा के साथ वह सर्वदा विद्यमान रहता है। अहिंसा के जागरण पर हिंसा का उन्मूलन होता है।

कषाय आत्म-प्रदेश पर आच्छन्न होते हैं, लेश्याएँ उन्हें पुष्ट करती हैं। जैसे सूर्य पर धूल कण आच्छन्न हो जाते है और उसके प्रकाश को ढक लेते है। काषायिक परतें आत्म स्वभाव को ढक लेती हैं। काषायिक धूल धुलते ही आत्म-स्वभाव का आलोक फैलने लगता है।

कर्म की कर्म-शाला बड़ी विचित्र है। वह जीवन के बाहर और जीवन के भीतर निरन्तर सक्रिय रहती है। जीवन के बाहर वह शरीर के द्वारा सम्पन्न होती है और वह पर को और पर-परिवार को प्रभावित करती है जबकि जीवन के भीतर वह भावात्मक रूप में सक्रिय रहती है और प्रायः स्वयं को प्रभावित करती है। भाव हिंसा द्रव्य हिंसा को भी प्रभावित करती है। इसीलिए वह अपेक्षाकृत अधिक भयंकर तथा दूरगामी परिणाम रखती है। कर्म की तात्त्विक मीमांसा जैन-दर्शन मे बड़ी बारीकी तथा विशद रूप में की गई है।

प्राणी का जन्म-मरण-परक खेल कर्म-परिणाम पर निर्भर करता है। कर्म पुराने और नए सभी प्रकार के जब कटें तब उसका निष्कर्म होना होता है।

निष्कर्म होने पर प्राणी का जन्म आखिरी होता है, और होता है उसका आखिरी मरण। शास्त्रीय शैली मे इसी को प्राणी का मुक्त होना कहा गया है।

जीवन के बाहर हिसा क्रिया प्रधान है। हिसा जब क्रिया प्रधान होती है तब वह सकल्पी, आरम्भी, उद्योगी तथा विरोधी रूप धारण करती है। किसी प्राणी को जान-बूझ कर आघात पहुँचाना वस्तुतः संकल्पी हिसा कहलाती है। मनोरंजन, आखेट आदि क्रियाएँ भी संकल्प पूर्वक सम्पन्न होती है। अत ऐसी क्रियाएँ संकल्पी हिसा को जन्म देती है। भोजन बनाते, घर-बाहर की सफाई करते, वस्त्र आदि धोते तथा इसी प्रकार की सभी क्रियाएँ करते समय जो हिसा होती है, उसे आरम्भी हिसा कहा जाता है। जीवन-पोषण हेतु, सामाजिक तथा राष्ट्रीय दायित्व निर्वाह हेतु, कृषि-व्यापार आदि उद्योग करने-कराने मे जो हिसा होती है, उसे उद्योगी हिसा कहा जाता है। परकीय अथवा स्वकीय आक्रान्ताओ, शील तथा धर्म-विरोधियो तथा समाज विरोधी तत्त्वों से रक्षा करते समय जो हिसा होती है, वही वस्तुतः विरोधी हिसा है।

इस प्रकार यह सहज मे कहा जा सकता है कि घर के भीतर और बाहर प्राणी वैयक्तिक तथा समाजगत कोई काम करता है तो उसमें होने वाली हिसा वस्तुतः अधिक भयकर नही हैं। संत अथवा सन्यासी इस प्रकार की आवश्यक हिसा को भी नही करते, पर गृहस्थ-जीवन चर्या इसके बिना सम्पन्न नहीं हो सकती। फिर प्रश्न उठता है हिसा से बचने के लिए हमें निश्चेष्ट रहना चाहिए? निश्चेष्ट रहना भी एक प्रकार की हिसा है। जैन धर्म और दर्शन के अनुसार हमे किसी भी कर्म को करते समय प्रमादी अथवा मूर्च्छित नहीं होना चाहिए। प्रमादी अथवा मूर्च्छित अवस्था मे प्राणी प्राय कृत, कारित तथा अनु-मोदन परक हिसा करता है जो सर्वथा सदोष है।

प्रमाद मे मन की कलुषता, अज्ञानता तथा असावधानप्रियता प्रायः सक्रिय हो जाती है। जीवन-चर्या मे यदि प्रमाद है तो वहां कषाय अवश्य है। कषायजन्य प्रवृत्तियाँ प्रायः हिसा को जन्म देती है। इतना ही नही, ये उसे पोषती और पल्लवित भी करती है। कषाय कुल से आत्मा की निर्मलता और पवित्रता प्रायः प्रच्छन्न हो जाती है।

प्राणी के भाव-जगत् मे कषायजन्य द्वेष और द्वन्द्व जब उदय होते है तब मनोविकारो में उत्तेजना उत्पन्न होती है, इसी से भाव हिसा का जन्म होता है। दूसरे का घात करने का भाव, उस भाव को सम्पन्न करने की योजना तैयार करने तक का व्यापार भाव हिसा मे आता है और जब यह योजना कार्यान्वित होती है तभी द्रव्य हिसा अपना रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार द्रव्य-हिसा से भाव हिसा अधिक बलवती है। भाव हिसा दियासलाई की तीली की भाँति है जो जलकर स्वय को भस्म करती है और जब वह दूसरो को जलाने मे सक्रिय हो जाती है तब वस्तुत. द्रव्य हिसा का रूप धारण कर लेती है।

हिंसा अपना प्रभाव जीवन के भीतर और जीवन के बाहर तक डालती है। जीवन के भीतर भाव हिंसा और जीवन के बाहर द्रव्य हिंसा का सम्यक् परिपाक होता है। जीवन-चर्या को भाव और द्रव्य हिंसा किस प्रकार दूषित और दुःखद बनाती है, यह कहने की आवश्यकता नही है। सांसारिक जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अहिंसक जीवन-चर्या सदा बाहर और भीतर सुख-शान्ति और सौहार्द का वातावरण उत्पन्न करती है।

हिंसा के परिपाक पर किंचित् विचार कीजिए। जीवन में यदि भाव हिंसा का उदय है किन्तु द्रव्य हिंसा चरितार्थ नही हो पाती, तो भी जीवन-चर्या हिंसक कहलाएगी। ऐसी हिंसा जीवन में प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान तथा अनन्तानुबन्धी कर्म का बंध बांधती है जिसे बिना भोगे क्षय करना प्रायः सम्भव नही होता। यदि द्रव्य हिंसा हो किन्तु भाव हिंसा न हो तो इस प्रकार की हिंसा का परिणाम इतना भयंकर नही होता। डॉक्टर द्वारा आपरेशन, अध्यापक द्वारा प्रताड़ना तथा संकल्पी हिंसा को छोडकर शेष सभी प्रकार की द्रव्य हिंसा प्रायः इसी कोटि में सम्मिलित की जा सकती है। इस प्रकार की हिंसा वस्तुतः संज्वल कोटि का कर्म बंध बांधती है, जिसको क्षय करना कठिन नही है। मूल बात तो तब उत्पन्न होती है, जब भाव-हिंसा भी हो और द्रव्य-हिंसा भी हो। ऐसी हिंसा प्रायः अनन्तानुबंधी कर्म का बंध बाँधती है। ऐसे विकट कर्मबंध अनेक जन्मों तक क्षय नहीं हो पाते और जीव घोर दुःखों को भोगता रहता है। नारकिक जीवन यातनाएँ भोग-भोग कर प्राणी निकृष्ट दशा में जीवन जीता है। ऐसी दशा मे जीव स्व और पर दोनो का ही विनाश और पतन प्राप्त करता है।

इसके अतिरिक्त एक अवस्था यह भी हो सकती है जब जीवन में न तो भाव हिंसा हो और नाहीं द्रव्य हिंसा हो। इस पुनीत एवं विशुद्ध जीवन-चर्या को कोई महानात्मा, संत-शिरोमणि ही जीता है। सार-संक्षेप में कहा जा सकता है कि भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा के योग से हिंसा का पूर्ण परिपाक भयंकर परिणाम पैदा करता है।

हिंसक जीवन-चर्या का परिणाम सदा दुःखद होता है अतः सुखद जीवन-चर्या के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अहिंसा भाव को जागृत किया जाय। अहिंसा का मेरुदण्ड है—समता। ससार की सभी आत्माओं के प्रति समत्वदृष्टि रखना वस्तुतः समता है। जब प्राणी अपनी आत्मा के समान अन्य प्राणियों की आत्माओ को अनुभव करने लगता है तो वह हिंसा जैसे निकृष्टतम कृत्य को नही कर सकता। ऐसे मनोभाव के उत्पन्न होने पर जीवन से सन्देह, अविश्वास, विरोध, क्रूरता का सर्वथा परिहार हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज के कटु सम्बन्धों का पूर्णतः प्रक्षालन तथा परिष्कार हो जाता है। वर्ग-भेद, जाति-भेद, प्रान्त-भेद की संकीर्ण तथा क्षुद्र विचारधाराएँ विसर्जित हो जाती है,

फलस्वरूप समुदाय और समाज में मानवीय मूल्यों की पूजा प्रारम्भ होने लगती है। अहिंसा प्राणी मात्र को पूर्ण विकास की प्रेरणा देती है।

आज के व्याप्त सामाजिक प्रदूषण में हिंसा की नही, पूर्णत: अहिंसा की आवश्यकता है ताकि जन-जीवन मे पारस्परिक प्रेम, सौहार्द और सहानुभूति को भव्य भावना उत्पन्न हो और एक आदर्श जीवन जीने के लिए एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न किया जा सके। तव प्राणी स्व और पर कल्याण की भव्य भावना का नित्य चिन्तवन करेगा—

सुखी रहें सव जीव जगत के, कोई कभी न घवरावे।
वैर-पाप अभिमान छोड़ जग, नित्य नए मंगल गावे॥

— निदेशक, जैन शोध अकादमी
३६४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़-२०२००१

शाही फरमान

☐ श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन

सन् १८५७ ई. में दिल्ली मात्र चार माह स्वतंत्र रही पर इस अल्पकालीन स्वतंत्रता में, क्रान्तिकारियो का नेतृत्व करने वाले, अंतिम मुगल-सम्राट् वहादुर शाह जफर ने गो-वध पर प्रतिवंध लगाकर जो काम अंजाम दिया उसके लिए वह इतिहास में सदैव अमर रहेगा।

उसने २८ जुलाई, १८५७ को गो-वध पर प्रतिवध लगा कर जो शाही फरमान जारी किया, वह इस प्रकार था—

"खलक खुदा की, मुल्क वादशाह का, हुक्म फौज के वडे सरदार का। जो कोई इस मौसम वकरीद में या उसके आगे-पीछे गाय या वैल या वछड़ा या वछड़ी लुकाकर या छिपाकर अपने घर में जिवह और कुरवानी करेगा वह आदमी हुजूर जहाँपनाह का दुश्मन समझा जावेगा और उसको सजा-ए-मौत दी जावेगी। और इतिहास साक्षी है कि १ अगस्त, १८५७ को दिल्ली मे सम्पन्न वकरीद पर एक भी गौ की हत्या नही हुई—हिंदू-मुसलमान भाईचारे के साथ एक दूसरे से गले मिल रहे थे—उस दिन सभी ने फिरंगियों के खिलाफ साम्प्रदायिक एकता को मजवूत करने का संकल्प लिया था।

—एडवोकेट, भवानी मंडी

अहिंसा-वृक्ष की जड़ को सींचें



☐ श्री मोफतराज मुणोत

देश-विदेश के सभी धर्मों में अहिंसा को परम धर्म बताया गया है। जैन धर्म में अहिंसा की अति सूक्ष्म और गहरी व्याख्या की गई है। किसी को मारना ही हिंसा नहीं है बल्कि किसी के प्रति मन में बुरे विचार लाना, कठोर, कर्कश-वाणी का प्रयोग करना भी हिंसा है। भगवान महावीर ने अहिंसा के साथ तप व संयम को जोड़ कर उसे व्यवहार मे लाने पर बल दिया। महावीर स्वयं अहिंसा के पथ पर चले और दूसरों को चलने की प्रेरणा दी।

भगवान महावीर को हुए आज २५०० वर्ष से अधिक समय हो गया है, पर देखने में आता है कि जीवन और समाज में अहिंसा का पालन जिस अनुपात में होना चाहिये, नही हो पा रहा है। इसका एक प्रमुख कारण मेरी समझ में यह है कि हमने अहिंसा को "किसी जीव को न मारना" तक ही सीमित कर दिया है। हमारे अधिकांश भाई-बहिन सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी न मरें, इस दृष्टि से पानी छानकर पीते हैं, पाँच तिथियों पर हरी सब्जी नही खाते है, जमीकन्द की सौगन्ध रखते है, रात्रि भोजन नहीं करते है, सावधानी पूर्वक चलते है, ताकि कही कीड़ी-मकोड़े नही मर जावे। यह सब जीवों को न मारने की दृष्टि से बहुत अच्छा है पर मात्र इसी से अहिंसा धर्म का पूर्ण पालन नही हो जाता है। यह तो अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष है।

अहिंसा की पूर्ण परि-पालना के लिये यह आवश्यक है कि हम अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को जीवन में अपनाये। अहिसा का सकारात्मक पक्ष है—सबके प्रति प्रेम, दुःखियों की सेवा, जरूरतमंदों की सहायता, प्राणी मात्र के प्रति शुभ संकल्प। सच तो यह है कि अहिसा का मूल प्रेम, करुणा, दया, सहयोग और सेवा है। इसके अभाव में की गई सभी क्रियाएँ यांत्रिक बनकर रह जाती है, रूढ़ि में बदल जाती है। आज अधिकाशतया हमारे समाज में ऐसा ही हो रहा है।

अहिंसा की परिपालना के लिये यह आवश्यक है कि हमारे मन में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय न हों। जब तक मन मे विकार है, हम चाहे पानी छानकर पीवें, चाहे रात्रि भोजन न करे, चाहे हरी सब्जी न खाये, चाहे पैसा देकर गायों और बकरों को छुडवा दे, इतने मात्र से ही हम आन्तरिक रूप से अहिंसा का पालन नहीं कर पायगे। अहिसा का मूल करुणा है। करुणा ही हमारा स्वभाव है। जब हमारे दिल में करुणा और प्रेम होगा तो हम स्वत. किसी का नुकसान न करेंगे। अनावश्यक हिसा इससे अपने आप छूट जावेगी। हम स्वयं न रात्रि भोज करेंगे, न जल का अनावश्यक दुरुपयोग करेंगे, न पेड़-पौधों को सतायेंगे।

की दुर्गति की कहानी आरम्भ होती हैं। यही से असंयम, हिंसा आदि पाशविक प्रवृत्तियों का सिलसिला शुरू होता है।

योग और अहिंसा—दोनों ही मनुष्य को न केवल मनुष्य बने रहने के लिए प्रेरित करते हैं अपितु ये उसे दिव्यत्व की ओर भी ले जाते हैं। मनुष्य का यही तो गंतव्य है, यही तो उसकी मंजिल है। योग और अहिंसा एक दूसरे के पूरक हैं। बिना योग के अहिंसा कैसी, और बिना अहिंसा के योग कैसा ? योग यदि चित्तवृत्तियों का निरोध है तो अहिंसा उस निरोध का परिणाम। संसार के प्रायः सभी धर्मों में योग और अहिंसा की बात कही गई है। कोई भी धर्म, असंयम, हिंसा, असत्य आदि अमानवीय प्रवृत्तियो की वकालत नही करता। योग मनुष्य की इतस्ततः विकीर्ण शक्तियों को केन्द्रीभूत कर आत्म-ज्ञान और आत्म विकास का पथ प्रशस्त करता है, अहिंसा मनुष्य को उसके मूल 'धर्म' 'प्राणिमात्र के प्रति 'प्रेम' के प्रति सजग बनाती है। योग खण्ड-खण्ड की 'खण्डता' को अखण्डता में बदल देता है, अहिंसा किसी को खण्डित होने ही नहीं देती।

यह एक सारभौगिक सत्य है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रमुख रूप से पाई जाती है। कोई भी प्राणी कष्ट पाना नही चाहता, मरना नहीं चाहता। भगवान महावीर ने कहा है—

'सव्वे जीवावि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।'

प्राणिमात्र को इस इच्छा का हनन ही हिंसा है। मनुष्य में हिंसा की प्रवृत्ति का कारण उसका अज्ञान है। 'स्व' को न समझ पाने की उसकी असमर्थता। योग की प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य इस 'स्व' को समझ सकता है। जब वह 'स्व' को समझ लेगा तो हिंसा मे क्यों प्रवृत्त होगा ? चित्त वृत्तियों के निरोध से 'आत्म-ज्ञान' स्वतः हो जायेगा "तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्" (पातजलि)। योग के सतत अभ्यास से मनुष्य मे 'विवेक' जागृत होता है क्योंकि इसी अभ्यास तथा वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध संभव है: "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध." (योगसूत्र) जब इस प्रक्रिया के माध्यम से मनुष्य अहिंसा मे प्रतिष्ठित हो जायेगा तो वह किसी से वैर क्यों करेगा ? (अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः)। (योग सूत्र)

योग का लक्ष्य मनुष्य को आत्म-विकास के रास्ते पर ले जाना है। 'यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि' के रास्तो से गुजर कर मनुष्य पूर्णत्व की ओर पहुँचता है। अहिंसा यद्यपि इस प्रक्रिया में एक 'यम' के रूप में ही बताई गई है, पर गम्भीरता से विचार करने पर पता चलेगा कि 'अहिंसा' मे योग की समग्र प्रक्रिया सन्निहित है। अहिंसा को 'हाथी के पांव' की संज्ञा दी गई है क्योंकि अहिंसा के सिद्ध हो जाने पर मनुष्य, सत्यशील, संयमी, अपरिग्रही, पवित्र, संतोषी, तपस्वी और ईश्वरोन्मुख बन जाता है। अहिंसा के

सभी शास्त्रीय नामों—'निव्वाण, समाही', 'सत्ती' 'कित्ती'—में 'आत्म-विकास' की भावना ही ध्वनित होती हैं। आचार्य नानेश, अहिंसा को आत्म शक्ति को प्राप्त करने की पहली सीढ़ी मानते है: "अहिंसा आत्म शक्ति को प्राप्त करने की वह पहली सीढ़ी है जिस पर पॉव रखकर ही ऊपर की ओर बढ़ा जा सकता है। अहिंसा की आराधना से शक्ति का संयम करती हुई आत्मा ऊर्ध्वगामी वन सकती है। यह कहा जा सकता है कि आत्म-शक्ति का मूल अहिंसा में ही है और जिसने मूल को पकड़ लिया, मूल को पुष्ट और दृढ़ बना दिया, उसे कौन हिला सकता है।"

हिंसा का जन्म होता है मनुष्य में अहं के कारण। स्वयं के प्रति लगाव के कारण। जब मनुष्य सभी को अपना जैसे मानने लगे तो वह हिंसा करेगा ही–क्यों? क्या कोई अपने को या अपनों को कष्ट पहुँचाना चाहेगा, उन्हें मारना चाहेगा? भगवान महावीर कहते हैं: "प्रत्येक प्राणी अपने वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दु:ख के प्रतिकार के लिए जीवों की हिंसा करता है, करवाता है या अनुमोदन करता है।" मनुष्य इसी प्रवृत्ति के कारण परिग्रह, स्तेय, असत्याचरण में लिप्त होता है। जब मनुष्य में आत्म-ज्ञान का उदय हो जाता है तो उसमें 'समता' का भाव जगता है। समता—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा व आस्था की ओर ले जाती है। विषमता बाहर हो या अन्दर-संताप को जन्म देती है। 'समता' की दृष्टि मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है। मनुष्य की वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान 'समता-दृष्टि' में खोजा जा सकता है। यह दृष्टि अहिंसा के 'मनसा वाचा कर्मणा' आचरण से प्राप्त होती है। समता की दृष्टि से मनुष्य में करुणा, मुदिता, क्षमा जैसी मानवीय प्रवृत्तियों का विकास होता है। यहाँ पर योग और अहिंसा और भी निकट आ जाते हैं क्योंकि, योग 'समत्वं' ही तो है। समता का अर्थ है सबको अपने जैसा मानना। 'समणसुत्तं' की गाथा २४ के अनुसार—

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ॥

—जो तुम अपने लिए चाहते, हो वही दूसरों के लिए भी चाहो तथा जो तुम अपने लिये नहीं चाहते, वह दूसरों के लिए भी न चाहो। समता-दृष्टि का यही मूल मन्त्र है। जब मनुष्य में असद्वृत्तियों का दमन होने लगता है तो उसमें स्वत: ही अहिंसा उदित हो जाती है इसके फलस्वरूप व्यक्ति में समत्व योग की भावना स्फूर्त हो जाती है जिससे व्यक्ति सहज रूप से सभी को अपना समझने लगता हैं:

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थए ॥
(उत्तर ०१/१५)

अहिंसा में प्रवृत्त व्यक्ति सच्चे अर्थ में पण्डित बन जाता है, "पण्डितः समदर्शिनः" । (गीता)

अहिंसा का क्षेत्र मात्र 'किसी को न मारने' तक ही सीमित नहीं है। हिंसा, कामिक, वाचिक मानसिक हो सकती है। इस प्रकार की हिंसा को रोकने का नाम ही अहिंसा है। व्यापक अर्थ में प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अहिंसा, विश्व-प्रेम, सहिष्णुता, करुणा, सहानुभूति आदि मानवीय उदात्तगुणों का ही दूसरा नाम है। अहिंसा मे अपरिग्रह, अनेकांत एवं सत्यशीलता अपनेआप आ जाते है। अहिंसा 'मानव-धर्म' है, मनुष्य का आभ्यन्तर तत्त्व है, उसका 'स्वभाव' है। जब कभी मनुष्य अपने इस 'धर्म' से च्युत होने लगता है तो वह मानव नही रह जाता। कहा गया है कि :

अहिसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं किंचन ।
यश्चपालयते नित्यं, समाप्नो त्यात्मदर्शनं ॥

—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, व अपरिग्रह को जो सर्व रूप से संयमित हो पालन करता है, वह आत्म-दर्शन को प्राप्त करता है।

आज हम सर्वत्र विषमताओं के बीहड़ जंगल में भटक रहे है। हिंसा इसीलिए पनप रही है। विषमताओं से क्या कोई सुख मिल सकता है ?

अज्ञान कर्दमे मग्नः, जीवः संसार-सागरे ।
वैषम्येण समग्युक्तः, प्राप्तुमर्हति नो सुखं ॥

—ससार-सागर के अज्ञान-रूपी कीचड़ में लिप्त, विषमता से युक्त जीव कभी भी सुख को प्राप्त नही कर सकता।

इस स्थिति का उपचार है अहिंसा के द्वारा अर्जित समता दृष्टि । 'मैत्ति 'भूयेसु कप्पए' (प्राणियो से मैत्री करो) 'आयतुले पयासु' (सबको अपने तुल्य समझो) की भावना ही मनुष्य को विनाश से बचा सकती है। यही अहिंसक दृष्टि सर्वत्र करुणा, मैत्री, प्रेम फैला सकती है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनो' का स्वप्न केवल अहिंसा ही साकार कर सकती है। आज के संसार में योगमय जीवन की परमावश्यकता है—वह जीवन जिसमें संयम हो, अहिंसा हो। यह मानते हुए कि हमारे समाज में हिंसक प्रवृत्तियो का ताण्डव नृत्य हो रहा है, हमें निराश नही होना चाहिए। योग और अहिंसा से दीप्त मानव-प्रेम का प्रदीप बुझेगा कभी नही—

इन्सान मुहब्बत का, चलन भूल गया है,
अल्लाह यह क्या हाल, जमाने का हुआ है ?
ये शमे मुहब्बत है, बुझी है न बुझेगी
माना कि बहुत तेज, जमाने की हवा है।

—७ च २, जावहर नगर, जयपुर–३०२००४

साधना युक्त जीवन ही मानव जीवन है। इस साधन के दो अंग है। एक तो अपना कल्याण अर्थात् हम किसी की हिंसा न करे और दूसरा सुन्दर समाज का निर्माण अर्थात् समाज को अहिंसा के लिए प्रेरित करना। जो मानव इसको जीवन की आवश्यकता नही मानता, वह वास्तव में मानव नही है। जो मानव दूसरे के अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता है, वह पूर्ण रूप से विकसित नही है। जब कोई हमारे प्राणों का हरण करता है तब हम अपना बचाव करते है तो हमें क्या अधिकार है कि हम दूसरों के प्राणों का हरण करे ? हिंसा का अर्थ अपने में छिपी हुई वासना की पूर्ति का प्रयास ही मानना चाहिए।

उपर्युक्त कथन से ऐसा लगता है कि अहिंसा और सेवा आपस में पर्यायवाची शब्द हैं। ऐसा हो ही नही सकता है कि मानव बिना सेवा के अहिसक जो जाय। अगर वह भाव से अहिसक हो भी गया और सेवा का रूप ग्रहण नही किया तो एक दिन वापस हिसक बनने की संभावना हो जावेगी। पूर्ण रूप से अहिंसक तभी बना जा सकेगा जब उसकी अहिंसा का क्रियात्मक रूप सेवा मे प्रकट होगा।

—कार्याध्यक्ष, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, बापूबाजार, जयपुर-३

×❀×

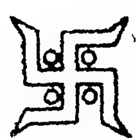
गजेन्द्र-वाणी

❀ अहिंसा की सेवा भगवान की सेवा है। जो अहिंसा की सेवा करेगा, वह समाज और विश्व की सेवा करेगा।

❀ जिसके मन में, तन में और वाणी में संयम होगा, वह व्यक्ति अहिंसा का ठीक रीति से पालन करेगा।

❀ हिंसा घटने से समस्त संसार की भलाई होगी, लोगों मे परस्पर प्रेम बढेगा, आपस मे शांति तथा सौमनस्य का प्रादुर्भाव होगा, ईर्ष्या, कलह, द्वेष और विरोध का दमन होगा तथा परवत प्रतीत होने वाले आत्मीयवत् दिखाई देंगे।

—आचार्य हस्ती



विज्ञान और अहिंसा

□ डॉ. धनराज चौधरी

मनुष्य की बुद्धि श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति विज्ञान है। आज के विश्व में कोई कुछ भी अवैज्ञानिक तौर-तरीके से समझना नहीं चाहता। उसे स्वीकार ही तब है जबकि सुझाव प्रयोग आधारित हो एवं तर्क की कसौटी पर खरा उतरा हो। विज्ञान और तकनीकी ने देखते-देखते विश्व को तेजी से बदला है। जानकारियां ब्रह्माण्ड के बारे में, पदार्थ के बारे में, जीव के बारे में, शरीर के बारे में बेशुमार बढ़ी है। वस्तुतः ज्ञान का विस्फोट हुआ है। पदार्थ एवं जीव के बारे में ज्ञान दस साल में दुगुना हो जाता है। सामान्य बुद्धि के बस का नहीं कि ज्ञान की इस बढ़त से अपने जीवनकाल में परिचित तक हो सके। बुद्धि के नित नये धरातल छूने मे उसका सघर्ष है, प्रकृति से सघर्ष, परिस्थिति से सघर्ष।

न्यूटन, डारविन, आइंस्टाइन, फ्रायड, पास्चर, जुंग आदि करोड़ों के सहयोग का आज लेखा करना सभव नही। एटम बम, टीवी, सीटी स्केन, संकर बीज अनगिनत उपलब्धियां प्राप्त हुई है मनुष्य के बौद्धिक विकास से। अब मिथ्या धारणाएं नही चल सकती, वास्तविकता ही हमारा धरातल है। शरीर को स्वस्थ-सुन्दर बनाये रखने के लिए जरूरते पूरी होनी चाहिए। उत्पादकता और हमारे क्रियाकलाप परिणाम आधारित हों। अच्छे मकान हों, अच्छी कारें हो, अच्छे चेहरे-मोहरे हों, अच्छी दवाइया हो, अच्छी सब्जी हो और अच्छे से अच्छी बारूद और तोप। अच्छे आयुध बनाने के लिए दुनिया मिलटरी पर प्रति मिनट एक करोड़ का खर्चा करती है। और दूसरी ओर है प्रकृति, जिसे अपनी संतति की सुरक्षा की निरंतर चिता है। गुपचुप वह बचाने के प्रयत्न कर भी रही है। उदाहरण के लिए, कार्बनडाईआक्साइड का स्तर वायुमण्डल में निरंतर बढ़ रहा है। यह प्राणघातक गैस है। शोध द्वारा यह पाया गया है कि जिन स्थानों मे कार्बनडाइआक्साइड की मात्रा अधिक होती है वहां की वनस्पतियों की जड़े मोटी हो जाती है। अर्थात् वायुमण्डल मे व्याप्त विषैली गैस को कम करने हेतु पेड़ व पौधे उसे अपनी जड़ो में सगृहीत कर लेते है।

अब हम मनुष्य के एक और धरातल की ओर झांकें। उस धरातल पर है विचार और अनुभव जैसी बाते जो कि पदार्थ और ऊर्जा प्रत्ययों से नितांत भिन्न स्तर है और पदार्थ विज्ञान से इनका स्पष्टीकरण प्राप्त नही होता। वैज्ञानिकता हमें तर्कसम्मत बनाती है और तर्कसंगतता से हमें विशेषज्ञ मिलते है। विषय के विशेषज्ञ होना एक बात है मगर वे ऐसे विचारवान हों कि नेतृत्व करे अलग बात है। विचारवान उसे कहेंगे जो कुछ रसमय करदे, सर्जनात्मकता आ जुड़े ढर्रे के जीवन में। यह प्रेम से संभव है और प्रेम विज्ञान का विषय नहीं

को शक्ति चाहिए थी कि वह अपना प्रभुत्व प्रकट कर सके—उसने परमाण्विक युग की इमारत खड़ी की। शक्ति-संग्रहण के पागलपन ने एक नई चुनौती पैदा कर दी कि धरती स्वयं खतरे में आ पड़ी। ऐसी नव परम्परा अपनी और प्रगति में आगे की ओर झांकते विनाश का दर्शन करती है। समझदार होती वह विकल्प के रूप में अपारम्परिक को विकसित करना चाहती है। यह अपारम्परिक है: सौर ऊर्जा, वायो ऊर्जा, पवन ऊर्जा, ज्वार ऊर्जा। शक्ति के बिना जीवन संभव नहीं मगर शक्ति प्राप्त करने के तरीके संकट बढ़ाने वाले नहीं बल्कि समता बना कर रखने वाले हों। वे मूलतः अहिंसक हों, इसीलिए कदाच औद्योगिक क्रान्ति, परमाण्विक क्रान्ति, और सौर क्रांति की बात आज विज्ञान की प्रमुख चिंतनधारा में है।

—एसोशियेट प्रोफेसर, भौतिकशास्त्र विभाग, राज. वि. वि. जयपुर



सूई की पीड़ा

डॉ. गोवर्धन शर्मा

माली के हाथों पड़कर सूई मन-ही-मन फूल उठी। एक अभूतपूर्व उत्साह में भरकर उसने शताधिक पुष्पों के हृदय विदीर्ण कर डाले। अपनी इस विजय पर गर्व में चूर होकर उसने यह भी नहीं देखा कि अन्ततः उसे कुछ भी नहीं मिला है। माली ने उसे एक ओर खोंस दिया है।

अपनी इस उपेक्षा पर दुःखी होकर सूई ने धागे को ललकारा—"दुष्ट! इन सुन्दर फूलों पर मेरा अधिकार है। मैंने इनका शिकार किया है, तू क्यों इन्हें बटोरता है?'

उत्तर दिया फूलों ने—तुम अपने विजयमद में चूर होकर छली ही रही। डोरा पहुँचा समवेदना की मृदुता और व्यवहार का लचीलापन लिए, और वह हमारे हृदय में स्थान पा गया। मारने वाले से बचाने वाला श्रेष्ठ है।

विज्ञान को अहिंसा से जोड़ें



□ डॉ दौलतसिंह कोठारी

हमारे सामने कोई भी समस्या हो, हम उसका हल निकालना चाहें तो आजकल उसमें विज्ञान और टेक्नोलॉजी की परम आवश्यकता होती है। भारत के इतिहास में पहली बार ऐसा युग आया है, जिसका आधार विज्ञान और टेक्नोलॉजी है। चाहे आर्थिक समस्या हो, खेती की कठिनाइयाँ हो या सुरक्षा का सवाल हो, सबका हल खोजने के लिए और प्रगति एवं विकास के लिए हमें विज्ञान और टेक्नोलॉजी का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन एक बात गहरी चिन्ता जगाती है। एक ओर तो मानव इतिहास में पहले कभी न तो इतना विज्ञान था, न टेक्नोलॉजी थी, दूसरी ओर मानव-मानव के बीच जितना अविश्वास, जितनी घृणा और जितनी हिंसा आज दिखाई देती है उतनी पहले कभी नहीं थी। और यह हिसा वहुत ही व्यापक है। भाई-भाई का गला काटने को तैयार है। ऐसा लगता है जैसे पूरे समाज में पूरे देश में, हिंसा के खूनी दाग लगते ही जा रहे है—हर रोज।

इसका कारण क्या है? कारण यही है विज्ञान और जनता के बीच खाई है, जो बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है। इसलिए कि विज्ञान भयकर रफ्तार से बढ रहा है, हर दस साल में उसका परिणाम पहले से दुगुना हो जाता है। इस तरह आदमी तो पिछड रहा है और विज्ञान बढ़ रहा है। आम आदमी की जिन्दगी में विज्ञान को जिस तरह से रस-बस जाना था, वह नहीं हुआ। चन्द सुविधाओं का मिल जाना विज्ञान नही है। विज्ञान का असली लाभ तो तव है, जब वह हमारी जिन्दगी में उतर जाय, उसका हिस्सा बन जाए।

यह तभी सम्भव है, जब हम विज्ञान को जनता के निकट ले जाएँ और उसे अहिसा और गाँधी के साथ जोड़कर ले जाएँ और यह प्रयास केवल राष्ट्रीय विज्ञान दिवस पर ही नहीं, हर दिन होना चाहिए निरन्तर। तभी विज्ञान और जनता के बीच की खाई कम हो सकती है। खासतौर से बच्चों को अपने देश के महान् वैज्ञानिकों के जीवन और कार्य से परिचित कराना जरूरी है। २८ फरवरी के दिन सन् १६२८ में हमारे एक महान् वैज्ञानिक डॉ. सी. वी. रामन ने अपनी महान् खोज "रामन इफेक्ट" की घोषणा की थी। और भी वहुत से महान् वैज्ञानिक हुए है इस देश में-प्रफुल्लचन्द्र राय, जगदीशचन्द्र बोस, मेघनाथ साह। इन सबके बारे में बच्चों को और आम जनता को बताना चाहिए। आजादी मिले चालीस साल हो गये अब भी नहीं वतायेंगे तो कव वतायेंगे।



आगमों में पृथ्वी-पर्यावरण-संरक्षण

□ डॉ. उदयचन्द्र जैन

हमारी सस्कृति के संरक्षक आगम ग्रन्थ है, जिनमें जीवन का समग्र चित्रण व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र को सर्वोपरि बनाकर प्रस्तुत किया गया है। प्राणी-भाव के स्थायित्व का स्वरूप इनके प्राणों में निहित है। समृद्धि, विकास, उत्थान-पतन, आचार-विचार एवं प्रकृति का समस्त सौन्दर्य इनके मूल में समाविष्ट है। इसीलिए आगम तब से अब तक संस्कृति के प्राण रक्षक बने हुए अपने इतिवृत्त को संजोय हुए है।

जहाँ इनमें समाज का सर्वांगीण सुकुमार चित्रण है, वहाँ पर्यावरण-संरक्षण के तत्त्व भी है। आगमो का चिन्तन यदि इस सन्दर्भ में किया जाय तो बढते हुए प्रदूषण को रोकने मे बहुत कुछ मदद मिल सकती है। आगमों में अंग ग्रन्थ, उपांग-ग्रन्थ, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक आदि कई आगम है। 'षट्खण्डागम', 'समयसार' आदि के अतिरिक्त इनका व्याख्या साहित्य भी पर्यावरण के संरक्षण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। आगमों के समग्र प्रस्तुतीकरण की बात छोड़े, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन पाँच तत्त्वों पर अलग-अलग विचार करे तो भी इन पर अलग-अलग रूप मे एक-एक शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। इन प्राणभूत तत्त्वों में से यहाँ एक मात्र पृथ्वी-तत्त्व को हम विविध रूप मे प्रस्तुत करते हुए पृथ्वी-संरक्षण के आधार पर समग्र वातावरण को प्रदूषण से बचाने पर विचार करेगे।

'आचारांग' आदि की मूल प्रस्तुति जहाँ आचार-विचार परक है, वहाँ पर्यावरण के संरक्षण की विस्तृत चर्चा भी जीवन्त भावना प्रदान करती है। हमारे समस्त क्रिया-कलाप यदि किसी भी तरह से प्रदूषित होते है तो उनसे न केवल व्यक्ति, समाज ही प्रदूपित होता है, न केवल देश, राष्ट्र ही, अपितु प्रदूपित होता है प्रकृति का सम्पूर्ण वातावरण, प्रकृति का समग्र भाग। उससे हमारा अस्तित्व ही खतरे मे पड़ जाएगा, हमारे मूल-बीज ही समाप्त हो जायेगे, फिर अन्य किसी के अस्तित्त्व की कल्पना सूर्य को दीपक दिखाने की तरह ही होगी।

विज्ञान की वैज्ञानिकता प्राणी विज्ञान को जितना महत्त्व देती है, उतना ही महत्त्व प्रकृति विज्ञान को भी।

'न सा जाई, न सा जोणी, जत्थ जीवो न जायइ।'

आगम का यह विचार यथार्थ है, सत्यार्थ की ओर ले जाने वाला है। यदि प्रकृति है, तो जाति है / जन्म है, जन्म है तो उसकी पर्यायें भी है और पर्यायें है तो निश्चित ही उनकी सुरक्षा भी करना होगी, उन्हें बढते हुए प्रदूषण से बचाना होगा।

पृथ्वी आदि तत्त्व की अनेक राशियाँ हैं। अनेक पर्याय है। परन्तु इन सभी के साधन इतने कम होते जा रहे है कि उनका संरक्षण तो दूर, उनकी पहचान भी संभव नहीं रह पाएगी। हम विज्ञान को आधार बिन्दु बनाते है, हम एटम, अणु शक्ति, अग्नि प्रक्षेपास्त्र आदि कितने ही साधन क्यों न बना ले, यदि इनको बनाने से पूर्व पृथ्वी आदि तत्त्वों की रक्षा पर ध्यान नही दिया गया तो हमारी यह वैज्ञानिकता हमारे को ही लील जाएगी। जब मिट्टी खिसकेगी, खनिज पदार्थो का दोहन होगा, तब क्या भूकम्प नहीं आयेगा? जल या ज्वलन-शील पदार्थो की सीमा का उल्लंघन करके जब उन्हे निकाला जाएगा, तब क्या यह सोचेंगे कि पृथ्वी है? जिस पृथ्वी पर हम निवास कर रहे हैं, वही डावा-डोल हो गयी, तब फिर बचेगा क्या?

"पुढवि-कम्म-समारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ" (आचारांग २/१३) अर्थात् पृथ्वी का आरम्भ, उसका खोदना काटना, खनिज पदार्थो का निकालना, न केवल पृथ्वी का ही सतुलन बिगाड़ता है, अपितु पृथ्वी पर आधारित जल, अग्नि, वनस्पति आदि का भी संतुलन बिगड़ता है। जो ऐसा करता है—वह

'तं से अहियाए, तं से अबोहिए'

उससे अधिक विनाशकारी कार्य कोई नही कर रहा है, उससे अधिक कोई अज्ञानता का दूसरा कारण नही है। यही नही, अपितु

एस खलु गंथे।
एस खलु मोहे।
एस खलु मारे।
एस खलु णरए।।

इससे ऐसी ग्रंथी, ऐसा असंतुलन उत्पन्न होगा, जहाँ विनाश ही विनाश होगा, जहाँ भार ही भार, ह्रास ही ह्रास होगा। पृथ्वी का काटना, खनन करना, पृथ्वी क्रिया में संलग्न होना, वैसा ही कार्य है, जैसा व्यक्ति अपना छेदन, भेदन एवं काटने पर अनुभव करता है— जैसे कोई व्यक्ति जन्मांध बहिर, लंगड़ा—लूला आदि वेदना का अनुभव करता है, वैसा ही पृथ्वो भी। 'परिण्णाय-कम्मे' यह सूक्ति प्रज्ञा पर बल देती है और विवेचन करती है कि पृथ्वी आदि का खनन उतना ही श्रेयस्कर है, जितना कि अपेक्षित है। फिर भी व्यक्ति अपनी स्वार्थ की सीमा का उल्लघन करके पृथ्वी के अस्तित्व के साथ अपने अस्तित्व पर भी कुठाराघात कर रहा है।

"पुढ वी जीवा पुढो सत्ता"

यह सूक्ति पृथ्वी के जीवन्त प्राणों का मूल्यांकन करती है। जैसे जल, वनस्पति, तृण आदि की पृथक्-पृथक् सत्ता है, उसी तरह पृथ्वी की भी सत्ता है, फिर इसके साथ खिलवाड़ करके आतंक को बुलावा क्यों दे रहे है?

प्राणी सहित, बीज रहित, हरी वनस्पति रहित, जल रहित, कीट-पतग आदि से रहित पृथ्वी की खोज करना मनुष्य का अपना प्रमुख कर्तव्य है। पृथ्वी के संरक्षण से उपर्युक्त प्राणियों का भी सरक्षण हो जाएगा।

आगमों में पृथ्वी के भेद-प्रभेद आदि की भी विस्तार से चर्चा हुई है। 'मूलाचार' में पृथ्वी के छत्तीस भेद किये गये है—

(१) मिट्टी (२) वालू (३) शर्करा (४) पत्थर (५) बड़ा पत्थर (६) समुद्री नमक (७) लोहा (८) चांदी (९) ताँवा (१०) जस्ता (११) सीमा (१२) सोना (१३) हीरा (१४) हरिताल (१५) इंगुलर (१६) मैनतिल (१७) सस्यक (१८) सुरमा (१९) मूंगा (२०) अभरक (२१) चमकती रेत (२२) पुलकवर्णमणि (२३) स्फटिकमणि (२४) पद्म-रागमणि (२५) चन्द्रकान्तमणि आदि। आगम के गणितीय विषय विवेचन में पृथिवियों की लम्वाई-चौड़ाई, गहराई विस्तार आदि का विशद वर्णन की दृष्टि से भी इनका वर्णन किया गया है।

"णाणाविह-वण्णाओ महीओ तह सिलातला उवला।" ति. प. २।१०।१४

इसके अतिरिक्त अन्य १४ भेद भी गिनाए है। प्रत्येक की मोटाई, लम्वाई आदि का भी प्रमाण दिया गया है। ये सभी पृथिवियाँ विधि रत्नो से भरी हुई है। इनमें विविध सम्पदाए है।

"एव वहुविह-रयणप्पयार-भरिदो विशाजवे जम्हा" ति. प. २।२०

इसी तरह नीचे की पृथिवियों का वर्णन ३०० गाथाओ मे किया गया है। 'आचारांग' में वज्रमयी और शुभ्रमयी पृथिवी का वर्णन है। जैसे-जैसे इन पृथिवियो का दोहन होता रहेगा, वैसे-वैसे रेगिस्तान भी फैलता जाएगा। पंजाव या हरियाणा में आज इसके प्रमाण है। अतः आज इस पृथिवी के विनाश के कारणो को रोका जाना आवश्यक है।

—पिऊ कु ज, अरविन्द नगर, उदयपुर—३१३००१



❀ मानव ! यदि तू अपने जीवन को अहिंसक बनाये रखना चाहता है तो यह ध्यान रख कि जिस व्यक्ति से तू अपना जीवन चलाने के लिए सहयोग, लाभ का काम ले, उसे कोई पीडा न हो।

—आचार्य हस्ती



पर्यावरण धर्म

□ डॉ० त्रिलोकीनाथ खुशु

क्या जड़, क्या चेतन सब प्रकृति की जीवंत व्यवस्था के ताने-बाने में बड़ा नाजुक-सा संतुलन बनाये रखने में अपनी-अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है, जैसे यह उनका धर्म हो। इस 'पर्यावरण धर्म' के छह बुनियादी सिद्धान्त है।

१. जीवनयापन प्रणालियों की पुनरुत्पादकता बनाये रखना और बढ़ाते जाना :—समस्त साधनों को सोच-समझकर काम में लाने और साथ ही उनका संरक्षण करते रहने से पर्यावरण-धर्म के इस पहले सिद्धान्त का निर्वाह हो सकता है। इसका मतलब यह है कि हमें नवीनीकरण योग्य ऊर्जा स्रोतों को पनपाना होगा और समाप्त हो जाने वाले ऊर्जा स्रोतों की रक्षा करनी होगी। कोयला, पैट्रोल जैसे चुकते जा रहे ऊर्जा स्रोतो के इस्तेमाल में हमें यह सावधानी बरतनी होगी कि वे बार-बार इस्तेमाल न हों और उनकी बरबादी न हो। सुधरे चूल्हों और अंगीठियों में कम कोयला और लकड़ी जलाकर चौगुना तक ताप पैदा किया जा सकता है।

२. सारी दुनिया ऊर्जा स्रोतों की खपत मिल बांटकर करे :—दुनिया भर के देश और देश के सभी इलाके ऊर्जा स्रोतों की छीना-झपटी करने के बजाय एक-दूसरे की जरूरतों और उपलब्ध स्रोतों के हिसाब से अपनी साझेदारी से काम चलाएँ। ऐसा हो जाये तो धनी विकसित देश अभी जो अनाप-शनाप ऊर्जा फूँक रहे है, उसमे बचत करके गरीब और ऊर्जा की दृष्टि से दरिद्र विकासरत देशों के हिस्से में अधिक ऊर्जा दे सकते है। लेकिन साथ ही विकासरत देशों को ऊर्जा का उपयोग करते समय यह ध्यान रखना होगा कि कही ज्यादा कोयला जलाकर वे अपनी हवा तो खत्म नही कर रहे ?

३. उपभोग प्रधान संस्कृति के अभिशापों के प्रति चेतना—हमें सादा जीवन और उच्च विचार की धारणा का प्रचार करके प्राणिमात्र मे यह चेतना जगानी होगी कि बिना जरूरत जोडते-भरते जाने की प्रवृत्ति की भारी कीमत हमें परोक्ष रूप से सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय स्तर पर चुकानी पड़ती है। विकसित विश्व में अतिभोगवाद से उपजी विसंगतियो से तीसरी दुनिया सबक ले सकती है।

४. तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर :—जितनी लम्बी रजाई है उतने पॉव पसारिये, इस बात को हमें जीवन मे उतारना होगा। इसके लिए जो कुछ है उसी में और भी आनन्द से गुजारा करना होगा, वह भी आपस मे मिल-बाटकर।

• अनुवादक : श्री रमेशदत्त शर्मा

५. **सबकी बुनियादी जरूरतें पूरी करना** :—रोटी, कपड़ा और मकान की बुनियादी जरूरतें पूरी करते हुए सबको गरीबी के चंगुल से छुड़ाया जाये तो फिर मुफ्त में लकडी के लिए पेड नही कटेंगे। ईंधन बटोरना-बेचना इस समय गरीबों का बड़ा धन्धा बना हुआ है। विनाश से बचते हुए विकास कर पाना तलवार की धार पे धावनौ, तो है, पर असम्भव नही।

६. **हथियारों की होड़ पर रोक** :—दुनिया के सारे दुःखों की जड है हथियारों की होड़। आगे हथियार बने नही और जो खतरनाक हथियार जमा हैं, उन्हें धीरे-धीरे नष्ट करके सभी देश हिल-मिलकर शांति और सुरक्षापूर्वक रहें और इस धरती की हवा, पानी और मिट्टी को बचाये रखने में अपना समय और साधन खपाएँ।

यह वसुन्धरा सबकी है—मनुष्यों की भी, अन्य जीव-जन्तुओं की भी और पेड़ पौधों की भी। हम अपने तुच्छ स्वार्थो से ऊपर उठे तो ही हम सबका निर्वाह करने वाली, हम सबको धारण करने वाली धरती अपनी समस्त जीवनदायिनी शक्तियों और साधनो के साथ सदा सुरक्षित रह सकेगी। वर्तमान सन्दर्भ में भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ही मानवता की रक्षा कर सकती है।

आज पर्यावरण पर जो सकट गहराया है, वह असल मे हमारे मन और आत्मा पर घिरे घने अन्धकार की छाया है। पर्यावरण-रक्षा के प्रश्न को हम टुकडों मे बाँटकर हल नही कर सकते कि लो जी तुम वन्य प्राणी बचाओ, तुम जंगल बचाओ, तुम हवा को देखो, तुम पानी को मत फैलने दो और तुम मिट्टी पलीद होने से बचाओ। इसे तो हमें समग्रता से ही सम्भालना होगा। तीसरी दुनिया से सबसे बड़ा प्रदूषक तत्त्व है दरिद्रता। विकसित विश्व मे भोगवाद और लालच धरती को लील रहा है। दुनिया के ७६ प्रतिशत लोग गरीब मुल्कों के बाशिंदे है। मगर धरती की ८० प्रतिशत सम्पदा अमीर देशों की भेट चढ़ जाती है।

धरती पर मानव के प्रादुर्भाव के बाद जितना काल बीता है उसके ११ फीसदी काल में तो हम जंगलों से कंद-मूल बटोरकर और वन्य प्राणियों का शिकार कर अपना निर्वाह करते रहे। खेती शुरू हुई आज से करीब १०-१२ हजार साल पहले और कारखानों की कहानी तो मुश्किल से दो-ढाई सौ साल पुरानी है। चन्द जीवाणुओं को छोड़ दें तो आज भी हम उन्ही पेड़-पौधों और पालतू पशुओं पर निर्भर है, जिन्हें हमारे पूर्वजों ने साध लिया था।

हल और पहिये के आविष्कार के बाद जंगलो की शामत आई। सिंचाई के लिए नहरें बनी। कुछ लोग जमीन के मालिक बन बैठे और उन्होने मजदूरी के लिए दूसरो को गुलाम बना डाला। खेत बडे हुए तो जंगल सिकुड़ते गये और पालतू जानवरों ने चरागाहो को हरियाली को चाटना शुरू किया। गनीमत थी कि बाहुबल और पशुबल ही था हमारे पुरखो के पास।

जर, जोरू और जमीन के झगड़े बढ़ते चले गये और यूनान, मिश्र, रोम, मय तथा एजटेक सभ्यतायें अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारकर काल के गर्त में विलीन हो गयी। लालच सबको निगल गया।

तीसरा दौर शुरू हुआ औद्योगिक क्रांति का, जिसे ले उड़े चक्के और धुआं उगलते इंजन। वह इंग्लैण्ड से शुरू हुई और उत्तर अमरीका में बसे अंग्रेजों में भी फैल गयी। खेती भी पसीने के बजाय कोयला और तेल पीने लगी। हरे-भरे गाँव छोड़कर लोग शहरों की चिमनियों और भट्टियों में खिचते चले गये। हाथ का स्थान मशीनों ने ले लिया और घण्टों का काम मिनटों में होने लगा। खेती के मशीनीकरण और कारखानों ने धरती के प्राकृतिक साधनों का विकट दोहन शुरू किया।

धीरे-धीरे इस विकास के पीछे छिपे विनाश के चित्र प्रकट होने लगे। हवा में कार्बन डाइआक्साइड का जहर फैलता गया, व कहीं-कही तेजाबी बरसात होने लगी। कहीं ओजोन की छतरी में छेद हो गया और सूरज की लपलपाती परा-बैंगनी किरणे धरती का पारा चढ़ाने लगीं। आगे बढ़ने की होड़ में गरीब देश अपने-अपने जंगल काटकर इमारती लकड़ी बेचने लगे और अनाज के बजाय नकदी फसल उगाने लगे। मध्य अमरीका ने अपना करीब आधा जंगल काटकर चरागाह बना दिया ताकि उस पर जानवर चरे और उनका मांस उत्तर अमरीका को बेचा जाए। आधा जंगल कट गया, ताकि वे हैम्वरगर आ सकें। आर्थिक सहायता के एवज में तीसरी दुनिया के देश अमीर देशों के कूड़ादान बनते चले गये। रेडियोधर्मी छीजत, प्रतिबन्धित दवाएँ और कीटनाशी रसायनें, गयी गुजरी तकनीकी और भौंडी संस्कृति सब चीजे उधर से इधर बढायी जाती रहीं।

इस भोवगादी औद्योगिक सभ्यता से ही उपजा है मानव का यह मिथ्या अहंकार कि वह इस धरती का स्वामी है और मन चाहे ढग से उसे नोंच-खसोट सकता है। ३ ठण्डे देश धरती के ८० प्रतिशत साधनो में आग लगाकर हाथ ताप रहे है। १३३ उष्णकटिबन्धीय देशों को कंपकंपाता छोडकर। ऊर्जा संकट के बाद ही कुछ होश आया है और अमीर देश भी समझ गये है कि धरती के वर्षा-वन नही बचे तो वे भी नहीं बचेगे।

गनीमत है कि अभी गरीब मुल्कों ने अपनी कुदरती जमा-पूंजी उतनी नही गवांयी है जितनी कि अमीर देश गंवा चुके है। अब आगे तीन सम्भावनाएँ दिख रही हैं कि औद्योगीकरण के गर्त में डूबकर महाविकास के नाम पर धरती महा-विनाश की शिकार हो जाएगी। दूसरा सकट यह है कि परमाणु बम से ध्वस्त हुई धरा पर हम फिर से जगली बन जाएं कंदमूल बटोरते और शिकार करते जंगली।

आज का मानव यही जवाब देगा—सम्भव कहाँ है ? उन्हे अपार धन, वैभव चाहिये। केवल भोजन से काम चलता है क्या ? भोजन कर पशु-पक्षी भी जीवन बिताते है। हम तो मानव है। हम केवल भोजन के लिये जीते है क्या ? हम वैज्ञानिक युग मे है—विज्ञान से जितना अधिक उत्पादन व उपभोग बढ़ा कर ऐशो-आराम से जीवन बिता सके उतना ही आधुनिक एवं विकसित कहला सकते है। इसलिये ऐसा जीवन सम्भव नही जहाँ किसी को कष्ट ही न दे। ससार की सब वस्तुएँ भोगोपभोग के लिये है, फिर उनका उपयोग क्यों नही ?

इसी भोगोपभोग दर्शन के आधार पर पाश्चात्य देशो मे अधिकाधिक उत्पादन—उपभोग की अर्थव्यवस्था बनी और अधिक से अधिक उपभोग करने के लिये विभिन्न माध्यमों से विज्ञापन कर उपभोक्ता को लालायित करने का प्रयत्न किया। परन्तु साधनो का शोषण बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे इतना तीव्र गति से हुआ कि पर्यावरण के नष्ट होने का खतरा उत्पन्न हो गया और सब तरफ पर्यावरण संरक्षण की बात खडी हो गई। सबकी अपील है कि अधिक वन न काटे, प्रकृति का दोहन कम करे, प्रदूषण कम कर और विभिन्न जीवों को नष्ट करने की प्रक्रिया समाप्त करे। आखिर यह सब क्यो ? पर्यावरण में असन्तुलन आ गया है। धरती उपग्रह का अस्तित्व खतरे मे है इसलिए अब सब तरफ सीमित दोहन की बात हो रही है। वन एवं वन्य जीवों के संरक्षण की बात हो रही है।

जंगलों मे से कई प्रकार के प्राणियो का तो अस्तित्व ही समाप्त हो गया—नाम ही बाकी रह गया। टाइगर व व्हेल मछली को बचाने के लिये विश्व स्तर पर कार्यवाही हुई है। इसी प्रकार अन्य प्राणियो को बचाने के लिये विश्व वन्य कोष (World Wild Life Fund) आदि स्थापित हुए है। एक ओर बचाने व पर्यावरण संरक्षण की बात हो रही है, दूसरी ओर आर्थिक विकास की दौड़ में पर्यावरण को नष्ट कर रहे है।

मानव यदि इस प्रकृति प्रदत्त संसार मे भ्रमर की तरह रहे और पर्यावरण को नष्ट न करे तो यह दुनिया कितनी सुन्दर नजर आये। परन्तु सूखे व नगे पहाड़, उजाड़ वन, सूखे पेड़, बंजर भूमि, सहमे-सहमे वन्य प्राणी, यह सब देख कर यही लगता है कि हम अपनी धरती को नष्ट करने पर तुले है। पर्यावरण संरक्षण की बात करते है परन्तु इसका नाश द्रुतगति से करते जा रहे है। इसका मात्र एक कारण है—हमारा लोभ और उपभोग संस्कृति। जब तक संग्रह और उपभोग वृत्ति पर अंकुश नही लगेगा, पर्यावरण संरक्षण की बात ही निरर्थक है। संग्रह और उपभोग पर संयम बिना पर्यावरण का अथाह दोहन रुक ही नही सकता। संरक्षण की बात ढोंग है या मृगतृष्णा ?

सब प्राणी मिलकर जगत् का निर्माण करते हैं। वनस्पति, पानी, पृथ्वी, अग्नि और अन्य सब प्राणी—जलचर, थलचर व खेचर (आकाश में भ्रमण करने वाले) सबके समन्वय व सन्तुलन से यह संसार बना है। नष्ट करने का अधिकार किसी को भी नहीं क्योंकि इसके सृजन में सन्तुलन है और किसी भी एक आयाम के नष्ट होने से पर्यावरण में असन्तुलन बनेगा। जीवन जब स्वयं को प्यारा है तो हर प्राणी को प्यारा है। स्वयं के पेट भरने के लिये, दूसरों के जीवन का अन्त करना अनुचित है। इसी सिद्धान्त को मोटे रूप में धर्म का रूप देकर बड़े-बड़े महात्मा व मनीषियों ने अहिंसा का उपदेश दिया। ईसा मसीह ने मोटे आदेश के रूप में कहा—"Thou shall not kill" तुम किसी को नहीं मारो। महावीर ने कहा "अहिंसा परमो धर्मः।" इसी प्रकार सभी धर्मों से आवाज उठी—किसी की हिंसा न कर, जीवन नष्ट न कर। जीवन अमूल्य है और मारना पाप है। परन्तु कालान्तर में आचार और सिद्धान्त में भेद हो गये और व्यवहार में हिंसा का प्रचार हुआ। परन्तु सिद्धान्ततः कोई भी धर्म हिंसा का समर्थक नहीं है।

हिंसा के भी दो मोटे रूप है—एक प्रयोजनार्थ हिंसा और एक अनर्थ हिंसा। जहाँ अभी तक खान-पान में सामिष भोजन का ही रिवाज है और निरामिष भोजन का व्यवहार नहीं पनपा वहाँ भोजन के लिये जीवों की हिंसा की जाती है। इसके विपरीत केवल शौक के लिये शिकार, दिखावे के लिये मिंक कोट (जिसमें हजारों छोटे जानवरों को जिन्दा मारकर उनकी त्वचा से कोट बनाया जाता है) का पहनावा, सौन्दर्य प्रसाधन के लिये लाखों जानवरों का जीवन-नाश, ये सब हिंसा के विभिन्न रूप है। थोड़ी देर के लिये मान लें कि सामिष भोजन की प्रथा होने से भोजन के लिये प्राणी हिंसा की जाती है परन्तु शौक, सौन्दर्य और दिखावे के लिये लाखों प्राणियों की हिंसा कहाँ तक उचित है? वह अनर्थ है, अनुचित है और पर्यावरण असन्तुलन की जिम्मेवार है। जंगल कटने और जंगलों से वन्य प्राणी गायब होने का मूल कारण शौक और शिकार है। इन्हीं की वजह से खरगोश, मोर, छोटे बालों व पंखों वाले पशु-पक्षी सब गायब होते जा रहे है। व्हेल जैसी बड़ी-बड़ी मछलियों का अस्तित्व ही खतरे मे हो गया है। यह सब पैसा कमाने, अपने शौक पूरा करने और दिखावे के लिये है। अपार धन वाले व्यक्ति अपना धन प्रदर्शन करने के लिये कितने जीवों की हिंसा करते हैं, यह वे जानते तक नहीं। अतः मोटे रूप में अनर्थ हिंसा को बन्द करना न केवल जीवों की रक्षा और धर्म के पालन के लिये वरन् इस पृथ्वी के पर्यावरण संरक्षण के लिये आवश्यक है और यह तत्काल करना चाहिये।

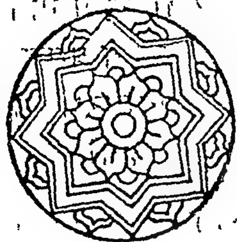
भोजन में भी संयम नितान्त आवश्यक है। टालस्टाय ने कहा—जब तक भोजन में संयम नही करते, किसी भी प्रकार का संयम सम्भव नही। रस-लोलु-

पता ही जीव को सब प्रकार की हिंसा करने को प्रेरित करती है। मनुष्य अपनी रस-लोलुपता के लिए क्या नही करता? लाखों प्राणियों की हिंसा केवल भोजन के लिये होती है। आधुनिकतम कत्लखाने लाखों प्राणियों को मारने के लिए स्थापित किये जाते हैं। उन कारखानों मे इतनी पूँजी लगाई जाती है कि वर्ष में एक निश्चित संख्या से कम जानवर मारे जायेगे तो वह कारखाना हानि में जावेगा। अतः उसको आर्थिक हानि से बचाने के लिये उतने जानवर प्रतिदिन काटने ही होंगे। यह हुआ आधुनिकीकरण। पुराना कसाई उतने ही जानवर मारता था जितनी माँग थी या उसकी क्षमता थी। अब कारखाना नफे में लाने के लिये न्यूनतम क्षमता तक जानवर मारे जायेगे और यदि माँग नहीं है तो विज्ञापन के माध्यम से बढावा देकर माँस बेचा जावेगा। पहले खाने वालों के लालच से जानवर कटते थे, अब पैसे वालों के लालच से कटते है और जो नहीं खाते थे उनको भी खाने के लिये बढ़ावा देते है। जानवरों का उत्पादन उनके निश्चित क्रम से होता है परन्तु हनन तो कारखाने की क्षमता से होता है और यदि क्षमता ज्यादा है तो अल्प समय में जानवरों को समाप्त होने की नौबत आ जावेगी। चीन एक ऐसा देश है जहाँ गाय, बैल आदि जानवरो की अत्यन्त कमी है और दूध व्यवसाय नाम मात्र को है। भारत में परम्परा से गाय को माता मानने का वरदान समझे कि यहाँ गाय व बैलों की संख्या प्रचुर मात्रा में है वरना यह भी समाप्त हो गई होतीं। बढ़ती जनसंख्या के भोजन के लिये कृषि व शाकाहार ही समाधान है। सामिष भोजन के लिये जानवरो को मारने से कृषि पर बोझ अधिक पड़ता है क्योंकि जितनी जमीन से शाकाहारी का निर्वाह हो सकता है उससे तिगुनी जमीन सामिष भोजन वालों के लिये चाहिये।

मनीषियों, तीर्थङ्करो या पैगम्बरों ने अहिंसा का सिद्धांत अपनी आत्म-करुणा व संवेदनशीलता के आधार पर दिया। यह पर्यावरण सन्तुलन में भी उतना ही कारगर है जितना निजी जीवन मे सन्तुलन कायम करने मे है। बाहरी पर्यावरण के प्रति, छोटे से छोटे प्राणी के प्रति यदि संवेदनशीलता है तो अपने घर व पास, पड़ौस मे रहने वाले व्यक्तियो के प्रति भी उतनी ही संवेदनशीलता होगी और परिवार, परिजन, मित्र और पड़ौसी से हमारा व्यवहार भी सतुलनवाला एव संवेदनशील होगा और मधुर रस स्वतः ही बहेगा। अहिंसा बाहरी वातावरण में तो सरसता पैदा करती ही है, निजी आंतरिक जीवन में भी करती है। अतः प्राणी मात्र के प्रति संवेदनशीलता ही पर्यावरण संरक्षण का मूल मन्त्र बन सकती है।

—सी-२०, हीरा बाग, जयपुर–४





अहिंसा : सामाजिक सन्दर्भ में

☐ श्री राजीव प्रचंडिया

जब और जहाँ कहीं भी 'अहिंसा' का नाम आता है तो सर्वप्रथम उसका निषेधात्मक रूप ही हमारे दृष्टि पटल पर उभरता है अर्थात् समस्त जीवों को पीडा-दुःख न पहुँचाना और न ही घात-प्रतिघात करना अहिंसा है, किन्तु जब इसके विधेयात्मकता पर विचार करते हैं तो हम पाते है इसके गर्भ में अनन्त अनमोल रत्न-राशियाँ बिखरी पड़ी हैं। ये सब बिखरी पड़ी राशियाँ एकत्रीकरण या पुंजरूप में अहिंसा को असली जामा पहनाती हैं। यथार्थतः अहिंसा का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह न तो किसी एक वर्ग, जाति, धर्म समाज और राष्ट्र का प्रतिनिधित्व ही करती है और न ही किसी एक विशेष व्यावसायिक क्षेत्र से सम्बन्धित है अपितु यह तो समस्त जीवन के साथ जुडी हुई है। अहिंसक का जीवन-दर्शन बडा प्रामाणिक होता है। उसकी कथनी और करनी में इकसारता होती है। उसका सोच, उसकी दृष्टि और उसका व्यवहार 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' से सदा मण्डित-अभिमण्डित रहता है। उसके द्वारा जो कुछ भी किया जाता है उसमें संवेदनशीलता, सहिष्णुता, मृदुता, सदाचारिता, कर्त्तव्यपरायणता आदि सद्वृत्तियाँ दिखाई देती है। वास्तव में अहिंसा से अनुप्राणित जीवन अनन्त आनन्द का स्रोत है।

प्रस्तुत लेख में अहिंसा के अन्तस् में छिपे पड़े अनमोल रत्नों का, जो वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन को सुन्दर से सुन्दरतम बनाते है, दृष्टाँकन किया गया है।

अहिंसक सदा त्रिगुणात्मक होता है अर्थात् उसके जीवन में तीन रत्नों के समीकरण को देखा जा सकता है यथा वर्तमान मे जीना, सहजता में जीना और अनासक्त होकर जीना।

मनुष्य के जीवन का यदि सवक्षण–आकलन किया जाए तो यह स्थिति स्पष्ट हो जाएगी कि उसका जीवन वर्तमान में होते हुए भी प्रतिक्षण भूत जो गुजर चुका है और भविष्य जो आने वाला है; के भँवर जाल में उलझा रहता है। भूत के सतत स्मरण और भविष्य के प्रति नित नयी कल्पनाओं को लेकर व्यक्ति वस्तुस्थिति का सामना करने में सर्वथा असक्षम हो जाता है। जो उसकी प्रतीति तो होनी ही चाहिए अर्थात् प्रमाद से वचते हुए जागरण/चेतना के साथ जीना ही श्रेयस्कर है। अहिंसक सदा अप्रमादी रहता हुआ वर्तमान में जीता है। वह सोता हुआ नही; जागता हुआ जीता है। उसका जीवन सहजता-सरलता से सदा अनुप्राणित रहता है। जो बाहर है, वही भीतर है

पड़ता है, और कालान्तर में भी उसका प्रभाव अङ्कित रहने से फल मिलता है।

अहिंसा की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय में रागादि भावों की उत्पत्ति को हिंसा तथा इनके अप्रादुर्भाव को अहिंसा कहा है। यह अहिंसा की आध्यात्मिक पराकाष्ठा है। रागादि भाव कषायरूप है तथा कषाय, प्रमाद का एक भेद है। अतः रागादि कषाय की उपस्थिति में जो द्रव्य-भाव रूप प्राणो का अतिपात होना है वह हिंसा है। ऐसी हिंसा से तो केवली ही बच पाता है, अन्य समस्त छद्मस्थ प्राणी कषाय की उपस्थिति के कारण हिंसा से पूर्णतः विरत नही हो पाते।

इस प्रकार प्रमाद अथवा कषाय की उपस्थिति में जो स्व या अन्य प्राणी के प्राणों का व्यपरोपण होता है उसे ही जैनाचार्य हिंसा मानते है। यदि प्रमाद अथवा कषाय के अभाव में प्राणों का व्यपरोपण होता है तो वह हिंसा नही है। इसे हिंसा इसलिए भी नही कहा जाता क्योंकि यह कर्मबन्धन का कारण नही है। कषाय की उपस्थिति में ही योग कर्मबन्धन का कारण बनता है। उदाहरण के लिए केवली प्रमाद अथवा कषाय से सर्वथा रहित होते है, तथापि श्वास ग्रहण करने एवं निकालने में उनके द्वारा वायुकाय के असख्य जीवो का प्राण व्यपरोपण होता रहता है। यह प्राणव्यपरोण हिंसा नही है, पाप नहीं है क्योंकि इससे किसी प्रकार के कर्म का वन्ध नही होता है। हिंसा का यह विवेचन बन्धन एवं मुक्ति की प्रक्रिया को लेकर हिंसक या अहिंसक जीव के सन्दर्भ में हुआ है। इस दृष्टि से पूर्णतः अहिंसक वह है जो कपायमुक्त है।

सामाजिक सन्दर्भ में अहिंसा :

आध्यात्मिक दृष्टि से हिंसा का परिणाम स्वयं को भोगना पड़ता है, अतः हमें हिंसा का सकल्प मात्र भी छोड देना चाहिए। यही नही राग-द्वेप से पूर्णतः विश्राम पा लेना चाहिए। अब हम सामाजिक सन्दर्भ में हिंसा-अहिंसा पर विचार करें।

सामाजिक-जीवन एक दूसरे प्राणियों के सहयोग से चलता है। माता यदि शिशु को दूध न पिलाकर प्रताड़ित करे तो उसका शिशु पर विपरीत प्रभाव पडता है। और वही माता शिशु को समय पर दूध एव प्यार दे तो वह उस शिशु के लिए जीवनदायिनी सिद्ध होती है। करुणा एवं प्यार, सेवा एव मैत्री से अहिंसक समाज का निर्माण होता है तो आतंक, भय एव हिंसा से हिंसक तथा अशान्त समाज का निर्माण होता है।

हिंसा एव अहिंसा का जितना सम्बन्ध स्व से है उतना समाज से भी है। बिना समाज के हिंसा एवं अहिंसा का प्रश्न ही नही उठता है। यदि सम्पूर्ण संसार मे एक ही प्राणी हो तो हिंसा-अहिंसा का प्रश्न बेमानी हो जाता है।

एक से अधिक प्राणियों के होने पर ही हिंसा-अहिंसा होती है। चाहे हिंसा मन से हो, वचन से हो या काया से, उसके लिए एक के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी का होना आवश्यक है। फिर यह भी मानना होगा कि हिंसा का प्रभाव हिंसक एवं हिंसित दोनों पर पड़ता है। यही कारण है कि आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर हिंसित प्राणी की भी चिन्ता करते है। वे कहते है—

सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पिय जीविणो जीवितुकामा। आचारांग सूत्र, १.२.३

अर्थात् सभी प्राणियों का आयुष्य प्रिय है, सबको सुख अनुकूल लगता है तथा दुःख प्रतिकूल लगता है। सभी प्राणियों को वध अप्रिय है, सबको जीवन प्रिय है, सब जीना चाहते हैं। अहिंसा की स्थापना में भगवान् महावीर के ये वचन उसे सामाजिक एव मानवीय रूप देते है। अहिंसा यहाँ प्राणिमात्र से जुड़ी हुई है। यही अहिसा के समाज-दर्शन का मूल है।

आज आवश्यकता इसी बात की है कि अहिंसा का सामाजिक वैभव उजागर हो। प्राणिमात्र के जीवन की रक्षा का भाव मन में पैदा हो। यह भाव ही करुणा का द्योतक है, और जहाँ करुणा है वहां हिसा स्वतः बिश्राम पा लेती है। वैयक्तिक मुक्ति की प्रक्रिया में अहिंसा साधनभूत अवश्य है किन्तु अहिंसा का उससे भी अधिक महत्त्व प्राणियों के रक्षण एव उन्हें अभय प्रदान करने में है।

सूत्रकृताङ्गसूत्र में भी आचारांग सूत्र की अनुगूंज है। वहाँ मनुष्य को प्राणिमात्र के प्रति संवेदनशील बनाने हेतु कहा है—"जिस प्रकार मुझे डंडे से, मुष्टि से, अस्थि से ढेले से, अथवा कपाल से कोई चोट पहुँचाता है, तर्जना देता है, पीटता है, परिताप देता है, पीड़ा पहुँचाता है, विनाश करता है अथवा एक रोम भी उखाड़ता है तो मुझे हिंसाकारी दुःख एवं भय की वेदना होती है। इसी प्रकार समस्त जीवों को जानो। समस्त जीव, भूत, प्राण एवं सत्त्व को डंडे आदि किसी भी साधन से पीड़ा पहुँचाने, मारने, पीटने, परिताप देने, खिन्न करने, रोम उखाड़ने आदि से उसे दुःख एवं भय का वेदन होता है। इसलिए यह जानकर किसी भी प्राणी को नही मारना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, अपने अधीन नहीं बनाना चाहिए, परिताप नही देना चाहिए तथा पीड़ित नहीं करना चाहिए।"[1]

अहिंसा का यह उपदेश मात्र भगवान् महावीर ने नहीं दिया है अपितु जो अतीत एवं आगामी अरिहन्त भगवान् है वे सब इसी प्रकार प्ररूपणा करते है कि किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए, किसी को अपने अधीन

१. सूत्रकृताङ्ग २.१.१६

पड़ता है, और कालान्तर में भी उसका प्रभाव अङ्कित रहने से फल मिलता है।

अहिंसा की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय में रागादि भावो की उत्पत्ति को हिंसा तथा इनके अप्रादुर्भाव को अहिंसा कहा है। यह अहिंसा की आध्यात्मिक पराकाष्ठा है। रागादि भाव कषायरूप है तथा कषाय, प्रमाद का एक भेद है। अतः रागादि कषाय की उपस्थिति में जो द्रव्य-भाव रूप प्राणो का अतिपात होना है वह हिंसा है। ऐसी हिंसा से तो केवली ही बच पाता है, अन्य समस्त छद्मस्थ प्राणी कषाय की उपस्थिति के कारण हिंसा से पूर्णतः विरत नहीं हो पाते।

इस प्रकार प्रमाद अथवा कषाय की उपस्थिति में जो स्व या अन्य प्राणी के प्राणों का व्यपरोपण होता है उसे ही जैनाचार्य हिंसा मानते हैं। यदि प्रमाद अथवा कषाय के अभाव में प्राणों का व्यपरोपण होता है तो वह हिंसा नहीं है। इसे हिंसा इसलिए भी नही कहा जाता क्योंकि यह कर्मबन्धन का कारण नहीं है। कषाय की उपस्थिति में ही योग कर्मबन्धन का कारण बनता है। उदाहरण के लिए केवली प्रमाद अथवा कषाय से सर्वथा रहित होते हैं, तथापि श्वास ग्रहण करने एवं निकालने में उनके द्वारा वायुकाय के असंख्य जीवो का प्राण व्यपरोपण होता रहता है। यह प्राणव्यपरोण हिंसा नही है, पाप नहीं है क्योंकि इससे किसी प्रकार के कर्म का बन्ध नही होता है। हिंसा का यह विवेचन बन्धन एवं मुक्ति की प्रक्रिया को लेकर हिंसक या अहिंसक जीव के सन्दर्भ मे हुआ है। इस दृष्टि से पूर्णतः अहिंसक वह है जो कषायमुक्त है।

सामाजिक सन्दर्भ में अहिंसा :

आध्यात्मिक दृष्टि से हिंसा का परिणाम स्वयं को भोगना पडता है, अतः हमें हिंसा का संकल्प मात्र भी छोड़ देना चाहिए। यही नही राग-द्वेष से पूर्णतः विश्राम पा लेना चाहिए। अब हम सामाजिक सन्दर्भ में हिंसा-अहिंसा पर विचार करें।

सामाजिक-जीवन एक दूसरे प्राणियों के सहयोग से चलता है। माता यदि शिशु को दूध न पिलाकर प्रताड़ित करे तो उसका शिशु पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। और वही माता शिशु को समय पर दूध एव प्यार दे तो वह उस शिशु के लिए जीवनदायिनी सिद्ध होती है। करुणा एवं प्यार, सेवा एवं मैत्री से अहिंसक समाज का निर्माण होता है तो आतक, भय एवं हिंसा से हिंसक तथा अशान्त समाज का निर्माण होता है।

हिंसा एवं अहिंसा का जितना सम्बन्ध स्व से है उतना समाज से भी है। बिना समाज के हिंसा एव अहिंसा का प्रश्न ही नही उठता है। यदि सम्पूर्ण संसार में एक ही प्राणी हो तो हिंसा-अहिंसा का प्रश्न बेमानी हो जाता है।

एक से अधिक प्राणियों के होने पर ही हिंसा-अहिंसा होती है। चाहे हिंसा मन से हो, वचन से हो या काया से, उसके लिए एक के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी का होना आवश्यक है। फिर यह भी मानना होगा कि हिंसा का प्रभाव हिंसक एवं हिंसित दोनों पर पड़ता है। यही कारण है कि आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर हिंसित प्राणी की भी चिन्ता करते है। वे कहते हैं—

सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पिय जीविणो जीवितुकामा। आचारांग सूत्र, १.२.३

अर्थात् सभी प्राणियों का आयुष्य प्रिय है, सबको सुख अनुकूल लगता है तथा दुःख प्रतिकूल लगता है। सभी प्राणियों को वध अप्रिय है, सबको जीवन प्रिय है, सब जीना चाहते हैं। अहिंसा की स्थापना में भगवान् महावीर के ये वचन उसे सामाजिक एवं मानवीय रूप देते है। अहिंसा यहाँ प्राणिमात्र से जुड़ी हुई है। यही अहिंसा के समाज-दर्शन का मूल है।

आज आवश्यकता इसी बात की है कि अहिंसा का सामाजिक वैभव उजागर हो। प्राणिमात्र के जीवन की रक्षा का भाव मन में पैदा हो। यह भाव ही करुणा का द्योतक है, और जहाँ करुणा है वहां हिंसा स्वतः बिश्राम पा लेती है। वैयक्तिक मुक्ति की प्रक्रिया में अहिंसा साधनभूत अवश्य है किन्तु अहिंसा का उससे भी अधिक महत्त्व प्राणियों के रक्षण एवं उन्हें अभय प्रदान करने में है।

सूत्रकृताङ्गसूत्र में भी आचारांग सूत्र की अनुगूंज है। वहाँ मनुष्य को प्राणिमात्र के प्रति संवेदनशील बनाने हेतु कहा है—"जिस प्रकार मुझे डंडे से, मुट्ठि से, अस्थि से ढेले से, अथवा कपाल से कोई चोट पहुँचाता है, तर्जना देता है, पीटता है, परिताप देता है, पीड़ा पहुँचाता है, विनाश करता है अथवा एक रोम भी उखाड़ता है तो मुझे हिंसाकारी दुःख एवं भय की वेदना होती है। इसी प्रकार समस्त जीवों को जानो। समस्त जीव, भूत, प्राण एवं सत्त्व को डंडे आदि किसी भी साधन से पीड़ा पहुँचाने, मारने, पीटने, परिताप देने, खिन्न करने, रोम उखाड़ने आदि से उसे दुःख एवं भय का वेदन होता है। इसलिए यह जानकर किसी भी प्राणी को नही मारना चाहिए, उन पर शासन नही करना चाहिए, अपने अधीन नहीं बनाना चाहिए, परिताप नहीं देना चाहिए तथा पीड़ित्त नहीं करना चाहिए।"[1]

अहिंसा का यह उपदेश मात्र भगवान् महावीर ने नहीं दिया है अपितु जो अतीत एवं आगामी अरिहन्त भगवान् हैं वे सब इसी प्रकार प्ररूपणा करते है कि किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए, किसी को अपने अधीन

---

१. सूत्रकृताङ्ग २.१.१६

नहीं बनाना चाहिए। किसी को परिताप नहीं देना चाहिए, किसी को पीड़ा नहीं देना चाहिए—यह धर्म ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है तथा सम्पूर्ण लोक को जानकर क्षेत्रज्ञों के द्वारा कहा गया है।[२] इस प्रकार 'सूत्रकृताङ्ग में निरूपित अहिंसा का यह दर्शन प्राणी को दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशील बनाता है। दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशील होकर ही उनके प्रति की जा रही हिंसा से बचा जा सकता है।

हिंसा का त्याग आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ संवर का कारण है वहां सामाजिक दृष्टि से उसका प्रभाव प्राणि-रक्षण के रूप में समस्त प्राणियों पर पड़ता है। हिंसा एवं अहिंसा से मात्र हिंसक व्यक्ति प्रभावित नहीं होता अपितु समाज प्रभावित होता है। इसी वर्ष बम्बई में मार्च माह में हुए अनेक बम विस्फोटों में सैंकड़ों लोगों की जान चली गई। इसमे विस्फोट करने वाला गिरोह उसके कर्म-बन्धन का फल भोगता रहेगा किन्तु साक्षात् फल तो हिंस्य प्राणियो पर हो ही गया। यही नहीं जिनकी जानें गईं उनके परिवार वालों एवं निकट सम्बन्धियों के भी प्राणों का इससे अतिपात हुआ है। समाचार सुनने वाली जनता भी आतंकित हुई है।

यहां पर जैनाचार्य यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि हिंसा करने के दोष का फल मात्र हिंसक को मिलता है। हिंस्यमान प्राणी अपनी चेतना के स्तर पर उस हिंसा से अप्रभावित भी रह सकता है। उस हिंसा से जिनकी मृत्यु हुई है, वह उन प्राणियो के आयुष्यकर्म क्षीण होने से हुई है। हिंस्यमान प्राणी की मृत्यु को अपने कर्मोदय से मानने पर अनेक प्रश्न उठते है।

सबसे पहला प्रश्न तो यह उठता है कि जब हिंस्यमान प्राणी का आयुष्यकर्म क्षीण होने ही वाला था तो क्या उसके निमित्त से ही हिंसक ने हिंसा-जनक बम-विस्फोट किया? यदि हम हिंसा के परिणामस्वरूप हुई मृत्यु को आयुष्यकर्म के समापन का परिणाम मानेंगे तो इससे हिंसको को प्रोत्साहन मिलेगा। उन्हे अन्य प्राणियों को अकाल में मृत्यु का ग्रास बनाते हुए कोई संकोच नही होगा।

इसलिए, दूसरा प्रश्न यह होता है हिंस्यमान प्राणी की मृत्यु क्या उसी निमित्त से होनी थी, या अन्य निमित्त से भी हो सकती थी? यदि अन्य निमित्त से होनी थी तब भी हिंसक ने अन्य निमित्त के कार्य का निर्वाह कर हिंसित प्राणी का सहयोग ही किया और यदि वही निमित्त बनना था, तो हिंसक का दोष हलका हो जाता है क्योंकि उसकी विवशता थी कि वह ऐसा कार्य करे जिससे हिंस्यमान को हिंसा हो जाय।

२. सूत्रकृताङ्ग २१.१६

समाज में व्यापक स्तर पर योजनाबद्ध तरीके से जो हिंसा हो रही है चाहे वह हिंसा आतंकवाद के रूप में हो, शोषण के रूप में हो, औद्योगिक प्रगति के रूप में हो, किसी भी प्रकार से हो; उस हिंसा को रोकने के लिए आवश्यक है दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशीलता का विकास। जब तक मनुष्य में यह भावना नही आयेगी कि जिस प्रकार मुझे प्रताड़ित किए जाने पर, मारे जाने पर, कष्ट दिए जाने पर मुझे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है। मुझे जिस प्रकार जीवन प्यारा है उसी प्रकार अन्य प्राणी भी जीना चाहते है। 'सव्वेसि जीवित पिय'। आचारांग का यह वाक्य अपने समान अन्य प्राणियों को समझकर उनके दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील होने का पाठ पढाता है। जानबूझकर निर्दोष प्राणियों को कष्ट पहुँचाना प्रत्येक मनुष्य के लिए त्याज्य है।

हिंसा से हिंसित प्राणी की जीवन-लीला के समाप्त होने को मात्र आयुष्य-कर्म की क्षीणता का परिणाम मानना, हिंसा को बढ़ावा देना है। स्थानांग सूत्र में अकाल मृत्यु के सात कारण गिनाए गए है, जो यह प्रमाणित करते हैं कि प्राणी की निर्धारित आयु के पूर्व भी उसकी मृत्यु हो सकती है। वे सात कारण है—

अज्झवसाणणिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते।
फासे आणापाण्, सत्तविधं भिज्जए आउं॥

—स्थानांग सूत्र, सप्त स्थान

(१) राग-द्वेष के तीव्र अध्यवसायों से, (२) शस्त्र, अस्त्र, बम-विस्फोट, विष आदि के निमित्त से (३) आहार न मिलने अथवा अत्यधिक आहार करने से (४) तीव्र वेदना होने से (५) दूसरों के द्वारा चोट पहुँचाने, आघात पहुँचाने से (६) विद्युत् धारा के स्पर्श आदि से (७) श्वास-निःश्वास के अवरोध से आयुष्य का भेदन हो सकता है अर्थात् निर्धारित आयुष्य के पूर्व भी औदारिक शरीरधारियों की देह छट सकती है। हिंसा का दुःख रूप में प्रभाव केवली को भले ही न अनुभव हो किन्तु उनके अतिरिक्त हम समस्त संसारी प्राणियों को तो दुःख का अनुभव होता ही है, इसलिए हिंसा त्याज्य है।

सहजीवन, सहअस्तित्व एवं विश्वशान्ति के लिए अहिंसा को सामाजिक आन्दोलन के रूप में स्वीकार करना होगा। पेड-पौधों की रक्षा का प्रश्न हो या जंगली जानवरों के संरक्षण का सवाल, सब जगह अहिसा को अपनाना होगा। अहिंसा के अभाव में हमारा जीवन भी संदिग्ध वन जाता है। पर्यावरण की शुद्धि की ताब हो या पृथ्वी को बचाने की, सर्वत्र अहिसा भगवती कल्याण-कारिणी है। अहिंसा का यह सार्वजनिक अभियान किसी प्राणी के लिए लाभ-कारी होगा, अन्य के लिए नहीं, ऐसा नही हो सकता। अहिंसा सबको निर्भयता,

नहीं बनाना चाहिए। किसी को परिताप नही देना चाहिए, किसी को पीड़ा नही देना चाहिए—यह धर्म ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है तथा सम्पूर्ण लोक को जानकर क्षेत्रज्ञों के द्वारा कहा गया है।[१] इस प्रकार 'सूत्रकृताङ्ग में निरूपित अहिंसा का यह दर्शन प्राणी को दूसरों के दु.ख के प्रति संवेदनशील बनाता है। दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशील होकर ही उनके प्रति की जा रही हिंसा से बचा जा सकता है।

हिंसा का त्याग आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ संवर का कारण है वहां सामाजिक दृष्टि से उसका प्रभाव प्राणि-रक्षण के रूप में समस्त प्राणियों पर पड़ता है। हिंसा एवं अहिंसा से मात्र हिंसक व्यक्ति प्रभावित नहीं होता अपितु समाज प्रभावित होता है। इसी वर्ष बम्बई में मार्च माह में हुए अनेक बम विस्फोटों में सैंकड़ों लोगों की जान चली गई। इसमें विस्फोट करने वाला गिरोह उसके कर्म-बन्धन का फल भोगता रहेगा किन्तु साक्षात् फल तो हिंस्य प्राणियों पर हो ही गया। यही नही जिनकी जानें गई उनके परिवार वालों एवं निकट सम्बन्धियों के भी प्राणों का इससे अतिपात हुआ है। समाचार सुनने वाली जनता भी आतंकित हुई है।

यहां पर जैनाचार्य यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि हिंसा करने के दोष का फल मात्र हिंसक को मिलता है। हिंस्यमान प्राणी अपनी चेतना के स्तर पर उस हिंसा से अप्रभावित भी रह सकता है। उस हिंसा से जिनकी मृत्यु हुई है, वह उन प्राणियों के आयुष्यकर्म क्षीण होने से हुई है। हिंस्यमान प्राणी की मृत्यु को अपने कर्मोदय से मानने पर अनेक प्रश्न उठते हैं।

सबसे पहला प्रश्न तो यह उठता है कि जब हिंस्यमान प्राणी का आयुष्यकर्म क्षीण होने ही वाला था तो क्या उसके निमित्त से ही हिंसक ने हिंसाजनक बम-विस्फोट किया? यदि हम हिंसा के परिणामस्वरूप हुई मृत्यु को आयुष्यकर्म के समापन का परिणाम मानेंगे तो इससे हिंसकों को प्रोत्साहन मिलेगा। उन्हे अन्य प्राणियो को अकाल मे मृत्यु का ग्रास बनाते हुए कोई संकोच नही होगा।

इसलिए, दूसरा प्रश्न यह होता है हिंस्यमान प्राणी की मृत्यु क्या उसी निमित्त से होनी थी, या अन्य निमित्त से भी हो सकती थी? यदि अन्य निमित्त से होनी थी तब भी हिंसक ने अन्य निमित्त के कार्य का निर्वाह कर हिंसित प्राणी का सहयोग ही किया और यदि वही निमित्त बनना था, तो हिंसक का दोष हलका हो जाता है क्योंकि उसकी विवशता थी कि वह ऐसा कार्य करे जिसमे हिंस्यमान को हिंसा हो जाय।

---

१. सूत्रकृताङ्ग २.१.१६

समाज में व्यापक स्तर पर योजनाबद्ध तरीके से जो हिंसा हो रही है चाहे वह हिंसा आतंकवाद के रूप में हो, शोषण के रूप में हो, औद्योगिक प्रगति के रूप में हो, किसी भी प्रकार से हो; उस हिंसा को रोकने के लिए आवश्यक है दूसरो के दुःख के प्रति संवेदनशीलता का विकास। जब तक मनुष्य में यह भावना नहीं आयेगी कि जिस प्रकार मुझे प्रताड़ित किए जाने पर, मारे जाने पर, कष्ट दिए जाने पर मुझे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है। मुझे जिस प्रकार जीवन प्यारा है उसी प्रकार अन्य प्राणी भी जीना चाहते है। 'सव्वेसि जीवितं पियं'। आचारांग का यह वाक्य अपने समान अन्य प्राणियों को समझकर उनके दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील होने का पाठ पढाता है। जानबूझकर निर्दोष प्राणियों को कष्ट पहुँचाना प्रत्येक मनुष्य के लिए त्याज्य है।

हिंसा से हिंसित प्राणी की जीवन-लीला के समाप्त होने को मात्र आयुष्य-कर्म की क्षीणता का परिणाम मानना, हिंसा को बढ़ावा देना है। स्थानांग सूत्र मे अकाल मृत्यु के सात कारण गिनाए गए है, जो यह प्रमाणित करते है कि प्राणी की निर्धारित आयु के पूर्व भी उसकी मृत्यु हो सकती है। वे सात कारण है—

अज्झवसाणणिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते।
फासे आणापाण्, सत्तविधं ज्झिज्जए आउं॥

—स्थानांग सूत्र, सप्त स्थान

(१) राग-द्वेष के तीव्र अध्यवसायों से, (२) शस्त्र, अस्त्र, बम-विस्फोट, विष आदि के निमित्त से (३) आहार न मिलने अथवा अत्यधिक आहार करने से (४) तीव्र वेदना होने से (५) दूसरो के द्वारा चोट पहुँचाने, आघात पहुँचाने से (६) विद्युत् धारा के स्पर्श आदि से (७) श्वास-निःश्वास के अवरोध से आयुष्य का भेदन हो सकता है अर्थात् निर्धारित आयुष्य के पूर्व भी औदारिक शरीरधारियो की देह छूट सकती है। हिंसा का दुःख रूप में प्रभाव केवली को भले ही न अनुभव हो किन्तु उनके अतिरिक्त हम समस्त संसारी प्राणियों को तो दुःख का अनुभव होता ही है, इसलिए हिंसा त्याज्य है।

सहजीवन, सहअस्तित्व एवं विश्वशान्ति के लिए अहिंसा को सामाजिक आन्दोलन के रूप में स्वीकार करना होगा। पेड़-पौधों की रक्षा का प्रश्न हो या जंगली जानवरों के संरक्षण का सवाल, सब जगह अहिंसा को अपनाना होगा। अहिंसा के अभाव में हमारा जीवन भी संदिग्ध बन जाता है। पर्यावरण की शुद्धि की बात हो या पृथ्वी को बचाने की, सर्वत्र अहिंसा भगवती कल्याण-कारिणी है। अहिंसा का यह सार्वजनिक अभियान किसी प्राणी के लिए लाभ-कारी होगा, अन्य के लिए नही, ऐसा नहीं हो सकता। अहिंसा सबको निर्भयता,

नही बनाना चाहिए। किसी को परिताप नही देना चाहिए, किसी को पीड़ा नही देना चाहिए—यह धर्म ध्रुव, नित्य एव शाश्वत है तथा सम्पूर्ण लोक को जानकर क्षेत्रज्ञों के द्वारा कहा गया है।[१] इस प्रकार 'सूत्रकृताङ्ग में निरूपित अहिंसा का यह दर्शन प्राणी को दूसरों के दु.ख के प्रति संवेदनशील बनाता है। दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशील होकर ही उनके प्रति की जा रही हिंसा से बचा जा सकता है।

हिंसा का त्याग आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ संवर का कारण है वहां सामाजिक दृष्टि से उसका प्रभाव प्राणि-रक्षण के रूप में समस्त प्राणियो पर पड़ता है। हिंसा एवं अहिंसा से मात्र हिंसक व्यक्ति प्रभावित नहीं होता अपितु समाज प्रभावित होता है। इसी वर्ष बम्बई में मार्च माह में हुए अनेक बम विस्फोटों में सैंकड़ों लोगों की जान चली गई। इसमे विस्फोट करने वाला गिरोह उसके कर्म-बन्धन का फल भोगता रहेगा किन्तु साक्षात् फल तो हिंस्य प्राणियो पर हो ही गया। यही नही जिनकी जानें गईं उनके परिवार वालों एवं निकट सम्बन्धियो के भी प्राणों का इससे अतिपात हुआ है। समाचार सुनने वाली जनता भी आतंकित हुई है।

यहा पर जैनाचार्य यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि हिंसा करने के दोष का फल मात्र हिंसक को मिलता है। हिंस्यमान प्राणी अपनी चेतना के स्तर पर उस हिंसा से अप्रभावित भी रह सकता है। उस हिंसा से जिनकी मृत्यु हुई है, वह उन प्राणियो के आयुष्यकर्म क्षीण होने से हुई है। हिंस्यमान प्राणी को मृत्यु को अपने कर्मोदय से मानने पर अनेक प्रश्न उठते है।

सबसे पहला प्रश्न तो यह उठता है कि जब हिंस्यमान प्राणी का आयुष्यकर्म क्षीण होने ही वाला था तो क्या उसके निमित्त से ही हिंसक ने हिंसाजनक बम-विस्फोट किया? यदि हम हिंसा के परिणामस्वरूप हुई मृत्यु को आयुष्यकर्म के समापन का परिणाम मानेगे तो इससे हिंसकों को प्रोत्साहन मिलेगा। उन्हे अन्य प्राणियो को अकाल मे मृत्यु का ग्रास बनाते हुए कोई संकोच नही होगा।

इसलिए, दूसरा प्रश्न यह होता है हिंस्यमान प्राणी की मृत्यु क्या उसी निमित्त से होनी थी, या अन्य निमित्त से भी हो सकती थी? यदि अन्य निमित्त से होनी थी तब भी हिंसक ने अन्य निमित्त के कार्य का निर्वाह कर हिंसित प्राणी का सहयोग ही किया और यदि वही निमित्त बनना था, तो हिंसक का दोष हलका हो जाता है क्योंकि उसकी विवशता थी कि वह ऐसा कार्य करे जिससे हिंस्यमान को हिंसा हो जाय।

---

१. सूत्रकृताङ्ग २.१.१६

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र इस बात का निरूपण करता है कि जीव परस्पर एक दूसरे के उपकारक होते है। माता अपने पुत्र पर उपकार कर उसका लालन-पालन करती है। पुत्र भी माता-पिता का सहयोग करता है। परस्पर सहयोग से ही बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न हो पाते हैं। स्वामी-भृत्य, गुरु-शिष्य आदि एक दूसरे के उपकारक है। यह उपकार ऐसा नहीं होना चाहिए जिसमें किसी का शोषण हो, हिंसा हो।

मैत्री एवं कारुण्य भावनाएँ अहिंसादि व्रतो के पालन में सहायक हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—

मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक क्लिश्यमाना-विनयेषु। (तत्त्वार्थसूत्र ७.११)

समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव होना चाहिए। 'मित्ती में सव्वभूएसु' पंक्ति में भी यही बात कही गई है। मैत्री हमें तो निर्मल बनाती ही है किन्तु दूसरों के प्रति अहिंसक आचरण की भी प्रेरणा देती है। इसीलिए उसे अहिंसादि व्रतों के पालन में सहायक माना गया है। दीन-दुखियों के प्रति अथवा कष्ट पा रहे जीवों के करुणा भाव हो यह भी संदेश इस सूत्र से मिलता है। गुणीजनों के प्रति प्रमोद एवं अविनीतों के प्रति समता का भाव भी अहिंसादि व्रतों के पालन में सहायक हैं।

'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में तीन प्रकार के हिंसकों का संकेत किया गया है— कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति। अर्थात् या तो जीव क्रोध के कारण हिंसा करते है, या लोभ के वशीभूत होकर हिंसा करते है, या फिर वे अज्ञानवश हिंसा करते है। कभी वे सप्रयोजन हिंसा करते हैं तो कभी निष्प्रयोजन हिंसा करते हैं। हिंसा के ये जो कारण है उनका त्याग तभी हो सकता है जब हमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का बोध हो जाए। अपने समान अन्य प्राणियों को भी जीवन प्रिय है, यह अहिंसा का पाठ समझ में आ जाय।

दान, सेवा, परोपकार आदि में भी हिंसा होती है इसलिए वे त्याज्य है, इस प्रकार की बात निष्करुण तार्किक जन ही उठा सकते है। उन्हे यह बात समझ लेनी चाहिए कि अप्काय के जीव की अपेक्षा पंचेन्द्रिय मनुष्य की चेतना का विकास अधिक होता है इसलिए अप्काय के असख्य जीवों की हिसा से भी अधिक पाप एक मनुष्य को मारने में है। शाकाहार के सम्बन्ध में भी यही तर्क है। वनस्पति के असंख्य जीवों की अपेक्षा एक पशु का जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य एवं पशुओं में ऋषि की चेतना अधिक विकसित होती है। इसीलिए अन्य प्राणियों की अपेक्षा ऋषि या साधु के हनन में अधिक पाप है—

एगं इसि हणमाणे अणंते जीवे हणइ।

स्वतन्त्रता एवं जीव प्रदान करती है। इसीलिए 'प्रश्न-व्याकरणसूत्र' मे कहा गया है—

अहिंसा तसथावर सव्वभूयखेमंकरी।

त्रस एवं स्थावर समस्त प्राणियों का अहिंसा क्षेम करने वाली होती है। वह एक का नही समस्त प्राणियों का कल्याण करती है। वह अहिंसक का तो कल्याण करती ही है किन्तु उसके सम्पर्क में आने वालों का भी उससे कल्याण होता है। अहिंसक आश्रम मे वैर-विरोध त्याग कर समस्त प्राणी एक साथ बैठते थे, यह संस्कृत साहित्य में भूरिशः उल्लेख है। तीर्थंकरों के समवसरण में भी निर्भय होकर समस्त प्राणी एक साथ बैठकर उपदेश श्रवण करते थे। इसी-लिए कहा गया—

भगवती अहिंसा भीयाणं विव सरणं। प्रश्न व्याकरण २.१

जिस प्रकार हिंसा में स्व एवं पर दोनों का अहित विद्यमान है, उसी प्रकार अहिंसा मे स्व एवं पर दोनों का हित निहित है। गाँधीजी ने मृत्यु के लिए तड़फते हुए बछड़े को मार देना उचित माना है किन्तु जैनदर्शन को यह मान्य नही है। जैनदर्शन में यह अवश्य निर्देश है कि जो भी कार्य करो उसे यतनापूर्वक करो, विवेकयुक्त होकर करो। बालक को सही मार्ग पर लाने के लिए यदि डांटना पड़े तो यतनापूर्वक डांटो, यह जैनदर्शन का निर्देश है।

अहिंसा-महाव्रत की पुष्टि के लिए आगम मे पाँच भावनाओं का प्रति-पादन हुआ है। वे पाँच भावनाएं है—

(१) ईर्यासमिति (२) मनोगुप्ति (३) वचनगुप्ति (४) आलोकित पान भोजन और (५) आदान-भाण्ड-मात्र निक्षेपणा समिति। इन पाँच भाव-नाओ के द्वारा अहिंसा का यह व्यावहारिक रूप है जो आत्मिक करुणा एवं जीवो के प्रति समता-भाव के बिना संभव नही है।

अहिंसा की स्थापना के लिए करुणा भाव एवं संवेदनशीलता की आव-श्यकता है किन्तु साथ ही प्रमाद एवं अयतना का त्याग भी आवश्यक है। बिना विवेक एव यतना के सवेदनशीलता का दुरुपयोग भी संभव है। इसीलिए तो जैन दर्शन मे हिंसा-अहिंसा के विवेचन को लेकर अनेक मत एवं सम्प्रदाय पैदा हुए। परन्तु विश्वहित में या समाजहित में सोचा जाय तो अपने क्षुद्र स्वार्थ एवं सुख की पूर्ति के लिए निरपराध प्राणियों का जीवन ले लेना नितांत घृणित कार्य है, किन्तु करुणाहीन होना और भी बुरा है। निष्करुण प्राणी अहिंसक नहीं हो सकता। जो दूसरो के दुःख को अपने दु.खो के सदृश समझता है वही दयार्द्र होकर दूसरे के दुःख को हलका करने मे, उसे सान्त्वना देने मे समर्थ हो पाता है।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र इस बात का निरूपण करता है कि जीव परस्पर एक दूसरे के उपकारक होते है। माता अपने पुत्र पर उपकार कर उसका लालन-पालन करती है। पुत्र भी माता-पिता का सहयोग करता है। परस्पर सहयोग से ही बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न हो पाते हैं। स्वामी-भृत्य, गुरु-शिष्य आदि एक दूसरे के उपकारक है। यह उपकार ऐसा नहीं होना चाहिए जिसमें किसी का शोषण हो, हिंसा हो।

मैत्री एवं कारुण्य भावनाएँ अहिसादि व्रतों के पालन मे सहायक हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—

मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक क्लिश्यमाना-विनयेषु। (तत्त्वार्थसूत्र ७.११)

समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव होना चाहिए। 'मित्ती में सव्वभूएसु' पंक्ति में भी यही बात कही गई है। मैत्री हमें तो निर्मल बनाती ही है किन्तु दूसरों के प्रति अहिंसक आचरण की भी प्रेरणा देती है। इसीलिए उसे अहिंसादि व्रतों के पालन में सहायक माना गया है। दीन-दुखियों के प्रति अथवा कष्ट पा रहे जीवों के करुणा भाव हो यह भी संदेश इस सूत्र से मिलता है। गुणीजनों के प्रति प्रमोद एवं अविनीतों के प्रति समता का भाव भी अहिंसादि व्रतों के पालन में सहायक हैं।

'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में तीन प्रकार के हिंसकों का संकेत किया गया है— कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति। अर्थात् या तो जीव क्रोध के कारण हिंसा करते हैं, या लोभ के वशीभूत होकर हिंसा करते है, या फिर वे अज्ञानवश हिंसा करते है। कभी वे सप्रयोजन हिंसा करते है तो कभी निष्प्रयोजन हिंसा करते हैं। हिंसा के ये जो कारण हैं उनका त्याग तभी हो सकता है जब हमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का बोध हो जाए। अपने समान अन्य प्राणियों को भी जीवन प्रिय है, यह अहिंसा का पाठ समझ में आ जाय।

दान, सेवा, परोपकार आदि में भी हिसा होती है इसलिए वे त्याज्य है, इस प्रकार की बात निष्करुण तार्किक जन ही उठा सकते हैं। उन्हे यह बात समझ लेनी चाहिए कि अप्काय के जीव की अपेक्षा पंचेन्द्रिय मनुष्य की चेतना का विकास अधिक होता है इसलिए अप्काय के असख्य जीवों की हिसा से भी अधिक पाप एक मनुष्य को मारने में है। शाकाहार के सम्बन्ध मे भी यही तर्क है। वनस्पति के असंख्य जीवों की अपेक्षा एक पशु का जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य एवं पशुओं मे ऋषि की चेतना अधिक विकसित होती है। इसीलिए अन्य प्राणियों की अपेक्षा ऋषि या साधु के हनन मे अधिक पाप है—

एगं इसि हणमाणे अणंते जीवे हणइ।

अर्थात् एक ऋषि को मारने वाला अनन्त जीवो को मारता है। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि अप्काय, वनस्पतिकाय आदि के एकेन्द्रिय जीवो की हम निष्प्रयोजन हिंसा करते रहें। इसका प्रयोजन इतना ही है कि हम चेतना के स्तर को पहचान कर हिंसा से बचे। प्रयत्न यह करें कि छहकाय के जीवों की हिंसा के हम निमित्त न वनें।

इस लेख को लिखने का प्रयोजन इतना ही है कि आचारांग, सूत्रकृताङ्ग आदि सूत्रों में जो अहिंसा का निरूपण हुआ है उसका मात्र वैयक्तिक पक्ष नही है अपितु उसका एक सामाजिक पक्ष भी है जो प्राणि-रक्षण के लिए हमे वार-वार प्रेरित करता है। अहिसा का एक समाज-दर्शन भी है जो हमें दूसरे जीवो के प्रति संवेदनशील वनाकर करुणा एवं मैत्री का सदेश देता है। हिंसा समाज के लिए शत्रु है तो अहिंसा उसके लिए परम मित्र। हिंसा प्राणि-समाज के लिए घातक है तो अहिंसा उसके लिए जीवनदायिनी है। हम यह सोचे कि जिस प्रकार दूसरों के द्वारा की गई हिंसा हमें अप्रिय लगती है उसी प्रकार अन्य जीवो को भी लगती है अतः उसे छोड़ दे। आज विश्व शान्ति एव सामाजिक वन्धु-भाव के लिए हिसा के जहर को उतारकर अहिसा का अमृत पीने एवं पिलाने की आवश्यकता है।

—सहायक आचार्य, सस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज०)

× ×

जहाँ दया तहे धर्म है, जहाँ लोभ तहे पाप।
जहाँ क्रोध तहे काल है, जहाँ छिमा तहे आप ॥

जहाँ दया रहती है, वहाँ धर्म रहता है। जहाँ लोभ रहता है, वहाँ पाप रहता है, जहाँ क्रोध रहता है, वहाँ काल (मृत्यु) रहता है, जहाँ क्षमा रहती है वहाँ भगवान रहता है।

—कबीर दास



अहिंसा के प्रयोग : अहिंसक समाज रचना की दिशा में

☐ श्री ज़मनालाल जैन

'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।' यह वचन जैन आचार्य समन्तभद्र का है । इसमें उन्होंने अहिंसा को परमब्रह्म कहा है । वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का अर्थ है निर्गुण, निराकार परमात्मा जो सारे ब्रह्माण्ड में, अणु-अणु में यानी सकल चराचर सृष्टि में व्याप्त है । यह स्थिति जीव को तब प्राप्त होती है, जब वह सब ओर से अद्वैत हो जाता है, अपने में सबको और सब में अपने को देखता है । आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को इसी व्यापक ब्रह्म की स्थिति में रखा है ।

पाँच व्रतों मे सत्य और ब्रह्मचर्य मूल रूप में विधायक हैं । बाकी के तीन अहिंसा, अचौर्य और अपरिग्रह निषेधात्मक है, नकारात्मक है । मतलब यह कि हिंसा से विरत होना ही अहिंसा है । इसी प्रकार चोरी और परिग्रह से परे होना अचौर्य और अपरिग्रह है । चित्त-शुद्धि के लिए जैसे विकारों से मुक्ति आवश्यक है, वैसे ही जीवन में अहिंसा की सिद्धि के लिए अद्वैत की, प्रेम की, समानता की, शून्यता की साधना आवश्यक है ।

अहिंसा अर्थात् आत्म-ज्ञान । जिसने अपने को पहचान लिया, जिसके लिए कोई 'पराया' नहीं रहा, जिसका 'मैं' गल गया, वह निज-स्वभाव में स्थित हो जाता है । उसका जीवन-व्यवहार सहज स्वाभाविक हो जाता है । एकेन्द्रिय जीव हो या पंचेन्द्रिय, जड़-चेतन सबके प्रति उसमें समभाव जागृत हो जाता है । उसका खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-उठना सहज हो जाता है । वह किसी के लिए कुछ नही करता, पर सब उसमें अपना दर्शन करते हैं ।

यह ब्रह्म रूप अहिंसा इतनी सूक्ष्म है कि पकड़ में नही आती । वह आकाश की भांति विराट्, व्यापक और अमूर्त है । कण-कण में व्याप्त यह अहिंसा ही सर्व प्राणियों की आत्मा है ।

अहिंसा की दिशा में आगे बढ़ने के लिए हिसा को समझना और उससे विरत होना नितांत आवश्यक है । हिंसा अनन्तरूपिणी है, वह जितनी स्थूल

है, उतनी ही सूक्ष्म भी है । वह अहिंसा के अनन्त चेहरे (मुखौटे) लगा कर प्रकट होती है । ऐसा किए विना हिंसा चल ही नही सकती । हम दया करते है, करुणावान् बनते है, दान करते है, सत्य-व्यवहार करते है, चोरी से भय खाते है, क्रोध करने से बचना चाहते है और समझते हैं या दूसरों को जतलाना चाहते हैं कि हम हिंसक नही, अहिंसक है—लेकिन भीतर-भीतर हिंसा का नर्तन चलता रहता है । भीतर-भीतर हमारे ऐसे अनेक व्यापारों में, हिंसा हँसती रहती है । हम निरन्तर इस प्रयास मे रहते है कि कोई हमे क्रोधी, मानी, मायाचारी और लोभी न समझे । क्या यह प्रयास अह-प्रेरित ही नहीं होता ? और तो और, अपने वाल-वच्चो के सामने भी हम अपने यथार्थ, सहज रूप मे प्रकट नही होना चाहते । हो नही सकते, क्योंकि कुछ ऐसा होता है जिसे छिपाना चाहते है । उद्योग, व्यापार, घर-गृहस्थी जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, हिसा वहाँ होगी ।

अहिंसा का समूचा आचार-शास्त्र, व्रत-विधान, सारे नियमोपनियम, सिद्धांत स्थूल हिंसा को ही मन्द करते हैं । लगता तो है कि हम अहिंसा की ओर आगे बढ रहे है, लेकिन गहराई मे, सूक्ष्म रूप मे, भीतर-भीतर हिंसा रहती ही है ।

भगवान महावीर परम अहिसक थे । वे अहिसामय ही थे । उन्होने अहिसा को अपने जीवन में मूर्तिमान किया था । वे आत्म-ज्ञान के आनन्द से भरे हुए थे, उनका तन सव का हो गया था और वे अपने में सम्पूर्णता का अनुभव करते थे । इसलिए उनकी हर क्रिया सहज होती थी । वे चीटी को नही बचाते थे, अपने को ही बचाते थे । उनकी पीडा व्यापक थी । सवकी पीडा-व्यथा उनकी पीड़ा-व्यथा वन गयी थी । इसीलिए चीटी का दु:ख भी उनका वन जाता था । घटना प्रतीक हो सकती है, पर पुकार-पुकार कर कह रही है कि संगमदेव द्वारा दी गयी पीडा से महावीर विचलित नही थे, व्याकुल यदि थे तो इसलिए थे कि सगमदेव जो कर्म-बंध कर रहा है और जैसी नरक-यातना उसे भोगनी पड़ेगी वह रोंगटे खडे करने वाली थी । लेकिन उनके जैसा वेश धारण कर और नियमों का ध्यान रखकर चलने वाला चीटी को बचाने के लिए आहिस्ते से धरती पर पैर रखता है । कहना चाहिए कि वह केवल चीटी को वचाना चाहता है ।

महावीर इसलिए आहार नही कर पाते थे कि आनन्द से भरे रहते थे । लेकिन उनका अनुकरण करके यह मान लिया जाय कि अनशन या उपवास करने से, कायक्लेश करने से मुक्ति मिलती है या अहिसा सधती है, तो परिणाम यही होगा कि उपवास करने वाले का शरीर सूख जाएगा और चित्त आकुल-व्याकुल हो जाएगा ।

भगवान महावीर ने अहिंसा का जो दर्शन, जो तत्त्व प्रस्तुत किया, वह आज भी विचारकों के लिए चिन्तन का विषय बना हुआ है। द्रव्य-अहिंसा और भाव-अहिंसा के रूप में उन्होंने अहिंसा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया कि सबके लिए तो क्या, लाखों में दो-चार के लिए भी उस आदर्श तक पहुँचना कठिन हो जाता है। उसी का यह परिणाम है कि भारत में मांसाहार के प्रति आदर के भाव नहीं पाए जाते। आज भी करोड़ों लोग मांसाहार करते है, शौक और प्रतिष्ठा के तौर पर भी करते है, लेकिन वे स्वयं जानते है कि यह सामाजिक दृष्टि से निंदनीय है, त्याज्य है, अपराध है। यही तो उस महापुरुष की अमूल्य देन है।

लेकिन गहराई से विचार करने पर ऐसा लगता है कि उनके द्वारा प्रस्तुत की गई अहिंसा, चित्त-शुद्धि एवं समभाव के आदर्श को सामने रखकर अधिकांशतः व्यक्तिनिष्ठ रही, समाज-व्यापी नहीं बन पायी। समाज मे यानी व्यक्तियों में अहिंसा का प्रवेश हो जाना एक बात है और समाज का अहिसक बन जाना बिल्कुल दूसरो बात है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज का जो जैन समाज है, वह तो पूरा का पूरा अहिंसा-निष्ठ ही है। पानी छान कर पीना, व्रत-उपवास करना, रात्रि भोजन न करना, हरी साग-सब्जी का मर्यादापूर्वक सेवन करना, अभक्ष्य पदार्थो का त्याग, मद्य-मांस-मधु का त्याग तथा ऐसे फलों का, पदार्थों का त्याग जो जमीकंद है, यह सब अहिंसा का पालन नहीं तो क्या है? ठीक है, स्थूल रूप में समाज में यह अहिसा व्याप्त है। पर यह सब पारिवारिक संस्कार हैं। संस्कार में धर्म तब प्रविष्ट होता है जब चितन एवं अभ्यास के द्वारा आगे बढ़ा जाता है। राष्ट्रीय अथवा सामूहिक दृष्टि से देखा जाय तो जैन समाज को अहिसक समाज कहना कठिन है। पूर्वजों के अनुभवों का लाभ उसे अनायास मिल गया है। उसके पास इस युग का कोई नया अनुभव, नया प्रयोग नही है। जैन समाज की स्थिति तो वैसी ही है, जैसे एक श्रीमन्त के अयोग्य-अकर्मण्य पुत्र की होती है। जैनों की अहिसा केवल जीवों के न मारने तक सीमित रह गयी है। जीवों में भी केवल एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियों तक। इसका परिणाम यह हुआ कि शोषण, संग्रह तथा मिथ्याचरण में हिसा नही दीखती।

उस जमाने में अहिसा की जो मर्यादा या धारणा थी, महावीर उससे आगे गये, उसमे क्रान्ति की। लेकिन समाज जहाँ का तहाँ रह गया। अहिंसा का समग्र विकास नहीं हो पाया। महावीर ने तो अहिंसा की साधना को सफल व परिपूर्णता तक पहुँचाने के लिए सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि गुणों का भी विधान किवा। फिर भी अहिंसा मात्र खाने-पीने तक सीमित रह गयी। अहिंसा का उनका प्रयोग प्राणी दया, मांस परित्याग के आगे परिस्थितिवश जा न सका।

लेकिन इसका यह मतलब नही कि अहिंसा की शक्ति हमारे हाथ में आ गयी है । विश्व में आज शस्त्र-शक्ति, संहार-शक्ति बड़ी तेज गति से बढ़ रही है। हर देश परमाणविक शक्ति से सम्पन्न होना चाहता है । मिनटों में अब राष्ट्र धराशायी हो सकते हैं । ऐसी स्थिति में आत्म-बल की सहायता से यदि अहिंसक शक्ति नही बढती है तो सर्वनाश निश्चित ही है । अभी तो हम अहिंसा विश्वविद्यालय में, नितांत प्रारम्भिक नर्सरी कक्षा में ही विचर रहे है—स्थूल रूप में खान-पान में ही पूर्ण अहिंसावादी होने का श्रेय ले लेना चाहते है । इन सब स्थूलताओं से ऊपर उठे बिना अहिंसा विराट् शक्ति का दर्शन होने वाला नही है ।

हमने अपने को अहिंसक बनाने या मानने की दिशा में काफी धोखा दिया है । तरह-तरह के आचार-विचार गढ़कर, व्रत-नियम बनाकर मान लिया कि इतने अंश मे हम अहिंसक हो गये है । किसी जीव को नहीं मारना चाहिए । इसका परिणाम यहाँ तक आया कि हम स्थूल रूप से जीव को न मारने मे अहिंसा समझने लगे । किसी मरते हुए को बचाने की वृत्ति विकसित नही हुई—बल्कि क्षीण हो गयी । दूसरी ओर जीव को न मारने की वृत्ति इतनी विकृत हो गयी कि सट्टे, सौदे, सोने-चांदी, जवाहरात के व्यापार मे अहिंसा दीखने लगी । धन के संग्रह मे हिंसा कैसे दीखती ? बल्कि खेती-बाड़ी तथा सेवा-कार्यो मे हिंसा दीखने लगी । कर्म-बंध को ढीला करने या स्वर्ग प्राप्ति के लिए, मान ले आत्म-शांति के लिए उपवास या तपस्या करने वाला व्यक्ति ब्याज लेने में, शोषण करने में, हिसाब-किताब की अनैतिकता में हिंसा नही देखता । मिलावट करने वाला भी अपने हाथ से हिंसा कहाँ करता है ?

'जीओ और जीने दो' का नारा खूब चलता है । यह वास्तव मे स्वार्थपरक उक्ति है । पहले हम स्वयं जीये और तब दूसरे जीयें (चाहे जैसे) —यह ध्वनि इसमे से निकलती है । मानो किसी को जिलाने की हमारी जिम्मेदारी ही नही है । 'जीने दो' कहकर सिर्फ यह कहा गया कि 'मारो मत ।' अपनी ओर से किसी को छेड़ो मत, सताओ मत । असल में यह पलायन का स्वर है । इसके स्थान पर हमारा नारा होना चाहिए **'जिलाकर जीओ ।'** दूसरे को जीने का भरपूर अवसर देकर ही हम जीवित रह सकते हैं । खिलाकर खाने में, पिलाकर पीने मे जो स्वाद है, जो रस है, जो तृप्ति है, वही आनन्द जिलाकर जीने में है । स्वयं मर-मिटकर भी अगर हम दूसरे को जिलाये रख सके तो उसकी कीमत बहुत अधिक है । यह विज्ञान-युग का ही नहीं, स्थूल से स्थूल आर्थिक व्यवहार का भी स्वर्ण सूत्र है । आर्थिक क्षेत्र में साझेदारी का, ट्रस्टीशिप का, बांटकर खाने का विचार फैल

रहा है, यह भी जिलाकर जीने की प्रक्रिया है। इसके विना जीवन में अहिंसा मूर्त्त नही हो सकेगी।

यूरोप में हॉलैंड एक छोटा-सा देश है। वहाँ की कुल आबादी डेढ करोड़ है। वहाँ की राज्य-व्यवस्था विकेन्द्रित है। सत्ता, पंचायतों या म्युनिसिपल कमेटियों के हाथ में है। केन्द्रीय व्यवस्था के पास कोई पुलिस बल नही है। लेकिन समाज व्यवस्था भी इतनी मानवीय है कि कह सकते है कि वहाँ अहिंसा तेजस्वी रूप में व्याप्त है। वहाँ के परिवार गरीब देशों के, गरीब परिवारों के लड़के-लड़कियों को अपने परिवार में दत्तक लेकर आत्मीयता से पालते है। ऐसे बालक-बालिकाएँ वहां ४० हजार हैं। हमारे यहां भी लोग दत्तक लेते है, पर स्वार्थवश और सो भी लड़कों को। वहां यह परिपाटी मात्र मानवता की दृष्टि से है। घरों में सफाई का यह हाल कि सार्वजनिक शौचालय घरों के संडास से भी साफ रहते है। न वहां छल-कपट है, न भ्रष्टाचार। हम उन्हें मांसाहारी अर्थात् मलेच्छ कहने में संकोच नही करेंगे—उनको हिंसक कहेंगे, उनके हाथ का छुआ खायेंगे-पियेंगे नही। हमारे त्यागी-संन्यासी तो अपने ही देश में शूद्र-जल आदि का त्याग कराके ही चुप नहीं बैठते। अमीर-गरीव का, ऊँच-नीच का, जाति-विजाति का न जाने कैसा-कैसा भेद बढ़ाकर हिंसा को बढ़ाते रहते है और कहलाते है अहिंसाव्रती।

जब हम अहिंसक समाज की बात करते है तो हमारे सामने कई प्रश्न खड़े होते है। जहाँ तक हम समझते है, अहिंसक समाज का स्वरूप नीचे लिखे आधारों पर निर्भर होगा—

१. अहिंसा-सिद्धि के लिए नित नये प्रयोग होते रहेंगे।
२. वह समाज अपने में स्वयं पूर्ण और स्व-शासित होगा।
३. वह पूर्णतया स्वावलम्बी होगा।
४. वह सत्ता और शस्त्र से मुक्त होगा, उनसे निर्भय होगा।
५. उस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिग्रह का मूल्य कतई नहीं रहेगा। सम्पत्ति और परिग्रह (संचय) चोरी की तरह राष्ट्रीय गुनाह माना जायेगा।
६. वह सेवानिष्ठ, सेवामय समाज होगा।
७. वह समाज राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसे उद्योग-धंधों को अपनायेगा जिनके द्वारा राष्ट्र स्वावलम्वी, आत्मनिष्ठ बनेगा। ऐसे उद्योग-धंधों में होने वाली थोड़ी-बहुत हिसा क्षम्य होगी, वह अहिसा ही मानी जायेगी

और उसमें भी संशोधन होते रहेगे । लेकिन उन उद्योगों को कतई महत्त्व नही दिया जायेगा जो शोषण के आधार होंगे—कुछ की पेटियाँ भरें और करोड़ों का पेट खाली रहे ।

८. यन्त्रों का विरोध न होगा, लेकिन उनके उपयोग की मर्यादा रहेगी । वह मर्यादा सामूहिक, सामाजिक विकास पर निर्भर होगी । उसमे वर्ग-विषमता व शोषण का कोई स्थान न होगा ।

९. वह समाज श्रम-परायण होगा । हर व्यक्ति अपने श्रम द्वारा उपार्जित वस्तुओं का उपयोग करेगा । जाति या वर्णगत भेदभाव नही रहेगा । हर आदमी हर काम करने के लिए तत्पर रहेगा । कोई भी काम हलका-भारी, छोटा-वड़ा नहीं माना जायेगा ।

१०. व्यक्तियों द्वारा जो कुछ निर्माण या उत्पादन होगा, उस पर पूरे समाज की मलकियत होगी ।

अहिंसक समाज की रचना के लिए यह जमाना अतीव अनुकूल है । आज मानव समाज विज्ञान की मदद से अति विकसित स्थिति में पहुँच गया है । वह जागृत हो गया है । पुराने मूल्य समाप्त हो रहे हैं । मूल्य-परिवर्तन की क्रांति ही अहिंसा है । विनोवाजी कहते हैं—

"समाज में आज जो मूल्य स्थापित है, उन्हे ही हम वदल देना चाहते है । हम चाहते है कि मत्री से भंगी तक की सेवा का दर्जा समान वना दिया जाये । पैसे की कीमत मैं नही मानता । मैं पूछता हूँ कि जिन मेहतरों को स्वराज्य में प्रतिष्ठा हासिल नही है, उनके लिए स्वराज्य की क्या कीमत है ? दूसरा सवाल मैं यह पूछता हूँ कि हम जैसों की क्या कीमत है जो स्वराज्य मे मेहतरो से इस तरह गुलाम वनाकर काम लेते है ? एक वह भी गिरे, हम भी गिरे । दोनों की नैतिक कीमत नही जैसी है । वहनों को जड वस्तु माना जाता है । इसके वजाय उनको पेटी मे वन्द करके रखते तो ज्यादा कीमत हो जाती ।"

अहिंसा सिद्धान्त नही है, एक वृत्ति है । यह वृत्ति जितनी व्यापक होगी, उतनी ही अहिंसा जीवन मे व्यक्त होगी । हर व्यवहार में इस वृति के प्रति जागरूकता ही अहिंसा की उपलब्धि है । सिद्धान्त वनकर तो अहिंसा मात्र ढाँचा ही रह जाती है और हम देखते है कि अहिंसा को सिद्धान्त मानने के क्या-क्या नतीजे देश और समाज को भुगतने पड़े है ।

—सारनाथ (उ० प्र०)

☐ उदारता करुणा तथा प्रसन्नता की जननी है ।



वर्तमान अर्थव्यवस्था और अहिंसा

□ डॉ० नरेन्द्र भानावत

वर्तमान अव्यर्थवस्था और अहिंसा का विचार सामान्यतः लोगों को अटपटा लग सकता है, कारण कि वर्तमान युग में अर्थ नीति और राजनीति का जो प्रतिस्पर्धात्मक माहौल बना हुआ है, उसके मूल में प्रत्यक्ष-परोक्ष हिंसा का ही व्यवहार है। पर यह भी देखने में आया है कि धार्मिक वृत्ति के लोग आर्थिक दृष्टि से प्रायः अधिक समृद्ध है और व्यावसायिक क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा भी है, अतः आर्थिक क्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र के पारस्परिक प्रभाव और दाय पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा। भारतीय मनीषियों ने जीवन को समस्या के रूप में न देख कर पुरुषार्थ के रूप में देखा है तथा अर्थ और काम को कर्म द्वारा नियन्त्रित करने का विधान किया है। भगवान महावीर के समय में आनन्द आदि जो श्रावक थे, उनके पास करोडों की सम्पत्ति थी और वे व्रतधारी श्रावक थे। आज भी विभिन्न धर्मों के अनुयायी करोड़पति है। अतः धार्मिक तत्त्व आर्थिक समृद्धि में बाधक होते हैं, ऐसा मानना ठीक नही। धर्म-परम्परा द्वारा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, त्याग वृत्ति, संयम-नियम जैसे सद्‌गुण विकसित होकर समाज में एक ऐसा नैतिक ढांचा निर्मित करते है जो आर्थिक जीवन को प्रभावित किये बिना नही रहता।

अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से आज संसार दो वर्गो में बंटा हुआ है—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और मार्क्सवादी, समाजवादी या साम्यवादी व्यवस्था। दोनों व्यवस्थाओं में मौलिक और बुनियादी अन्तर सम्पत्ति के स्वामित्व को लेकर है। पूजीवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार सुरक्षित है तो साम्यवादी व्यवस्था में सम्पत्ति पर समाज या राज्य का अधिकार है। अर्थशास्त्र में उत्पादन के साधन—श्रम, भूमि, पूजी, उपकरण आदि सम्पत्ति माने गये हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार होता है जबकि समाजवादी व्यवस्था में इन पर समाज या राज्य का स्वामित्व होता है। दोनों व्यवस्थाएं कम श्रम या लागत से अधिक सुख प्राप्त करना अपना लक्ष्य मानती हैं। दोनों में अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने और आवश्यकताएँ बढ़ाने की प्रवृत्ति समान रूप से है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था में लाभ या मुनाफा व्यक्ति की जेब में जाता है जबकि समाजवादी या साम्यवादी व्यवस्था में यह लाभ जिसे मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' कहा है, किसी व्यक्ति की जेब में न जाकर केन्द्रीय संगठन या राज्य के खजाने में जाता है।

दोनों व्यवस्थाओं मे पूंजी का समान महत्त्व है। एक में पूंजी पर वैयक्तिक अधिकार होने से उसका केन्द्रीकरण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच होता जाता है और वह अनैतिक तरीकों से भी उसे संगृहीत करने का प्रयत्न करता है। इन प्रयत्नो में कर चोरी, तस्करी, मिलावट, कम नाप-तोल, अधिक श्रम लेकर कम देने की प्रवृत्ति आदि शामिल है। इससे समाज में अमीर के अधिक अमीर होने की और गरीब के अधिक गरीब होने की स्थिति बनी रहती है। फलस्वरूप अमीर और गरीब की खाई बढती जाती है। जो असली श्रमिक है, उत्पादक है, उसे अपने श्रम की पूरी लागत न मिलना मानवीय शोपण है। लाभ की इस प्रवृत्ति से अधिकाधिक संग्रह करने की होड़ बढ़ती है। कृत्रिम रूप से वस्तुओं का अभाव पैदा कर कीमतें बढाई जाती है, कालाबाजारी की जाती है और लाखों करोड़ों लोगों को दो जून रोटी के लिये वंचित कर दिया जाता है। मानवीय हिंसा का यह निकृष्टतम रूप है। इस हिंसा और शोपण से मानव समाज को मुक्त करने के लिये मार्क्स ने सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को छीनकर उसे राज्य के हवाले कर दिया। इस व्यवस्था में जो लाभ होता है, वह राज्य द्वारा लोगों को रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी सुविधाएं जुटाने में खर्च किया जाता है। इससे, व्यक्ति व्यक्ति द्वारा शोषण की प्रवृत्ति तो रुकती हुई दिखाई देती है पर एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को हथियाने की कोशिशे लगातार चालू रहने से रक्तपात लूट-खसोट और विश्वयुद्ध का खतरा बराबर बना रहता है। इस व्यवस्था में पूजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयत्न तो किया गया, पर पूंजीवादी टेकनीक का आलम्बन नही छोड़ा गया, फलस्वरूप तीव्र औद्योगिकरण की प्रक्रिया वैसी की वैसी बनी रही। दोनो व्यवस्थाओं में उत्पादन पर और उसमे निरंतर विकसित होती हुई तकनीक के प्रयोग पर किसी प्रकार के नियन्त्रण की व्यवस्था न होने से पूजी का केन्द्रीकरण रुकता नही। इस प्रकार शोपण का दमनचक्र दोनो व्यवस्थाओ मे समान रूप से चालू रहता है।

वर्तमान अर्थव्यवस्था में वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और विनिमय पर अधिक जोर दिया गया है। मशीनो के प्रयोग से उत्पादन में कई गुणा वृद्धि हुई है। उत्पादित माल को खपाने के लिये, नये-नये बाजार ढूढने की प्रतिस्पर्धा बढ़ी है। जिसके फलस्वरूप अर्थसत्ता का राजसत्ता पर हावी होने का दुष्चक्र तेजी से चलने लगा है। अर्थसत्ता और राजसत्ता के गठबन्धन ने विश्व में हिंसा और शोपण के चक्र को और दृढता से कस दिया है। मार्क्स ने शोपण को मिटाने के लिए हिंसा को क्रांतिकारी साधन के रूप मे अपनाया पर उससे शोपण तो न मिटा वरन् प्रतिहिंसा की ज्वाला में ससार और तेजी से जलने लगा, साथ ही व्यक्ति का स्वातन्त्र्य और उसका गौरव भी नष्ट हो गया। व्यक्ति व्यवस्था का पुर्जा मात्र बनकर रह गया।

अधिकाधिक उत्पादन कर अधिकाधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति ने व्यक्ति की आवश्यकताओं और इच्छाओं को असीमित रूप से बढ़ा दिया है। तीव्र औद्योगिकरण से आर्थिक वैषम्य बढने के साथ-साथ प्रदूषण की एक विकट समस्या पैदा हो गई है जो सम्पूर्ण मानवता के विनाश का कारण बन सकती है। प्रदूषण से हिंसा का खतरा भी अधिक बढ़ गया है। कारखानों से निकलने वाली विषैली गैसों, विषाक्त एवं हानिकर तरल पदार्थों एवं रासायनिक तत्त्वों के कारण जल प्रदूषण एवं वायु प्रदूषण इतना अधिक हुआ है कि पश्चिम के औद्योगिकृत देशों को ही नही, अन्य देशों को भी इससे खतरा पैदा हो गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के झील प्रदेश के आसपास के कारखानों द्वारा इतना अधिक हानिकर तरल पदार्थ झीलों में बहा दिया जाता है कि उससे लाखों मछलियां मर जाती है। जापान के आसपास के समुद्री जल की भी यही स्थिति है। यह अनुमान लगाया गया है कि अगले २० वर्षो में भूमध्य सागर जैविक दृष्टि से मृत प्राय: हो जायगा क्योंकि उसके आसपास स्थित कल कारखानों का विषैला जल इतनी अधिक मात्रा में उसमें बहा दिया जाता है कि अब तक उसके आधे जीवों का विनाश हो चुका है।

वायुमंडल का प्रदूषण भी कम भयंकर नहीं। इंगलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी एवं जापान के अतीव औद्योगीकृत क्षेत्रों के कारखानों द्वारा इतनी अधिक मात्रा में विषैली गैसों को वायु मण्डल में विसर्जित किया जाता है कि स्वास्थ्य के लिये खतरा उत्पन्न हो गया है। भारत में भी अहमदाबाद, वड़ौदा के आसपास स्थित पेट्रोलियम, पेट्रोरसायन उर्वरक तथा अन्य रासायनिक उद्योगों के समक्ष विषैले एवं हानिकारक निरर्थक पदार्थो के निष्कासन की समस्या उत्पन्न हो गई है। बम्बई एव कलकत्ता के चारों ओर स्थित कारखानों के द्वारा निष्कासित हानिकर निरर्थक पदार्थों का विसर्जन समुद्री जल एवं हुगली नदी में होता है जो उनके जलचरो के विनाश का कारण वनता जा रहा है। जल और वायु प्रदूषण की तरह अणु-परीक्षण की रेडियोधर्मिता और कीटाणुनाशक दवाइयों के प्रयोग से थल प्रदूषण की समस्या भी उभर कर सामने आ रही है। इस प्रकार तीव्र औद्योगिकरण से मानव-शोषण के अतिरिक्त हिंसा की नई-नई संभावनाओं के क्षेत्र खुलते जा रहे हैं। सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण में खरगोश, ह्वेल मछली, सिवेट, भेड़, मैमना, मृग आदि की हिंसा के प्रसंग दिल दहलाने वाले हैं।

मानव सभ्यता के विकास में औद्योगिक क्रांति ने नये हस्ताक्षर किये पर यह किसे पता था कि यह क्रांति जानलेवा बन जायेगी। शोषण और हिंसा के इस दुष्चक्र से मानव की मुक्ति कैसे हो, यह विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध मे दोनो प्रकार की अतिवादी अर्थ व्यवस्था से बचते हुए महात्मा गांधी ने ग्राम

मर्यादा रखी जाती है, उसका संकोच होता है और आवश्यकतायें उत्तरोत्तर सीमित होती है।

उपर्युक्त चारों सूत्रों में जिन मर्यादाओं की बात कही गयी है वह व्यक्ति की अपनी इच्छा और शक्ति पर निर्भर है। भगवान् महावीर ने यह नहीं कहा कि आवश्यकतायें इतनी इतनी सीमित हों। उनका सकेत इतना भर है कि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आवश्यकतायें सीमित करे, इच्छाये नियन्त्रित करे क्योंकि यही परम शान्ति और आनन्द का रास्ता है। आज की जो राजनैतिक चिन्तनधारा है उसमें भी स्वामित्व और आवश्यकताओं को नियन्त्रित करने की बात है। यह नियमन, नियन्त्रण और सीमांकन विविध कर पद्धतियों के माध्यम से कानून के तहत किया जा रहा है। यथा—आयकर, सम्पत्तिकर, भूमि और भवन कर, मृत्यु कर और नागरिक भूमि सीमाकन एवं विनियमन अधिनियम (अरबन लैण्ड सीलिग एण्ड रेग्यूलेशन एक्ट) आदि।

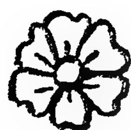
भगवान् महावीर ने अपने समय में, जबकि जनसंख्या इतनी नही थी, जीवन की जटिलतायें भी कम थीं, तब यह व्यवस्था दी थी। उसके वाद तो जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई है, जीवन पद्धति जटिल बनी है, आर्थिक दवाव बढा है, आर्थिक असमानता की खाई विस्तृत हुई हैं, फिर भी लगता है कि महावीर द्वारा दिया गया समाधान आज भी अधिक व्यावहारिक और उपयोगी है क्योंकि कानून के दवाव से व्यक्ति वचने का प्रयत्न करता है, पर स्वेच्छा से उसमें जो आत्मानुशासन आता है, वह अधिक प्रभावी वनता है।

भगवान महावीर ने आवश्यकताओं को सीमित करने के साथ-साथ जो आवश्यकताएं शेप रहती हैं, उनकी पूर्ति के लिए भी साधन शुद्धि पर विशेप वल दिया है। महात्मा गांधी भी साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता को भी महत्त्व देते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि व्रत, साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक है। इन व्रतों के पालन और इनके अतिचारों से वचने का जो विधान है, वह भाव-शुद्धि और अहिंसक दृष्टि का सूचक है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा से वचना चाहिए। उसे ऐसे नियम नही वनाने चाहिए जो अन्याययुक्त हों, न ऐसी सामाजिक रूढियों के वन्धन स्वीकार करने चाहिए जिनसे गरीवों का अहित हो। अइभार (अतिभार) अतिचार इस वात पर वल देता है कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से निश्चित समय से अधिक काम न लिया जाये, न पशुओं, मजदूरो आदि पर अधिक वोझ लादा जाए और न वाल-विवाह, अनमेल विवाह और रूढियों को अपनाकर जीवन को भारभूत वनाया जाए। भत्त-पाण-विच्छेद अतिचार से यह तथ्य गृहीत होता है कि व्यक्ति अपना व्यापार इस प्रकार करे कि उससे किसी का भोजन व पानी न छीना जाय।

सत्याणुव्रत में सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया है। कहा गया है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए कन्नालीए अर्थात् कन्या के विषय में, गवालीए अर्थात् गो के विषय में, भोमालीए अर्थात् भूमि के विषय में, णासावहारे अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ न बोले। कूडसक्खिजे अर्थात् झूठी साक्षी न दे। इसी प्रकार सत्यव्रत के अतिचारों से बचने के लिये कहा गया है कि बिना विचारे एकदम किसी पर दोषारोपण न करें, दूसरों को झूठा उपदेश न दे, झूठे लेख, झूठे दस्तावेज न लिखें, न झूठे समाचार या विज्ञापन आदि प्रकाशित करायें और न झूठे हिसाब आदि रखे।

अस्तेय व्रत की परिपालना का, साधन शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरों के हकों को स्वयं हरण करना और दूसरों से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म बनते जा रहे हैं। सेध लगाने, डाका डालने, ठगने, जेब काटने वाले ही चोर नहीं है बल्कि खाद्य वस्तुओं में मिलावट करने वाले, एक वस्तु बताकर दूसरी लेने-देने वाले, कम तोलने और कम नापने वाले, चोरों द्वारा हरण की हुई वस्तु खरीदने वाले, चोरों को चोरी की प्रेरणा करने वाले, झूठा जमा-खर्च करने वाले, जमाखोरी करके बाजारों में एकदम से वस्तु का भाव घटा या बढ़ा देने वाले, झूठे विज्ञापन करने वाले, अवैध रूप से अधिक सूद पर रुपया देने वाले भी चोर हैं। भगवान महावीर ने अस्तेय व्रत के अतिचारों में इन सबका समावेश किया है। इन सूक्ष्म तरीकों की चौर्यवृत्ति के कारण ही आज मुद्रा-स्फीति का इतना प्रसार है और विश्व की अर्थव्यवस्था चरमरा रही है। एक ओर काला धन बढ़ता जा रहा है तो दूसरी ओर गरीब अधिक गरीब बनता जा रहा है। अर्थव्यवस्था के संतुलन के लिये आजीविका के जितने भी साधन हैं, पूंजी के जितने भी स्रोत हैं उसका शुद्ध और पवित्र होना आवश्यक है।

इसी संदर्भ में भगवान् महावीर ने ऐसे कार्यों द्वारा आजीविका के उपार्जन का निषेध किया है जिनसे पाप का भार बढ़ता है और समाज के लिए जो अहितकर हों ऐसे कार्यों की संख्या शास्त्रों में पन्द्रह गिनाई गयी हैं और इन्हे 'कर्मादान' कहा गया है। इसमें से कुछ कर्मादान तो ऐसे हैं जो लोक में निन्द्य माने जाते हैं और जिनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट होती है। उदाहरण के लिए, जंगल को जलाना (इंगालकम्मे), शराब आदि मादक पदार्थों का व्यापार करना (रसवाणिज्जे), अफीम, संखिया आदि जीवन नाशक पदार्थों को बेचना (विसवाणिज्जे), सुन्दर केश वाली स्त्रियों का क्रय-विक्रय करना (केसवाणिज्जे), वन दहन करना (दवग्गिदावणियाकम्मे), असज्जनों अर्थात् असामाजिक तत्त्वों का पोषण करना (असईजणपोसणियाकम्मे) आदि कार्यों को लिया जा सकता है।



अहिंसक अर्थव्यवस्था

□ श्री सिद्धराज ढड्ढा

भारत समेत दुनियाभर में आज जो अर्थ व्यवस्था प्रचलित है वह सौ फीसदी हिंसक है। आज के उद्योग और व्यापार का एकमात्र लक्ष्य उपभोक्ता का शोषण करना तथा मुनाफा कमाने का है। वास्तव में आर्थिक प्रवृत्ति का या उद्योग-व्यापार का मुख्य उद्देश्य लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिये। शिक्षा, चिकित्सा आदि अन्य सामाजिक सुविधाओं की तरह उत्पादन और व्यापार की प्रक्रियाएं भी सामाजिक सेवा के रूप में ही चलनी चाहिये।

भारत मे परम्परागत रूप से इनकी यही भूमिका रही थी। यहां की खेती और गांव-गांव मे चलने वाले उद्योग-धन्धे सब जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही चलते थे। इन वस्तुओ का आज जैसा व्यापार नगण्य था। आज वस्तुओ का उत्पादन केवल आवश्यकता पूर्ति के लिये नहीं होता, बल्कि उत्पादन को खपाने के लिये नई-नई आवश्यकताएं सर्जित की जाती है। इसके अलावा, बड़े पैमाने पर विज्ञापन और प्रचार किया जाता है, तरह-तरह के आकर्षक आवरण में इन्हे पेश किया जाता है। पहले, वस्तुएं अधिक से अधिक टिकाऊ हो, इस प्रकार से बनाई जाती थी। पुराने घरो मे अब भी लोग गर्व के साथ बताते है कि अमुक चीज हमारे यहां सौ बरस से या इतनी पीढियों से काम आ रही है। आज हर साल वस्तुओं के नये मॉडल तैयार करके फैंके जाते है। १९९३ में १९९१ का मॉडल खरीदना हेठी की बात समझी जाती है। पुरानी चीज काम दे रही हो तब भी उसका नया मॉडल निकलने पर लोग पुराने मॉडल को कूड़े के ढेर मे फैंक देते है। पश्चिमी देशों मे तो आम तौर पर यही हो रहा है।

जाहिर है कि इस उत्पादन-पद्धति से केवल उपभोक्ता का या लोगों का ही शोषण नही होता बल्कि प्राकृतिक संसाधनो का भी शोषण और दुरुपयोग हो रहा है। स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि कोयला, तेल, लकड़ी जैसी चीजों के प्राकृतिक भंडार समाप्त होने जा रहे है। खेती के द्वारा जमीन से पैदा होने वाली फसलों के अलावा खनिज आदि ऐसी चीजे है

जिन्हें प्रकृति के गर्भ में तैयार होने में सैंकड़ों-हजारों बल्कि लाखों वर्ष लगते हैं। पेड़ों से प्राप्त होने वाली लकड़ी भी बीसियों बरसों में तैयार होती है। लेकिन आज की उपभोक्ता संस्कृति के कारण इन चीजों की अनाप-शनाप खपत हो रही है। कोयले और पेट्रोल के भंडार जिनके बनने में हजारों-लाखों वर्ष लगे होंगे, वे अब कुछ सालों के लिये ही बचे हैं, ऐसा तक लोग कहने लगे हैं। सैंकड़ों-हजारो बरसों से चले आ रहे जंगल, अनेक जगह बिलकुल साफ हो चुके हैं और अन्य जगह तेजी से कट रहे है। जंगलों के बाद अब खनिज पर मुनाफाखोरो और व्यापारियों की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई है। पिछले कुछ बरसों में भारत समेत दुनिया के अनेक देशों में खनिज-काम तेजी के साथ बढ़ा है। पहले संगमरमर के लिये लोग केवल मकराना का नाम जानते थे, आज राजस्थान में ही सैकड़ों जगह मार्बल की खुदाई चल रही है। मतलब यह है कि वर्तमान आर्थिक पद्धति, उद्योग और व्यापार इस प्रकार चल रहे हैं कि वह आज की पीढ़ी का ही शोषण नहीं कर रहे हैं बल्कि आगे आने वाली कई पीढ़ियों के हिस्से की वस्तु भी उन्होंने समाप्त कर दी है।

आज की इस हिंसक अर्थव्ययस्था के बजाय अहिंसक व्यवस्था कैसी होगी? जाहिर है कि अहिसक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य आवश्यकताओं की पूर्ति का होना चाहिये, मुनाफा कमाने के लिये अधिक से अधिक चीजें तैयार करने का नहीं। आवश्यकताएं भी वे जो स्वाभाविक और जीवन के लिये जरूरी हों—जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि। मुनाफे के लिये विज्ञापनबाजी के जरिये नई-नई आवश्यकताएं पैदा करना अहिंसक पद्धति में नहीं बैठता। आदमी की आवश्यकताएं भी सीमित होनी चाहिये, जीवन सादा और सरल होना चाहिये, तड़कीला-भड़कीला नहीं। आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना और अपने आसपास अनावश्यक सामान का संग्रह करना वास्तव में सामाजिक अपराध है। इसीलिये अपरिग्रह और असंग्रह को मनुष्य के धर्म में शामिल किया गया है।

हमारी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी यथासंभव ऐसी वस्तुओं से होनी चाहिये जो आसानी से और बार-बार हमें प्राप्त हो सकती हों, यानी जो रिन्युएबल रिसोर्सेज (Renewable Resources) द्वारा प्राप्त हो सकती हों, तथा हमारे आसपास उपलब्ध हो सकती हों। स्वदेशी का वास्तविक अर्थ आज की तरह केवल अपने देश में बनी चीज नहीं है। स्वदेशी केवल वस्तुओं का विशेषण नहीं है, वह एक सिद्धान्त है, एक मानसिक वृत्ति है। स्वदेशी का सिद्धान्त केवल भौतिक वस्तुओं को ही लागू नहीं होता बल्कि जीवन से संबंधित प्रत्येक क्रिया को लागू होता है। उदाहरण के लिये, सेवा भी पहले सबसे नज-

को नियंत्रित करना तथा अत्यधिक हिंसा की गतिविधियों को वन्द करना ही अहिंसाजनक हो सकता है।

आज प्रत्यक्ष रूप से सबसे अधिक हिंसा वूचड़खाने तथा मांसाहारी व्यवसाय से हो रही है। आज वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध हो चुका है कि मांसाहार मानव-शरीर के लिए हानिकारक है तथा शाकाहार ही स्वस्थ एवं निरोगी शरीर के लिए लाभदायक है। यदि मांसाहारी प्रवृत्ति को त्यागकर शाकाहारी प्रवृत्ति को अपनाया जाय तो प्रत्यक्ष रूप से होने वाली सबसे अधिक हिंसा को रोका जा सकता है। आवश्यकता है शाकाहारी चेतना जागृत करने की तथा सरकार पर दवाव डालने की कि केवल विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए प्रत्यक्ष हिंसा आवश्यक नहीं है। विदेशी मुद्रा अन्य उत्पादों के निर्यात से तथा आयात प्रतिवन्ध से भी संभव है। इसी प्रकार चमड़ा उद्योग की सीमा निर्धारित करनी होगी। मुलायम जूतों तथा वैग इत्यादि का उपयोग सभी को अच्छा लगता है लेकिन उसमें होने वाली हिंसा की ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है।

आवश्यकता इस वात की है कि हम इस प्रकार के विकल्प सोचें जिनसे प्रत्यक्ष हिंसा को कम करके ऐसे उत्पादों का उपयोग करें जिनमे कम हिंसा हो। जैसे चमड़े की जगह प्लास्टिक के उत्पाद इसका उदाहरण हैं। उनके वने उत्पादों पर यदि ध्यान दे तो आश्चर्य होगा कि मंहगी एवं मुलायम ऊन भेड़ के वच्चे की पहली ऊन से वनती है। आप सोचिये कि उस अपरिपक्व जानवर को कितनी पीड़ा होती होगी। यदि अपनी प्रवृत्ति को वदलकर हम सूती वस्त्रों या सिंथेटिक वस्त्रों को प्राथमिकता दें तो इस प्रकार की हिंसा से भी वचा जा सकता है। ऐसे कई सामान हैं जिनके वैकल्पिक उत्पादों को काम में लेकर या अपनी प्रवृत्ति को थोड़ा नियंत्रित कर हम हिंसा को कम कर सकते हैं।

हम उद्योग एवं व्यवसाय को भी इस प्रकार चलावें एवं इस प्रकार की व्यवस्था को विकसित करें जिससे हिंसा को कम किया जा सके। वर्तमान समय में निम्नांकित सुझाव हिंसा को कम कर सकते हैं—

१. उत्पादन की किसी प्रक्रिया जिसमे अत्यधिक हिंसा होती हो, उसमें रक्षात्मक व्यवस्था प्रदान कर या उस प्रक्रिया की जगह ऐसी प्रक्रिया विकसित करलें जिसमें हिंसा को कम किया जा सके। कई ऐसे उद्योग है जिनमे कबूतर, चिड़िया तथा अन्य पक्षी फैक्ट्री विल्डिग में प्रवेश कर जाते है। वहाँ कई तरह की विजली की मोटर्स तथा इलेक्ट्रिक कैवल्स होते है जिनसे उनकी हत्या हो जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि फैक्ट्री गेट पर इस प्रकार की व्यवस्था हो जिससे पक्षी अन्दर न आ पायें ताकि उनकी हिंसा नही हो तथा केवल्स तथा मोटर्स खुले रूप मे नहीं हों।

२. दवाइयाँ एवं सौंदर्य-प्रसाधन उत्पादन की प्रक्रिया में परीक्षण चूहों, खरगोश तथा अन्य प्राणियों पर किये जाते हैं जो गहन परीक्षण के दौरान ही

मर जाते हैं। इन उद्योगों में परीक्षण की ऐसी तकनीक की आवश्यकता है जहाँ परीक्षण जानवरों पर नहीं होकर अन्य विधि से हों तथा जीव-हिंसा कम की जा सके।

३. आज कई उद्योग ऐसे हैं जिनका प्रदूषित जल बाहर नदी-नालों में प्रवाहित कर दिया जाता है जिससे आप-पास का पेय जल, कृषि तथा पेड़ पौधे प्रभावित होते है। इससे कई तरह की बीमारियाँ फैलती हैं तथा पशु पक्षियों के मरने की काफी संभावना रहती है। इसको रोकने हेतु सरकार ने कई कदम उठाये हैं। उसी अनुरूप दूषित जल को साफ करके छोड़ा जाना चाहिये ताकि बाहर के वातावरण तथा पेयजल पर प्रभाव नहीं पड़े। यह समस्या विशेष रूप से चमड़ा तथा कपड़ा उद्योग से सम्बन्धित है जो कई तरह के रसायन तथा अम्ल को उपयोग के बाद दूषित पानी को ऐसे ही छोड़ देते हैं। गंगा के प्रदूषण का एक कारण ऐसे ही पानी का नदी में छोड़ा जाना है।

४. आज वायु प्रदूषण की समस्या सबसे खतरनाक है। आज उद्योग अपनी चिमनियों से प्रदूषित काला धुआँ एवं जहरीली गैसें छोड़ते हैं, उससे दीर्घकालीन प्रभाव हिंसा से किसी प्रकार कम नही है। यदि उद्योग अपने धुएँ की सफाई करके तथा सामान्य ऊँचाई में ऊपर छोड़ें तो वह खतरनाक नहीं रहेगा तथा किसी भी प्रकार से हानिकारक नही होगा। इसी प्रकार भोपाल गैस काण्ड की विभीषिका से सभी परिचित ही है जो जघन्य हिसा का कारण बनी है। यदि सुरक्षा के कड़े मापदण्डों का पालन किया जाय एवं तकनीकी सावधानी रखी जाय तो जहरीली गैस के रिसाव तथा प्रदूषण से बचकर हिंसा को कम किया जा सकता है।

५. यद्यपि श्रम कानून व्यापक रूप में उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों के कार्य, सुविधाएँ तथा कार्य की दशाओं के बारे में प्रावधान रखते हैं, लेकिन अभी भी कई उद्योग संगठित तथा विशेष रूप से छोटे उद्योग जिनमें छोटे-छोटे बच्चे जो अपनी स्कूली शिक्षा भी पूरी नहीं करते कि उनसे कठिन से कठिन कार्य कराया जाता है तथा शोषण की स्थिति बन जाती है। कई छोटे उद्योग ऐसे हैं जहाँ अभी भी बंधुआ मजदूर की स्थिति बरकरार है। यह किसी भी प्रकार से हिंसा से कम नहीं है। इसके लिए कानून की जगह एक आर्थिक समानता तथा विकासोन्मुख विचारधारा की आवश्यकता है जिसमें उद्योगपति अपने मजदूर भाइयों का शोषण नही करें तथा उनकी आधारभूत समस्याओं तथा कार्य की दशाओं का पूरा ध्यान रखे। साथ ही आवश्यकता इस बात की भी है कि कार्य की प्रक्रिया तथा प्रणालियाँ ऐसी हों जिनमें कम से कम दुर्घटना हो।

६. उत्पादक की गुणवत्ता एक बहुत ही मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। विशेष रूप से उपभोक्ता वस्तुओं तथा खाने पीने की वस्तुओं के उत्पादन तथा व्यापार में उनकी गुणवत्ता बनाये रखना अत्यावश्यक है। उत्पाद की गुण-

वत्ता में गिरावट से मानव एवं जीव मात्र पर बहुत ही बुरा असर होता है। कई बार ऐसा हुआ है कि व्यक्तियों एवं पशुओं को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा है। इसी प्रकार कई दवाइयाँ इस प्रकार की बनी है कि उनकी गुणवत्ता में गिरावट से बहुत नुकसान हुए है। इसी प्रकार मिलावट से भी मानव समाज को बहुत हानि होती है। इन सबको रोकने तथा अहिंसात्मक व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि उत्पाद की गुणवत्ता को बनाये रखा जाय तथा निरन्तर प्रयास हों कि वह प्राणीमात्र के लिए हानिकारक नही हो।

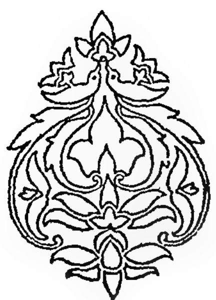
७. उद्योग तथा व्यवसाय में यदि ईमानदारी या सच्चाई की बात की जाय तो आज के युग में हास्यास्पद लगती है एव यही कहा जाता है कि सच्चाई से तो अब कुछ हो ही नही सकता। कम तोल, घटिया सामान या नकली वस्तुओ से उपभोक्ता को जो धोखा दिया जाता है, उससे उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है, यह भी किसी हिंसा से कम नही है। यदि किसी गरीब को खाने के नाम पर कम सामान तौलकर दिया जाय तो उसकी भूख एवं कमी किसी भी प्रकार से हिंसा से कम नही है। झूठे तरीकों से एवं धोखाधडी से कार्य करने से जिस व्यक्ति को नुकसान होता है, उसका दिल कितना दुखता है जो किसी भी हिंसा से कम नही है। आज आवश्यकता है कि सच्चाई तथा ईमानदारी से उद्योग-व्यवसाय का संचालन हो तथा किसी के साथ झूठ तथा धोखा नहीं हो।

किसी भी प्राणी का छेदन-भेदन तथा उसे आहार से परे करना हिंसा है। हिंसा का कोई भी कार्य करना, करवाना तथा करने वाले की सहायता तथा अनुमोदन करना भी व्यापक अर्थ में हिंसा है। इसे समझ कर यदि व्यवसाय तथा उद्योग का संचालन किया जाय एवं विवेक तथा सामयिक निर्णय तथा सुरक्षात्मक उपायों को अपनाया जाय तो अहिंसा की ओर अग्रसर होने में मदद मिलेगी, उससे सम्बन्धित सभी पक्षों को लाभ होगा व व्यर्थ की हिंसा से बचा जा सकेगा।

—जनरल मैनेजर, जे. के. टायर फैक्ट्री, कांकरोली

❀ व्यापार के क्षेत्र में भी वहीं सफलता प्राप्त करता है जो नीति और धर्म के नियमो का ठीक तरह से पालन करता है।

—आचार्य श्री हस्ती



सौन्दर्य-प्रसाधनों में बढ़ती हुई हिंसा

☐ डॉ. शान्ता भानावत

भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। यहां किसी जीव की हत्या का तो पूर्ण निषेध है ही पर विचारों द्वारा भी किसी के अहित का चिन्तन भी निषिद्ध है। अहिंसा का जहां इतना सूक्ष्म विवेचन है, वहां आज फैशन और आधुनिकता के नाम पर कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। फर के कोट, टोपियां, चमड़े के जूते, अटेचियां, रेशमी वस्त्र, तथा ड्रेसिंग टेबिल पर सजे कॉसमेटिक्स के सामान जैसे शैम्पू, परफ्यूम, (सुगन्धित इत्र) आफ्टर शेव लोशन, साबुन, तेल, क्रीम आदि को स्वयं के काम में लेकर अथवा विवाह, शादी आदि मांगलिक अवसर पर इन्हें भेंट देकर हम अपने आपको बडा समझते है, स्वयं की सूझ-बूझ पर बड़ा गौरव अनुभव करते है; पर इन चीजों के निर्माण में पंचेन्द्रिय जीवों की कितनी भयंकर हिंसा होती है, यह हमने क्या कभी जानने की कोशिश की है ?

कॉसमेटिक्स की प्रत्येक वस्तु पशुवध का कितना रक्तरंजित इतिहास अपने परिवेश मे छिपाये हुए है, यदि इसका पर्दाफाश किया जाय और प्रत्येक मां-बहन को इस करुण-कहानी से अवगत कराया जाये तो लगता है अवश्य ही ड्रेसिंग टेबिल के निकट जाकर भी वह इन कृत्रिम प्रसाधनों से नश्वर शरीर को सजाने का प्रयत्न नही करेगी, न ही अपने पारिवारिक सदस्यो को रक्तरंजित फर के कोट, टोपी, चमड़े के जूते, रेशमी वस्त्र पहनने को प्रेरित करेंगी।

प्रस्तुत निबन्ध में हम पशुरक्त से सने सौन्दर्य उपकरणों पर दृष्टि डालेंगे तथा यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि इन श्रृंगार प्रसाधनों के निर्माण में किस प्रकार पशुओं की हत्या होती है और उन्हे कैसा मर्मान्तिक कष्ट दिया जाता है।[१] फर की टोपी, जो नन्हें मुन्ने की मस्तक की शोभा या कोट जो पारिवारिक जन को ठंड से बचाये हुए है, उसकी करुण कथा सुनिये जरा—यह फर सील, खरगोश, भालू, लोमड़ी, ऊदबिलाव आदि जानवरों की चमडी से प्राप्त किया जाता है। सील एक समुद्री प्राणी है। फर उद्योग में इसका बड़ा महत्त्व है। सबसे मुलायम तथा मूल्यवान 'फर' सील के नवजात बच्चे का माना जाता है। इस नवजात बच्चे

---

१ यह विवरण रेखा सप्रू के निबन्ध (धर्मयुग : २ से ८ अक्टूबर, १९७७) के आधार पर दिया गया है।

को गोली से नहीं लाठी मार-मार कर मौत के घाट उतारा जाता है। गोली मारने से तो उसकी चमड़ी खराब हो जाती है। बेचारे की मृत्यु का पूरा इन्तजार भी नही किया जाता कि बेहोशी की हालत में उसकी चमड़ी खीच ली जाती है। ऐसे एक नही छः सात सील के बच्चे जब मारे जाते है तब कहीं एक कोट किसी के शरीर की शोभा बनता है। इसी तरह ऊदबिलाव, भालू, खरगोश आदि प्राणियों को भी बड़ी बेरहमी से पकड़ा जाता है, मारा जाता है फिर उनकी चमड़ी से फर जैसी घिनौनी वस्तु का निर्माण होता है।

आज की फैशन की दुनिया में सांप और मगरमच्छ के चमड़े की बड़ी कीमत है। किसी के हाथ की शोभा बढाने वाले उन पर्स को बनाने के लिये जीते जी सांपों की, मगरमच्छों की एक झटके से खाल उतार दी जाती है। इस खौफनाक मौत का नतीजा होता है किसी के पैर का खूबसूरत जूता या किसी के हाथ का सुन्दर बैग।

सुन्दर मुलायम घुंघराले बालों वाली कीमती टोपी के निर्माण के लिये भेड के बच्चे को पैदा होने के २४ या ४८ घंटों के अंदर ही मार दिया जाता है और उसकी मुलायम खाल प्राप्त की जाती है। बढ़िया जूतो के लिये गर्भिणी मादा पशुओं का वध करके गर्भस्थ बच्चे को निकाल कर, उसकी खाल खीच ली जाती है। असली रेशम, जीवित कीड़ों को पानी में उबाल कर प्राप्त किया जाता है।

यह भौतिक शरीर, मृत्यु के बाद, जिसमे कीड़े पड़ने लगते है, बदबू आने लगती है, उसी शरीर को जीते जी सुगन्धित तेल फूलेलो से महकाया जाता है। महक भी हल्की-फुल्की नही उसे तो ऐसी महक चाहिए जो बहुत दिनों तक बनी रहे, जल्दी समाप्त न हो। ऐसा महक वाला इत्र कस्तूरी से बनता है। यह कस्तूरी मृग तथा सिवेट नामक जानवर से प्राप्त को जाती है। इसे प्राप्त करने के लिये मृग को गोली से मार दिया जाता है तथा सिवेट नामक जानवर को पिजरे में बंद कर, लकड़ियां भौंक भौंक कर उसे खूब तंग किया जाता है। कहते है यह जानवर जितना अधिक चिडचिड़ा होता है, उतनी ही ज्यादा इससे कस्तूरी मिलती है। लकडियों से मार-मार कर खूब तंग करने के बाद एक आदमी इसके पैर-पूंछ आदि पकड़ता है, दूसरा इसकी कस्तूरी वाली ग्रंथि चीरा लगाकर निकाल लेता है। चीरा लगे स्थान पर मोम या मक्खन आदि भर दिया जाता है। यह कस्तूरी निकालने की प्रक्रिया हर दसवें दिन में दोहराई जाती है। इस क्रूरता को सहन करते-करते बेचारा सिवेट निर्दय मानव के क्रूर हाथों में सदा-सदा के लिये अपना शरीर समर्पित कर देता है। फिर उसकी रक्त सनी कस्तूरी से मानव निर्मित करता है परफ्यूम। परफ्यूम की मधुर मादक गंध से वह स्वयं मदमस्त होता है, दूसरे लोगों पर अपने बड़प्पन की छाप डालता है। पर वाह रे क्रूर नियति! बेचारे मृग और सिवेट का करुण क्रन्दन और खून!

• सौन्दर्य-प्रसाधनों में बढ़ती हुई हिंसा

बाजार में मिलने वाले इत्र, साबुन, तेल, क्रीम आदि चीजों के निर्माता इनके निर्माण में पशुओं की चर्बी का प्रयोग करते हैं। यह चर्बी सबसे ज्यादा ह्वेल मछली से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इस मछली से एक प्रकार का तेल भी मिलता है, जिससे टॉनिक भी बनता है तथा साबुन, क्रीम आदि बनाने के काम में भी वह लाया जाता है। ह्वेल मछली सबसे बड़ी मछली होती है। इसके शरीर पर नुकीले भालों से अनेक वार किये जाते है। खून से लथपथ ह्वेल मछली, मानव द्वारा दी गई क्रूर यंत्रणाओं का शिकार बन मौत से लड़ती हुई अपने प्राण त्याग देती है, फिर उसके शरीर की चर्बी से बनते हैं सुगन्धित इत्र, साबुन, तेल, क्रीम आदि।

सौंदर्य-प्रसाधन में एक और वस्तु प्रयोग में लाई जाती है। वह है—इस्ट्रोजन। यह द्रव्य या वस्तु गर्भवती घोड़ी के मूत्र से बनाई जाती है। सदा यह प्रयत्न किया जाता है कि घोड़ी गर्भवती रहे। जब वह गर्भ धारण करने योग्य नहीं रहती है तो उसे मार दिया जाता है।

ये कुछ उदाहरण तो सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री के निर्माण के है, पर पशुओं पर अत्याचार का यह सिलसिला यहीं समाप्त नही होता। बाजार में बिकने वाले शैम्पू, आफ्टर शेवलोशन, यूडीकोलोन आदि के पीछे पशुओं की मार्मिक पीड़ा की करुण कहानी कम दर्दनाक नहीं है। शैम्पू (सिर धोने का तरल साबुन) जिससे वाल धोकर मानव बालों की चमक पर इतराता है, बाजार में आने से पहले खरगोश की आंखों में डाला जाता है और यह देखा जाता है कि इस वस्तु से उसकी आंखों में चिरमिराहट या खुजली तो नही मचती। जब यह प्रयोग किया जाता है, तव खरगोश को एक ऐसे पिंजरे में बंद किया जाता है, जिसमें उसका सिर तो वाहर रहता है और शरीर पिंजड़े में इस कदर फिट कर दिया जाता है कि वेचारा खरगोश हिल भी नहीं सकता। शैम्पू की बूंदों से आँख में होने वाली जलन को वह विवश हो सहन करता रहता है। इस प्रकार के बार-वार प्रयोग से उसकी आंखों में छाले पड़ जाते है और वह अन्धा हो जाता है। वेचारा भोला, निरीह, कोमल मूक प्राणी क्रूर मानव के सौन्दर्य प्रसाधन की तैयारी में अपने जीवन को एक दिन यों ही समाप्त कर देता है।

इसी तरह भांति-भांति के क्रीम और लोशन भी मार्केट में आने से पूर्व शरीर पर होने वाली उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए जानवरों की नुची हुई खाल पर वे आजमाये जाते है। ये प्रयोग भी अधिकतर खरगोश या चूहे की खाल पर किये जाते है। इन पशुओं की विना रुओं वाली चमड़ी पर पहले टेप चिपका दी जाती है फिर टेप एक दम खींच कर उतार ली जाती है। इस प्रकार वार-बार टेप खीचने से वेचारे प्राणी की चमड़ी भी उत्तर जाती है। अन्दर का मांस दिखाई देने लगता है। उस कच्चे मांस पर चिरमराहट वाले लोशन जैसे

यूडीकोलोन, आफ्टरशेव लोशन, आदि लगाये जाते है और २–३ दिन तक वह मूक प्राणी इसी प्रकार पिजड़े में बंद असह्य वेदना से तड़फड़ाता रहता है। उसकी इस वेदना पर किसी को तरस नहीं, दु.ख नही।

चिकित्सा के क्षेत्र में तो मानव नई-नई औषधियो के निर्माण में, शारीरिक संरचना की जानकारी के बारे में, पशु-पक्षियो पर अत्याचार करता ही रहा है, पर महज अपना शौक पूरा करने के लिये, अपने कृत्रिम सौन्दर्य को बढाने के लिये हजारो बेजुबान जानवरों पर जुल्म क्यो ?

मानव के कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधनों के पीछे मूक प्राणियों के अत्याचार का करुण-क्रन्दन तो हृदय दहलाने वाला है ही, साथ ही इस कार्य पर विश्व के विभिन्न देश कितना खर्चा करते है, ये आंकड़े भी चौंका देने वाले है। एक सर्वेक्षण से पता चला है कि अकेला अमेरिका का कॉसमेटिक्स का सालाना खर्चा ५ मिलियन डालर का है। इंगलैण्ड मे खाली मैकअप पर १०० मिलियन पौण्ड खर्च होता है। पश्चिम के इन देशों की तुलना में भारत का खर्चा १०० करोड़ रुपया आंका गया है जो कि अमेरिकी खर्च का २.५ प्रतिशत है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार हिन्दुस्तान मे कुल ११५५ कॉस्मेटिक्स उत्पादन के कारखाने है, जिनमे से अकेले बम्बई मे १५५ है। जिस देश की जनता को दो जून भरपेट रोटी नही मिल पाती है, उस देश मे शरीर की बाह्य चमडी के सौन्दर्य-वृद्धि हेतु पानी की तरह द्रव्य बहाना कहा की बुद्धिमता है ? देश मे प्रसाधन और विलासिता के फैलाव से अब दूसरी प्रगति रुकने लगी है। बडे उद्योग समूह इस ज्यादा मुनाफा देने वाली सोनमुर्गी के गुलाम बनते जा रहे है तथा औद्योगिक विकास के नाम पर उद्योगपति ऐयाशी करने व बढ़ाने में लगे है।

हिंसात्मक तरीके से बनाये गये सौन्दर्य प्रसाधन एवं इनके ऊपर किये गये खर्च से लगता है कि आज संसार से प्राकृतिक, स्वाभाविक अथवा वास्तविक सुन्दरता का ह्रास होता जा रहा है। आज लोग इस बात को भूलते जा रहे है कि सुन्दरता का निवास मनुष्य के मन मे है। इन बाजार मे बिकने वाले शृंगार साधनों मे नहीं। केवल साज-सज्जा से सुन्दरता प्राप्त करने का प्रयत्न भ्रांति है। इस भ्रांति से हम सबको बचना चाहिए। कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनो के निर्माण में पशुओ की बढती हुई हिसा हमें सचेत करती है कि हम इन रक्तरंजित कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनो से अपना सौन्दर्य बढाने की होड न करे। सच तो यह है कि कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधन सौन्दर्य बढ़ाने की अपेक्षा सौन्दर्य कम ही करते हैं। मानवीय सद्‌गुणो की महक के समक्ष परफ्यूम की महक व्यर्थ है। गुणी व्यक्ति के निकट आने वाले एक नही अनेक व्यक्ति उसकी महक से मुग्ध हो जाते हैं, फिर उसे क्रीम पाउडर की कृत्रिम सुन्दरता बढाकर किसी को आकर्षित करने की आवश्यकता ही नही रहती।

वास्तविक सुन्दरता मानव के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है। स्वस्थ शरीर निर्विकार मन और मधुर स्वभाव का समन्वय सुन्दरता बन कर मुख पर चमका करती है। यदि हमें सुन्दर बनना है और सुन्दरता को स्थायी रखना है तो हमें प्रसाधन, प्रदर्शन, आडम्बर अथवा कृत्रिम शृंगार-सामग्री के स्थान पर अन्तर्मन को सुधारना होगा, उसे शुभ बनाने का प्रयत्न करना होगा। यदि हमारा स्वभाव क्रोधी है, ईर्ष्यालु है, हम द्वेष से जलते भुनते रहते है, लोभ, स्वार्थ अथवा परधन प्राप्ति की विषैली भावना को पालते रहते है, तो दुनिया भर के प्रसाधनों का प्रयोग करके भी हमारा व्यक्तित्व मोहक नहीं बन सकता। व्यक्तित्व का आकर्षण एवं प्रभाव दूसरों को दुखित या पीड़ित करने से नहीं बढ़ता, वह बढता है दूसरो के दुःख दूर कर उन्हें प्रसन्न एवं सुखी बनाने से। ऐसा समझकर हमें अपने जीवन और व्यवहार में प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव तथा अहिंसक दृष्टि का विकास करना चाहिए।

—प्रिंसिपल, श्री वोर बालिका महा विद्यालय, जयपुर



जीव-हिंसा / जीव-दया

❀ जीव हिंसा अपनी हिसा है, जीव दया अपनी दया है। —भक्त परिज्ञा

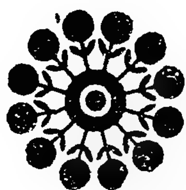
❀ जीवों का आधार-स्थान पृथ्वी है वैसे ही भूत और भावी तीर्थङ्करों का आधार-स्थान शान्ति अर्थात् अहिसा है। —भगवान् महावीर

❀ हे पार्थिव! तुझे अभय है। तू भी अभयदाता बन, इस क्षणभंगुर संसार में जीवों की हिंसा के लिए तू क्यों आसक्त हो रहा है? —उत्तराध्ययन सूत्र

❀ इन जीवों के प्रति सदा अहिंसक वृत्ति से रहना। जो कोई मन, वचन और काया से अहिंसक रहता है, वह आदर्श संयमी है। —दशवैकालिक सूत्र

❀ जहाँ मन, वचन और काया से तथाकथित विरोधी को हानि पहुँचाने का इरादा है वहाँ हिसा है। —महात्मा गांधी

❀ यह निश्चित जानों कि चारो गति के जीव जितने भी दुःख भोगते हैं, वे सब हिसा के ही फल है। —भक्त परिज्ञा



प्रशासन और अहिंसा

□ श्री जयनारायण गौड़

प्रशासन और अहिंसा की संगति प्रथम दृष्टया तो अनेक को शेर, बकरी की तरह परस्पर विरोधी लगती है। पर रामराज्य अथवा पौराणिक तपोवनों में ये ही दोनों एक घाट पर पानी भी पीते थे। यह सर्व-विदित है कि प्रशान द्वारा कदम-कदम पर लिए गए अपने निरोधात्मक तथा दण्डात्मक निर्णयों के सर्वथा न्यायसंगत होने के बावजूद भी लोगो को मानसिक और शारीरिक कष्ट या असुविधा होती है तथा उन निर्णयों को हिंसात्मक भी कहा जा सकता है। पर देखना यह है कि क्या वास्तव में ऐसा है तथा जहाँ ऐसा है, उसका समाधान क्या है। पर यह तभी संभव है जब पहले हम प्रशासन तथा अहिंसा दोनों का परम्परागत नहीं वरन् भावनात्मक तथा लक्ष्यपरक अर्थ या परिभाषा भी समझें।

किसी भी देश के शासकों की नीतियों एवं प्राथमिकताओं को क्रियान्वित करने का माध्यम उनका प्रशासनिक ढांचा है। विदेशी आक्राताओं के दौरान भारतीय शासकों की प्राथमिकता, जनता की खुशहाली नही वरन् अपने शासन के शिकंजे को ही मजबूत करते रहने था। अत. उन काली शताब्दियों के दौरान प्रशासन में झूठ, फरेब, गोपनीयता, जन-आकांक्षाओ को कुचलने आदि का कदम-कदम पर सहारा लिया जाता था। स्वतत्र भारत के संविधान तथा शासन के दिशा-निर्देश, लोक कल्याणकारी होने के कारण, आज के प्रशासन के लक्ष्य, प्राथमिकताएँ तथा उससे जनता की अपेक्षाएँ सर्वथा बदल गई है। वर्तमान प्रशासन की तीनों शाखाओ (कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायिका) के लक्ष्यो तथा कार्य-पद्धतियो मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हो चुका है। ब्रिटिश हुकूमत मे "माई बाप" के नाम से सम्बोधित किये जाने वाले जिला कलेक्टर की तत्कालीन भय-प्रेरक तस्वीर अब बहुत बदल चुकी है। विकास-प्रशासन को दी गई प्राथमिकता के कारण, कलेक्टर अब जिला विकास अधिकारी के रूप मे जनता के अधिक नजदीक आया है तथा उसकी अपेक्षाओं तथा बहुमुखी विकास के लिए, वह अब स्पष्ट रूप से उत्तरदायी भी है। एक प्रख्यात न्यायाधीश ने कहा है कि निर्धन और अशक्त तथा धनवान और सशक्त के बीच चल रहे मुकदमे में "यदि तर्क दोनों ओर समान रूप से संतुलित हो, तो न्यायाधीश के निर्णय का पलड़ा गरीब की ओर ही झुकना चाहिए।" लोक-अदालतो के माध्यम से अब न्यायपालिका भी दोनों पक्षों के आपसी समझौते के आधार पर फैसलों को प्रोत्साहित कर रही है। जमींदारी उन्मूलन, कृषि भूमि की

अधिकतम सीमा-निर्धारण, प्रिवीपर्सो की समाप्ति, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, संविधान में संविधर्म समभाव तथा शिक्षा, बंधक मजदूरों, अनुसूचित जाति तथा जन जातियों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों आदि के लिए, विधायिकाओं तथा संसद ने अनगिनत ऐसे कानून बनाये हैं जिनसे समाज में आर्थिक, शैक्षणिक तथा भावात्मक दूरियों को कम किया जा सके। ये सब प्रावधान अंततः सामाजिक उत्थान, शांति तथा अहिंसा के ही प्रणेता है।

यदि अहिसा को केवल प्राणिवध निषेध का ही पर्याय माना जाये तब तो प्रशासन और अहिंसा में प्रथम दृष्टया भी कोई विरोध नजर नहीं आयेगा। स्वतन्त्र भारत में जलियाँवाला बाग जैसी हृदय-विदारक घटनाओं की पुनरावृत्ति नही हो सकती क्योंकि आज लोकतांत्रिक शासन निहत्थे लोगों को घेर कर, तथा उन्हें निकल जाने का अवसर दिये बिना ही, गोली से भूनने का जघन्य अपराध कर नहीं सकता। फांसी भी, अब उन बिरले अपराधियों को ही लगती है जिनके जघन्य अपराध, अभियुक्त को संदेह का लाभ देने वाले कानून के बावजूद भी पूर्णतः सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे प्राणि-वध को समाज द्वारा लागू किए गए कानून का पालन कहा जाना अधिक सार्थक है। दाहिने गाल पर थप्पड़ लगने पर अपना बायां गाल भी आगे कर देने वाले ईसा के अहिंसक सिद्धान्त को एक दूसरे महान् अहिंसक गाँधी ने नया परिवेश पहनाया। उन्होंने कहा था कि स्वयं किसी पर आक्रमण मत करो, किसी को कष्ट भी मत दो, पर अन्यायी आक्रांता का सामना करने और सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा में उस समय हिंसा का सहारा लेने को कर्तव्य-पालन की ही संज्ञा दी जायेगी। पाकिस्तान द्वारा संभावित हमले के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने यह कहा था। साथ ही उन्होने यह भी कहा था कि पापी से नहीं, केवल पाप से घृणा करो। कुरुक्षेत्र में कृष्ण ने भी तो अर्जुन को यही संदेश दिया था तथा निर्लिप्त भाव से अपने अन्यायी बन्धु-बान्धवों से दिन में घमासान युद्ध करने के बाद कौरव और पाण्डव अपने दिन के घायल दुश्मनों की रात को कुशल-क्षेम भी पूछते थे। अठारह अक्षोहणी सेना को हताहत करने वाले इस युद्ध में पाण्डव पक्ष को अहिसक इसलिए कहा जायगा क्योंकि उन्होंने अन्याय का सामना करने के लिए ही यह युद्ध किया था।

प्रशासन के सम्मुख आज मुख्य चुनौती यही है कि निर्लिप्त भाव से वह सही निर्णय कैसे लेता है। उसके अधिकांश निर्णय सबको संतुष्ट नहीं कर सकते। निर्धनों, दलितो तथा जरूरतमन्दों के हित में लिए गए गये निर्णयों से भी कोई व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष स्वयं को इसलिए आहत महसूस कर सकता है क्योंकि उसके निहित स्वार्थो को उस निर्णय से चोट पहुँचती है। अहिंसा की व्यापक परिभापा के अंतर्गत, प्रशासन के ऐसे कदम क्या उस वर्ग अथवा व्यक्ति

विशेष को मानसिक तथा सम्भवत: शरीरिक असुविधा देने के कारण अहिंसा-विरोधी समझे जायेंगे ? धनवानों पर अधिक कर, कृषि, भूमि की अधिकतम सीमा, सजायाफ्ता लोगों के कुछ वर्गो की चुनाव लड़ने की अयोग्यता आदि प्रशासन के अन्य अनगिनित कार्यो से कुछ लोग तो सदैव कष्ट पायेगे ही, पर कल्याणकारी प्रशासन को तो यह देखना है कि उसके आदेश, कार्य अथवा निर्णय अधिकांश जनता के हित में है या नही ? गाँधी जी ने कहा है किसी भी कार्य के औचित्य अथवा अनौचित्य की एक कसौटी यह है कि वह "दरिद्र नारायण" के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल ? अहिंसा के अनुयायी प्रशासको के लिए भी यह मूलमन्त्र है।

जिस तरह शासन की नीतियों और सदाशयता से उसके प्रशासन को अलग नही किया जा सकता उसी तरह प्रशासन को भी प्रशासक से पृथक् नही किया जा सकता। उत्तम नीति की क्रियान्वयन रीति तो कुर्सी पर आसीन सम्बन्धित प्रशासक ही तय करता है। पर हर आसीन व्यक्ति कुर्सी की शोभा नही बढाता वरन् कुर्सी ही मन, वचन और कर्म से बौने व्यक्तियों को निदेशात्मक शक्तियो की अस्थायी आभा अवश्य देती है। भोग-विलासी संस्कृति वाले आचारहीन एवं रिश्वतखोर प्रशासक तो जनता के हितो के रक्षक रहने के बजाय भक्षक बन जाते है। ऐसे हिंसक प्रशासक से भगवान बचाए। राज्य की उत्तम नीतियों, ऐसे प्रशासको की जन-विरोधी रीतियो के कारण, अपने विकृत रूप में ही जनता तक पहुँचती है। ऐसे प्रशासन में धन, शक्ति, यौवन तथा चाटुकारिता के माध्यम से कुछ लोगों अथवा वर्ग विशेष के स्वार्थसिद्ध पूरक निर्णय लिए जाते है तथा आम जनता असहाय मूक दर्शक बनकर परेशान रहती है। ऐसी छद्‌म हिंसा प्राणिवध से भी बदतर है। वध कार्य तो एकबार हो जाता है पर जनता के मूल अधिकारों और अपेक्षाओं का वध तो ऐसे प्रशासन के कुचक्र में निरंतर चलता रहता है।

अच्छे प्रशासन में यथासंभव आम जनता की अपेक्षाओं और आकांक्षाओ के अनुरूप ही कार्य होना चाहिए। उसके कार्यो से भी अधिक महत्वपूर्ण उसकी कार्य पद्धति है। निर्णयात्मक चरण पर पहुँचने से पहले जनता से विचार-विमर्श करने के उपरान्त लिया जाने वाला निर्णय, जनता के लिए अधिक सुखद होगा। अपने रोजमर्रा के प्रशासन के दौरान एक अच्छा प्रशासक, क्रोध को क्षमा से, विरोध को अनुरोध और तर्क से, घृणा को दया से तथा द्वेष को प्रेम से जीतने का प्रयत्न करता है तथा इन सभी शस्त्रों की असफलता के बाद ही वह आदेशात्मक, निषेधात्मक अथवा दण्डात्मक निर्णय लेता है जो सतही तौर पर हिंसक लगने के बावजूद वास्तव में अन्याय-विरोधी तथा कर्तव्य-निष्ठा मूलक होने के कारण अहिंसक ही होता है। प्रथम दृष्टया सख्त लगने वाले ऐसे आदेश, शांति और न्याय के हित में दिये जाने के कारण, सही मायनों में अहिंसक ही होते हैं। पिछले महीनों में देश के अनेक भागों में फैले साम्प्रदायिक दंगों को नियंत्रित

करने में प्रशासन ने अनेक कड़े कदम उठाये, जिनमें गोली चलाना तथा गिरफ्तारियाँ करना भी शामिल था। परिणामस्वरूप कुछ लोगों के मारे जाने तथा गिरफ्तार होने के बावजूद, देश में भड़की हिंसा को रोकने में प्रशासन की इस कठोर पर सफल कार्यवाही को अहिंसामूलक ही कहा जायगा क्योंकि इसी के कारण रोज की मारकाट के बाद अंततः शांति स्थापित हुई।

प्रशासन में कुछेक ऐसे भी हैं जो अपनी बाह्य दिनचर्या में तो सद्पुरुष लगते है पर "मुँह पर राम बगल में छुरी" की तरह उनका मन क्रूर और स्वार्थी है। पानी को छान कर पीने वाले ऐसे अनेक प्रशासक जनता को त्रस्त रखकर उनका अनछना खून पी जाते हैं। ऐसे भी अधिकारी है जो रोज सुबह दो घण्टे पूजा तो करते है, पर वे रिश्वत लेते हैं तथा सुरा-सुन्दरी आदि में भी लिप्त है। धन बटोरने वाला परिग्रही, अहिंसक हो ही नही सकता। प्रशासक भी इसका अपवाद नही है। ऐसे प्रशासकों का भोग-विलास एवं परिग्रह उनके इन्द्रिय-सुख, स्वार्थ, माया, लोभ, असत्य, क्रोध, ईर्ष्या, षड्यन्त्र आदि हिंसात्मक वृत्तियों पर ही पलता है। अतः ऐसे लोग अपनी सौम्य भाषा या पूजा के बावजूद अहिंसा से सर्वथा विमुख है। मात्र शाकाहारी होने, रात्रि को भोजन न करने, मद्यपान अथवा अन्य विलासी प्रवृत्तियों से दूर रहने तथा सादा जीवन बिताने पर भी किसी प्रशासक की दिनचर्या को तब तक अहिसक नहीं कहा जा सकता जब तक अहिंसा के प्रति वह मन से भी समर्पित न हो। शाकाहार, सादगी आदि की व्यक्तिगत आदतें भी उत्तम प्रशासन में सहायक है पर अधिक महत्वपूर्ण यह है कि अहिंसा कोई ऐसा परिधान तो है नही, जिसे जब चाहे उतार लो अथवा जव चाहे पुनः पहन लो। अक्षरज्ञान अथवा बारहखड़ी-पठन की तरह यह ऐसी शिक्षा भी नहीं है कि किसी के द्वारा सिखाने पर उसे कंठस्थ कर, पढ़ा अथवा हिसाब लगाया जा सके। यह तो हृदय के अंतरतम कोने से स्वचालित एवं रोम-रोम में व्याप्त वह आंतरिक शक्ति है जो व्यक्ति को अपने मन, वचन और कर्म से परिपूर्ण अहिसा के राजपथ पर अपनी जीवन-यात्रा को प्रेरित करती है। कालान्तर में यह शक्ति व्यक्तित्व में इस तरह घुल जाती है जैसे पानी मे दूध तथा फिर वह उससे अलग हो ही नही सकती। उत्तेजना अथवा अवरोध के क्षणों में भी ऐसा व्यक्ति अपना संयम और विवेक नही खोता तथा शांति, धैर्य और निष्पक्षता से उन कठिनाइयों का सामना और समाधान करता है। महावीर ने कहा है कि शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव को दृष्टि रखना ही अहिसा है। समभाव एवं निष्पक्षता तथा संयम, विवेक, शांति और धीरज की स्थायी नींव पर आधारित ऐसी अहिसा की उत्तम प्रशासन में निरन्तर आवश्यकता है, जिससे कि प्रशासक अपने तन, मन और धन से जन-सेवा के पुनीत यज्ञ मे अपनी सार्थक आहुति दे सकें।

—हेमांचल, सी-६८, राममार्ग, तिलकनगर, जयपुर—३०२००४

(iii) **प्रशिक्षण संवेगों का**—ब्राउडी ने Buliding a Philosophy of Education में मूल्यों के विकास सिद्धांतों (Theories) की चर्चा करते हुए संवेग अभिसिद्धान्त (Emotion Theory) को जीवन मूल्यों के विकास का एक प्रमुख आधार माना है। जिस किसी भी क्रिया-विधि से मानव के संवेगो को जगा दिया जाय तो ये जागृत संवेग मानव को उत्प्रेरित कर देते हैं संबंधित मूल्य को आत्मसात् करने के लिए।

आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त उपकरण दूरदर्शन या टी.वी., रेडियो, टेप, फिल्म आदि मानव मन में सुपुप्त मूल्यों को जागृत करने में आश्चर्यजनक कार्य कर सकते है। इन उपकरणों पर प्रस्तुत की जाने वाली दृश्य-श्रव्य सामग्री मानव-मन को प्रबल रूप से आन्दोलित कर देती है और मूल्यों के विकास हेतु सुदृढ भूमि तैयार कर देते है।

शिक्षा के दोनों रूप औपचारिक एवं अनौपचारिक मूल्य विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अहिंसा शिक्षा में भी इन दोनों प्रकार की शिक्षा की महती भूमिका है। पाठ्यक्रमों मे अहिंसा शिक्षा के लिए अनुकूल प्रसंगों का उपयोग किया ही जाना चाहिए। इन औपचारिक स्वरूपों से भी अनौपचारिक शिक्षा कही अधिक सार्थक बन सकती है।

विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में आयोजित होने वाली क्रीड़ा प्रतियोगिताएँ भ्रमण चर्चाएँ, गोष्ठियां, सांस्कृतिक कार्यक्रम, संगीत, अभिनय आदि तथा कहानी, सस्मरण, प्रार्थना सभाएँ एवं प्रायोजनाएँ (Projects) पर कार्य भी किशोरो एवं युवाओं में संवेगों का अप्रत्यक्ष प्रशिक्षण करते है।

यह एक सामान्य स्वीकृत सिद्धान्त है कि समूहों मे की गई क्रियाएँ-समूह प्रायोजनाएँ सगठन, सहयोग, सहनशीलता, प्रेम, सहानुभूति जैसे गुणों को विकसित होने का सहज अवसर प्रदान करती है।

(iv) **अन्य**—(i) यह आवश्यक है कि अहिंसा शिक्षा के इस प्रयास को व्यापक रूप में सभी स्तरों पर सपन्न किया जाय। घर, विद्यालय, धर्मस्थान आदि अन्यान्य अभिकरण अहिंसा-शिक्षा के कार्य को हाथ मे ले, प्रयोग करें और सफल प्रयोगों को सर्वत्र आत्मसात् किया जाय।

(ii) अहिंसा एक व्यापक मूल्य है। इसमें सहयोग, सहशीलता, क्षमा, बंधुता, करुणा, मैत्री, आत्मतुल्यता आदि अनेक गुणों का समावेश होता है। वाणी, मन एवं कर्म से इनका पालन करने की आवश्यकता है। अहिंसा के इन विविध रूप सदगुणो के व्यवहारों का विश्लेषण किया जाय। पश्चात् उनके विकास के लिए समुचित क्रियाएं आयोजित की जा सकती है।

(iii) शोधकर्ताओं द्वारा अहिंसा शिक्षा पर शोध कार्य करके उसके सिद्ध प्रयोगों का व्यापक प्रचार किया जाना आवश्यक है।

(iv) घर, समाज, राष्ट्र और विश्व में अहिंसादि मूल्यों को जीने वाले व्यक्तियों एवं संस्थाओं को प्रोत्साहित एवं सम्मानित किए जाने की अपेक्षा है। यह प्रोत्साहन व्यक्तियों को इन मूल्यों को अपनाने को प्रेरित कर सकेगा।

अंततोगत्वा अहिंसा जैसे शाश्वत, नित्य ध्रुव धर्म या महानतम जीवन मूल्य की शरण करने में ही व्यक्ति और विश्व की सुरक्षा, समृद्धि और शांति निहित है। ऐसे महानतम मूल्यों का प्रचार-प्रसार और उनकी प्रतिष्ठा शिक्षा के अत्यंत प्रभावी उपकरण द्वारा संभव है।

—सेवा निवृत्त, सहायक प्रोफेसर, शिक्षा ३५ अहिंसापुरी, उदयपुर



❁ आध्यात्मिक शिक्षण अन्तर्वृत्तियों को शिक्षित करता है, जबकि व्यावहारिक शिक्षण जीवन की सुख-सुविधाओं की उपलब्ध करने में सक्षम बनाता है।

❁ शिक्षक व्यसनी नहीं हो, अर्थ का संग्रह करने वाले और किसी को परीक्षा में पास करने के लिए हेरा-फेरी करने वाले नहीं हों, तभी वे बच्चों में भौतिकता की भावना जगा सकेंगे।

❁ भौतिक शिक्षा से मानव जीवन शान्ति की ओर बढ़ता है।

❁ जो शिक्षा को आचरण में ला पाता है वही दूसरों को शिक्षा देने का अधिकारी होता है।

—आचार्य श्री हस्ती



अहिंसा और साहित्य

☐ पद्मश्री डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

अत्यंत प्राचीन काल से हमारे देश में अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। भारतीय धार्मिक साहित्य मे ही नही अपितु विश्व के समस्त प्रधान धर्मों के वाङ्गमय में अहिंसा का स्तवन मिलता है। अहिंसा को धर्म के रूप में मान्यता मिली है यथा: "अहिंसा परमोधर्मः"।

अहिंसा की महत्ता को वेद, उपनिषद्, दर्शन, शास्त्र, पुराण, महाकाव्य और लोक काव्य सभी स्वीकार करते है। हिंदू धर्म के विपुल साहित्य में इसकी विस्तृत व्याख्या मिलती है। बौद्ध-साहित्य तथा जैन-साहित्य इसकी गरिमा को अनुपमेय मानते हैं। संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य इसकी विशिष्टताओ से अपनी श्री-वृद्धि कर रहा है।

ऐसा कोई धर्म नही जो अहिंसा के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त नही करता। 'महाभारत' के 'अनुशासन पर्व' में भीष्म ने युधिष्ठिर के प्रति अहिंसा की व्याख्या में बतलाया है कि अहिंसा धर्म के पालन के चार उपाय है:—(क) मन (ख) वाणी, (ग) कर्म से हिंसा न करना और (घ) मांस न खाना। 'पातंजल-योगदर्शन' (साधनपाद-३५) कहता है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर साधक के समीप सबका वैर भाव नष्ट हो जाता है।

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।"

गांधीजी ने गीता के अनासक्ति-योग में भी अहिंसा को अन्तर्निहित पाया है।

श्रमण-संस्कृति तथा जैन-साहित्य का प्राण अहिंसा है। इसे पंच महाव्रतों में सर्वोपरि माना गया है। श्रमण संस्कृति के अनुसार किसी भी जीव की मन, वचन और काया से हिंसा न करने का नाम ही अहिंसा है।

हिंसा की निंदा करके हिंदी के समस्त भक्तिकालीन कवियों ने अहिंसा की स्तुति की है। सन्त कवि भी अहिंसा का प्रतिपादन करते हैं। लोकनायक सन्त कबीर का अहिंसा सिद्धान्त अत्यंत व्यापक तथा प्रभावपूर्ण है। वे दुर्बल को कष्ट देना भी हिंसा मानते है—

"दुर्बल को न सताइए, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की सांस सों, सार भसम हो जाय।"

मलूकदास हिंसा का कारण अज्ञान में खोजते है। मलिक मोहम्मद जायसी हिंसा को निर्ममता की उत्पत्ति मानते है। गोस्वामी तुलसीदास "राम-

चरित मानस" और "विनयपत्रिका" में परमार्थ के पोषक गुणों में अहिंसा को परिगणित करते हैं जिनकी सम्पुष्टि श्रीमद्भागवत्, विष्णु पुराण और गीता भी करती है। अहिंसा, निर्वैरिता तथा समदर्शिता की जननी है जिसके फलस्वरूप तुलसीदास "सकल जीव सम जान" का साश्वत संदेश प्रदान करते हैं।

राष्ट्रपुरुष महात्मा गांधी ने अहिंसा को नवीन आयाम, राष्ट्रीय संस्पर्श तथा विनीत क्रान्ति का स्वर प्रदान किया। वे अहिंसा को चित्त-वृत्ति तथा कर्म के रूप में स्वीकार करते थे। अहिसा गांधी-दर्शन का मूलाधार है। गांधीजी के अहिंसा-सम्बन्धी विचार उनके दो ग्रन्थ 'अहिसा-व्रत' तथा 'अहिंसा और सत्य' में प्रधानतया मिलते है। गांधीजी ने अपने जीवन की प्रयोगशाला में अहिंसा के अनवरत प्रयोग किए हैं। उसे व्यापकता तथा सामाजिकता प्रदान की है। गांधी जी के जीवन में सत्य सहज रूप में आया परन्तु अहिंसा प्रयासों से प्राप्त हुई। वे अहिंसा को सत्य का प्राण मानते थे। इस प्राचीन सिद्धान्त को ग्रहण करके भी गांधीजी की अहिसा शत प्रतिशत वही नहीं है जो कि परिपाटी प्रसूता है। उसमें सीमा-विस्तार तथा नूतन अर्थ का सम्मिश्रण मिलता है। प्राचीन अहिंसा जीव-दया तक सीमित थी परन्तु गांधीजी ने उसे असीम कर दिया। वे अविनय को भी हिंसा मानते हैं। उनकी अहिंसा में ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय तथा अपरिग्रह भी आ जाते हैं। उनकी अहिसा के लिए 'नान-वायलेंस' शब्द ठीक नहीं बल्कि "हार्मलैसनेस" भी होना चाहिए। उनकी दृष्टि में अहिंसा पूर्ण निर्दोषिता, पूर्ण स्थिति और प्राणिमात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव है। गांधी साहित्य अहिंसा के विशद विश्लेषण से आपूर्ण है। उनकी अहिंसा पुस्तकों की वस्तु न होकर जीवन के नियम तथा आचरण की व्यावहारिकता के रूप में आती है। गांधी-दर्शन में अहिंसा अभय की चरमावस्था है इसलिए वह वीरता की परिसीमा है। संगठित हिंसा के निवारण हेतु उन्होंने संगठित अहिसा के राजनैतिक-राष्ट्रीय-आंदोलनात्मक प्रयोग को जीवंत रूप प्रदान किया। विश्व के लिए गांधीजी की अहिसा की देन सर्व महान् है।

गांधीजी की अहिंसा-नीति से राष्ट्रीय आन्दोलन और हिन्दी-साहित्य विशद रूप से प्रभावित हुआ है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में अहिसा के विविध रूपों के सर्वत्र दर्शन होते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के महाकाव्य "प्रियप्रवास" (सन्-१९१४) के श्रीकृष्ण अहिंसा से प्रभावित हैं। इसी प्रकार "वैदेही वनवास" (सन् १९३९) के राम पर भी अहिंसावाद की छाप प्रतीत होती है।

"दमन है मुझे कदापि न इष्ट,
क्योंकि वह है भयमूलक नीति।
चाह है लाभ करूं, कर त्याग,
प्रजा की सच्ची प्रीति प्रतीति ॥"

"हरिऔध" के राम अनेक स्थलों पर युद्धों का विरोध करते है। वे शान्तिप्रियता तथा लोकाराधन के आकांक्षी हैं।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' (सन् १९३२) के राम भी अहिसा के उपासक है। "जयभारत" के धर्मराज युधिष्ठिर अहिंसा के परम अनुयायी है। जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' (सन् १९३५) की नायिका श्रद्धा अहिंसा की पुजारिन है। वह पशु-बलि का विरोध करती है। उसके अहिसा-सिद्धान्त को इन शब्दों में अभिव्यक्ति मिली है।

"अपनी रक्षा करने में जो, चल जाए तुम्हारा कहीं अस्त्र,
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं, हिसक से रक्षा करे शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ, उपकारी होने में समर्थ,
वे क्यों न जिये उपयोगी वन, इसका मै समझ सकी न अर्थ।।"

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र के "साकेत-सन्त" (सन् १९४९) के भरत अहिसा के अनुगामी है। अनूप शर्मा ने अहिंसा के दो महान् पुरोधा पर 'सिद्धार्थ' (सन् १९३७) तथा 'वर्द्धमान' (सन् १९५१) नामक महाकाव्य लिखे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की ऊर्मिला' (सन् १९५७) के राम विभीषण के राज दरबार में अहिसा की चर्चा करते है। इसी प्रकार "प्राणार्पण" में भी हिंसा-अहिसा के द्वन्द्व को प्रस्तुत किया गया है। गिरिजादत्त शुक्ल "गिरीश" के "तारकवध" (सन् १९५८) नामक महाकाव्य में अहिंसात्मक प्रयोगों को चरितार्थ किया गया है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" और डॉ. रामधारीसिंह "दिनकर" अहिसा में कापुरुषता के दर्शन पाते हैं। उनका "कुरुक्षेत्र" (सन् १९४३) गांधी के साथ न होकर तिलक के साथ है। उसमें अहिसा के धर्मराज के साथ कवि की सहानुभूति न होकर वीरत्व के प्रतीक भीष्म पितामह के साथ है। अहिंसा को सुमित्रानन्दन पन्त स्वीकार करते है। अभिनव अमिताभ गांधी में ईसा, तुलसी, तुकाराम, नरसी मेहता, रस्किन तथा टालस्टाय की परम्परा आ विराजी थी। रामनरेश त्रिपाठी के "पथिक", "मिलन" तथा "स्वप्न" मे अहिसा को चरितार्थ होते दिखाया मया है। सियारामशरण गुप्त का "आत्मोत्सर्ग" तथा "उन्मुक्त" अहिसा का पक्षधर है। "उन्मुक्त" का युद्धवादी पुष्पदन्त पूर्ण अहिसावादी हो जाता है। सुमित्रानन्दन पन्त कहते है "सत्य-अहिसा से आलोकित होगा मानव का मन।" सोहनलाल द्विवेदी का अभिमत है—

"अहिसा हो जीवन का मर्म।"

गुप्तजी के "अवध" का नायक मघ अहिसावादी है। माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' ने गाधीजी के अहिसक रूप को "निःशस्त्र सेनानी" के

रूप में सर्व प्रथम हिंदी-साहित्य में प्रस्तुत किया था। कवियों ने स्वाधीनता प्राप्ति का साधन अहिंसा को माना। डॉ. हरि शंकर शर्मा लिखते हैं—

"सत्य, अहिंसा व्रत का बल हो।"

स्व. नेपालीजी अहिसात्मक बलिदान का समर्थन करते हैं—

"है अपूर्व यह युद्ध हमारा, हिंसा की न लड़ाई है,
नंगी छाती की तोपों के, ऊपर विकट चढ़ाई है।"

सुधीन्द्र अहिंसा के स्थान को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं—

"अणुबम्ब से है नहीं, अहिंसा
से है जग का कल्याण।"

नरेन्द्र शर्मा के शब्दों में गांधीजी ने अहिंसक क्रान्ति द्वारा इतिहास में एक नूतन अध्याय का समारम्भ किया है—

"क्रान्ति यों जग में हुई अबतक कई,
पर अहिंसा क्रान्ति की संज्ञा नई, शैली नई।
साध्य, साधक और साधन में न हो व्यवधान जब,
क्रान्ति तब मंगलमई, करुणामई।"

सुभद्राकुमारी चौहान भी अहिसात्मक साधनों मे अपनी आस्था उडेलती है—

"हमारी प्रतिभा साध्वी रहे,
देश के चरणों पर ही चढे,
अहिसा के भावों में मस्त,
आज यह विश्व जीतना पड़े।"

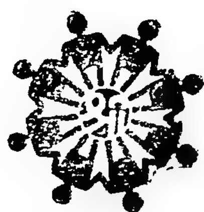
राजेन्द्रसिह रघुवंशी का कथन है कि—

"दिखलाओ वह शक्ति, आसुरी वृत्ति सभी मिट जाए,
भिड़ो अहिंसा शान्ति अस्त्र से, यशकेतन लहराए।"

"नवीन" के "हम विषपायी जनम के" की "सिरजन की ललकारें मेरी" नामक लम्बी कविता और दिनकर की पुस्तक "हुंकार" (सन् १९३८) की कविता "कल्पना की दिशा" में हिसा-अहिसा के संघर्ष को काफी उभार मिला है। लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री "रमा" के गांधी-गौरव दोहों में मिलता है—

"सत्य-अहिंसा-एकता, अरु अछूत उद्धार।
हुआ इन्ही के लिए था, गांधी का अवतार।"

गांधीजी पर लिखित गीता, रामायण, मानस तथा पुराण में अहिंसा का समुचित प्रतिपादन मिलता है। ठाकुर गोपालशरणसिंह ने गांधीजी पर लिखित अपने महाकाव्य "जगदालोक" का अन्त इन पंक्तियों से किया है—



अहिंसा का सकारात्मक स्वरूप और युवा पीढ़ी

□ श्री फूलचन्द मेहता

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुण लब्धये ।।

जो श्री रत्नत्रय धर्म स्वरूप मोक्षमार्ग के नेता हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म रूपी शत्रुओं का भेदन कर उन्हे परास्त करने वाले तथा जो विश्व के समस्त तत्त्वों को, पदार्थों को उनकी त्रिकाली अवस्थाओं को यथावत जानते हैं ऐसे परम आराध्य देवाधिदेव को उन्हीं जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए त्रिकरण, त्रियोग से अनन्यशरणपूर्वक वन्दन-नमस्कार हो।

अनंत ज्ञानी, अनंतदर्शी, अनंत करुणासागर, त्रैलोक्य प्रकाशक, अनंत उपकारी, परम आराध्य देवाधिदेव प्रभु श्री महावीर स्वामी ने भव्य जीवों को जनम-मरण-जरा के भयंकर दुःखों से मुक्त करने हेतु अहिंसा, सत्य, अनेकान्त व अपरिग्रह आदि सिद्धान्तों का प्रतिबोध दिया।

प्रभु ने सर्वोपरि सन्देश 'माहणो' 'माहणो' की करुणा-गंगा बहाई। यही अहिसा जैन जगत् का प्राण है। सामाजिक, राष्ट्रीय व विश्वशांति मूल आधार अहिंसा है। यह सकारात्मक तत्त्व है। सभी दर्शनों में, धर्ममतों में अहिंसा की विशिष्ट प्रतिष्ठा है। "अहिंसा परमोधर्मः" की घोषणा 'महाभारत' में की गई है। जैन संस्कृति में "धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो", अहिंसा सर्व-प्रथम धर्म का सोपान है।

अहिसा स्वाभाविक गुण है। कोई भी जीव इससे रहित नहीं हो सकता। चाहे वह कितने ही अंशों में हो, अहिंसा प्रत्येक जीव का गुण है।

अहिंसा अथवा 'माहणो' याने हिसा मत करो, किसी को सताओ नही, कष्ट पहुँचाओ नही क्योंकि सभी जीव जीना चाहते है, सुख चाहते है, दुःख सभी को अप्रिय है। सुख पाने हेतु सभी सक्रिय हैं, प्रयत्नशील हैं।

प्रभु ने देखा, जाना, अनुभव किया कि संसार का प्रत्येक प्राणी चाहे वह मनुष्य हो, पशु हो, पक्षी हो, कीट पंतगा हो, पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि, बन-स्पति का जीव हो, जिस-जिस देह में जिस-जिस जाति में जिस-जिस गति में हो, वह सुखपूर्वक ही जीना चाहता है। देखना यह है कि सुख पाने के प्रयत्न में किसी अन्य जीव को दुःख, कष्ट, पीड़ा, क्लेश तो नही हो रहा है? यदि नही तो वह अहिंसा का निर्वाह कर रहा है।

यदि अन्य जीवों को प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से किसी जीव को सुख पाने की चेष्टा से किंचित् भी कष्ट हो तो वह अहिंसा नहीं है, अतः ऐसी भावना-प्रवृत्ति नही होना अहिंसा है।

अहिंसा का वास्तविक स्वरूप—जीव के अन्त करण में ऐसा विषम, क्लेशरूप चंचल विकारी भाव ही न हो जिससे स्वयं के गुणों का हनन हो, नाश हो। यह तभी सम्भव है कि उसे अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का बोध हो, विचार हो, ज्ञान हो कि अन्य जीव भी मेरे जैसे ही है। आज संसार में सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव है। उसका विकास, उसकी योग्यता, उसकी मनन-चिंतन व समझने की शक्ति अन्य जीवों की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट है। अहिंसा आचार धर्म है, प्रवृत्तिमय है। प्रत्येक प्रसंग में, अवस्था में, क्रिया में वह व्यस्त रहती है, मात्र मानव को भान होना, ज्ञान होना चाहिए। अहिसा को क्रियात्मक, आचारात्मक पक्ष देने से पूर्व जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों/तथ्यों को समझना परम आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। ज्ञान-दर्शन के बिना, सच्ची समझ के बिना चारित्र-आचरण नहीं होता और अहिंसा चारित्रधर्म का मुख्य अंग है, प्राण है तथा अहिंसा की पुष्टि हेतु ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, व अपरिग्रह की साधना है। सत्य, अस्तेय आदि की साधना का मूल भी अहिंसा ही है।

जैन दर्शन के वे मूलभूत सिद्धान्त निम्न हैं—

१. लोक में छह द्रव्य हैः—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। इनमें जीव व पुद्गल द्रव्य ही सक्रिय है, शेष निष्क्रिय अर्थात् अपने ही स्वरूप में हैं। छहो द्रव्य शाश्वत है, नित्य परिणामी है, कोई किसी पर आधारित नही है, अपने-अपने ही गुण पर्यायों से युक्त है। वे एक दूसरे रूप नहीं हो सकते। सबका भिन्न-भिन्न अस्तित्व है। प्रत्येक गुणधर्म उन्हीं-उन्हीं में रहते है। उनका कभी नाश—संक्रमण नहीं हो सकता। जीव चैतन्य रूप से परिणमन करता है और अन्य पाँचों द्रव्य अजीव जड़ रूप से परिणमन करते है। इनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध नही, अतः पृथक्-पृथक् सत्तावान है। पारस्परिक संयोग-वियोग सम्बन्ध भी जीव व पुद्गल द्रव्य का होता है वह भी विभाविक दशा में, अज्ञान दशा में।

२. लोक में जीव अनंत है। सभी पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी ही गुण धर्मो की सत्ता से युक्त है, कोई किसी के आधीन नही, कोई किसी का कर्ता-हर्ता नहीं क्योंकि प्रत्येक जीव अन्य द्रव्यो की तरह शाश्वत है, अजर, अमर, अविनाशी है। अपने-अपने गुण पर्यायों से ही अभिन्न है। सभी द्रव्य ध्रुव, नित्य रहते हुए भी अवस्थांतर होते है। एक जीव दूसरे जीव मे मिल नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता तो एक जीव पुद्गल रूप कभी नही हो सकता और पुद्गल जीव रूप नही हो सकता है।

(७) **विशालता**—अहिंसा विराट् स्वरूप को लिए हुए है। उसकी आराधना का अधिकारी प्रत्येक प्राणी है। वह किसी जाति, कुल, मत, गच्छ, सम्प्रदाय, क्रियाकाण्ड, वेष, लिंग से सबधित नही, वीतरागता ही अहिंसा है। प्रभु का दिव्य उपदेश सार्वजनीन है, सर्वकल्याणक है। सम्प्रदाय विहीन, निष्पक्ष तटस्थ दृष्टिवन्त ही विशाल हृदय से आराधना कर सकता है। कोई प्रतिबद्धता उसके लिए नही। विवेक पूर्वक वीतराग मार्ग की आराधना मे किसी का अहित सभव नही। स्वच्छ, साफ, निर्मल, निर्विकारी हृदय चाहिये। सबके प्रति समभाव, सहिष्णु सहयोग की भावना से युक्त साधक का जीवन सर्वागीण विकास कर पाता है।

(८) **व्यसनमुक्ति**—मानव प्रकृति ही अहिंसक है। उसके अंग प्रत्यंग ही ऐसे है जिसका सारा संबंध शाकाहार से है। सात्विक खान-पान, रहन-सहन सदाचार, दुर्व्यसनों से मुक्त जीवन मानवीय जीवन है। मांस-मदिरा, शहद, मक्खन, जुआ, सट्टा, शिकार, परस्त्रीगमन, वैश्यागमन, चोरी ये तो सर्वथा त्याज्य है ही किन्तु रात्रि भोजन, जमीकन्द, बीड़ी, भांग, जरदा, हुक्का, होटलो का खाना, तामसी पदार्थो का उपयोग, सात्विक अहिंसक व्यक्ति के लिए इनका त्याग अत्यन्त जरूरी है। मानवीय जीवन में शुद्ध शाकाहार आरोग्य जीवन के लिए जरूरी है तो मानसिक शुद्ध चिन्तन विचार, सत्य-हितमित मधुर वाणी, काया से इन्द्रियों से विनम्रता, सरलता, शिष्टता, सेवा, परोपकार की भावना-प्रवृत्ति मानव की शोभा है। अतः कुसग से, दुष्ट प्रवृत्तियो से, दुष्ट आचरण से मुक्त रहना, सुसंग मे सदाचार पनपे, सात्विकता सयमितता आए, जिसमे अहिसा का निर्वाह हो सके अर्थात् किसे भी कष्ट न हो, वाधा न हो, क्लेश का भाजन न वने।

(९) **व्यापार वाणिज्य-व्यवसाय**—जीवन-निर्वाह के लिए व्यवसाय नौकरी-धधा करना ही पड़ता है। किन्तु वह सात्विक हो, संयमित हो, आवश्यकता से अधिक नही हो तो सामाजिक, राष्ट्रीय शोषण से वच सकता है। जमाखोरी, जमीदारी, अमीरीपन, सुख, सहेलियापन, भोग-विलासिता के साधनो की लालसा हिसामय है, विषमता, असमानता उत्पन्न करती है, प्रेम; मैत्री व समभाव का विघातक है। विषमता से, स्वार्थपरता से, तृष्णा से, लड़ाई, फूट, मतभेद, संघर्ष, गरीवी-अमीरी की भेद रेखा वढती है। यह समाज का दूषण है। अहिसा इसका समाधान है। सबको यथा योग्य अजीविका हो, सुख-सामग्री मिले सभी सुखमय जीवन जिये। जिन धन्धो में विषय विकार वढे, तामसिकता वढे, हिसा हो, कपटजाल, मोह, राग, द्वेष वढ़े यह सव अहिसा के घातक है। टेक्स चोरी, मिलावट, खोटा तोल, खोटा माप, कथनी-करनी में अन्तर ये सभी अविश्वास पैदा करते है, प्रामाणिकता का हनन करते है, तनाव प्रतिक्रियाएँ, उपद्रव, चोरी, डकैती, मार-कूट, अत्याचार आदि को प्रोत्साहन मिलता है। यह

सामाजिक, वैयक्तिक व राष्ट्रीय हिंसा है। अतः आजीविका का साधन सात्विक, आवश्यकतानुसार हो, पर पीड़ा से रहित, सद्‌गुणों का पोषक हो।

(१०) प्रदर्शन रहित जीवन हो—आज शृंगार के साधन पंचेन्द्रिय जीवों के घात से बनाये जा रहे हैं जिनका उपयोग केवल शृंगार, दिखावा, प्रदर्शन, अश्लीलता बढाने वाला है। हाथी, बन्दर, खरगोश, गायें, भेड़ें आदि कई प्रकार के जीवों की हत्या हो रही है। उनके चमड़े से, चरबी से, मांस से, हड्डियों से कई प्रकार के साधन बनाकर जीवन चर्या में काम लिए जा रहे है। कहाँ अहिंसा, कहाँ दया, कहाँ प्रेम, कहाँ सहानुभूति, कहाँ सात्विकता, कहाँ कल्याणी भावना आज रही है? सोचनीय विषय है। ये वस्तुएँ जीवन को बरबाद करने वाली है। सात्विकता का नाश करती हैं, इनसे बचें।

आज मानवीय जीवन जो मात्र मुक्ति की आराधना के लिए मिला है, अहिसा, सत्य आदि की पालना करते हुए रत्नत्रय धर्म की आराधना के लिए मिला है। वह नासमझी के कारण, शुद्ध सात्विक संस्कारों की कमी के कारण, असत्संग का कुसंग का भयंकर प्रभाव होने से सत्संग का माहात्म्य घटा देने से, नाना प्रकार के विषैले हिसामय वातावरण से विकृत हो रहा है। आज की युवापीढ़ी को जिसे सिवाय बाह्य शिक्षा, बाह्य जीवन विलासी कैसे हो, धन, पद, प्रतिष्ठा कैसे बढ़े, की ही चिन्ता है। उन्हें सुसंस्कारित करने के लिए आज स्वाध्याय की, सत्संग की, सात्विक आचरण की परम आवश्यकता है। जिस सुख शान्ति व आनन्द के पीछे युवावर्ग पड़ा है, जिसे वह बाह्य में ढूंढ रहा है, दौड़ रहा है, अनैतिक आचरण कर रहा है— वह तो संतोष में, पारस्परिक प्रेम, मैत्री सद्‌भावना में, उदारता में, कष्ट सहिष्णुता में है, सहयोग में है, सबके उत्थान मे है, निर्व्यसनमय जीवन में है। समाज की रचना, व्यवस्था, संगठन, विधान दृढ़ होना चाहिए। ऐसे नैतिक सदाचारमय शिक्षण की व्यवस्था हो जहाँ अहिसा, सत्य ऐसी भावना हो, प्राणी मात्र के कल्याण मे ही अपना कल्याण है, देश के प्रति, समाज के प्रति, कुटुम्ब के प्रति और अपने आत्मीय गुणों की आराधना के प्रति सजगता हो। ऐसे प्रयत्न धर्म मन्दिरों में, स्थानकों में, घर में, समाज में होने चाहिए। यदि मानवीय एकता व प्रेम नही है तो प्राणीमात्र के कल्याण की बात कहाँ संभव है? अतः प्रभु महावीर के सन्देश, उनके वचन—शास्त्रों का सही रूप में नित्य प्रति अवलोकन व आचरण हो तो यह युवा पीढ़ी जो भविष्य की समाज निर्माता है, सुधर सकती है। हर स्तर पर सुधार लाना आवश्यक है नही तो बढ़ता हुआ मांसाहार, तोड़-फोड़ विषमता नहीं रुक सकेगी। हमारे सन्तजन, बुद्धिवर्ग, विचारक इस पर गहराई से सोचे-समझे और तदनुरूप व्यवस्था दें।

—३८२, अशोकनगर, गौशाला के सामने, उदयपुर

—●—

उपकारित है। हमारे प्रत्येक के जीवन का बनाए रखने में अनंत-अनंत जीवों का उपकार है। कदाचित् जीवन में सहायीभूत सभी जीवों को नष्ट कर दिया जावे और मनुष्य अकेला जीवनयापन करना चाहे तो फिर उसका स्वयं का जीवन भी टिक नही पायेगा और अन्य सहायी जीवों के अभाव में उसका जीवन घोर दुःख व कष्टों से पूरित हो जायगा। इसी संदर्भ में कुछ समय पूर्व की एक सत्य घटना है। समुद्र के बीच में रहे द्वीप में सर्प बहुत थे। वहाँ के निवासियों ने एक बार उन सबको जीवन घातक मान कर मार डाला। उनके मरने के बाद उस द्वीप मे कुछ ही समय बाद, ऐसी भयंकर बीमारी फैली, कि वहाँ मनुष्यों का रहना दूभर हो गया। इस पर जांच करने वाले बड़े-बड़े अन्वेषक व विशेषज्ञ बुलाए गए। उन्होंने खोजकर पता लगाया कि उस द्वीप की जलवायु दूषित हो गई है। उसे ठीक करने हेतु पुनः पूर्ववत् सर्पो को वहाँ बसाया जाना आवश्यक है। अतः फिर दूसरी जगह से सर्पो को लाकर वहाँ पाला गया, तब वहाँ का जन-जीवन सामान्य हुआ। वस्तुतः प्रकृति ने जितने भी जीव-जन्तुगण बनाए हैं, वे सब हमारे जीवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक और उपयोगी हैं।

प्रश्न—इतिहास बताता है कि राष्ट्र के पराधीन होने का कारण अहिंसा रही है। यदि राष्ट्र को गुलाम करने वालों का मुकाबला करने वाले अहिंसक वृत्ति के न होते तो भारत कभी पराधीन नहीं होता। अतः अहिंसा क्या गुलामी का कारण नही है?

समाधान—इस प्रकार की विचारणा नितान्त असत्य और भ्रामक है। इतिहास का अवलोकन करने से यह भ्रांति दूर हो जाती है। अहिंसा के पालक जितने भी राजा महाराजा हुए जैसे महाराजा श्रेणिक, अशोक, चन्द्रगुप्त आदि के शासन काल में भारत कभी पराधीन नहीं हुआ, वरन् उनका काल तो इतिहास में स्वर्णिम युग के नाम से प्रसिद्ध रहा है। इसके विपरीत मुगल बादशाहों ने या अंग्रेजों ने कब अहिंसा का पाठ पढा था? फिर उनके शासन का अंत कैसे हो गया? वस्तुतः भारत के पराधीन होने का कारण अहिंसा नही, वरन् उस समय की राजनैतिक परिस्थितियाँ थी। अतः अहिंसा राष्ट्र को गुलाम बनाने वाली है—ऐसी मान्यता ठीक नही है।

प्रश्न—जीवन में कदम-कदम पर हिंसा होती है। बिना जीव-हिंसा के कोई जीवित नही रह सकता, फिर अहिंसा का पालन कैसे संभव है?

समाधान—एकबार भ० महावीर से उनके प्रमुख शिष्य गौतम स्वामी ने भी ऐसा प्रश्न पूछा था कि प्रभो! चलने में, बैठने में, खड़े होने में, खान करने में, श्वास लेने में सभी क्रियाओं में जीवों की हिंसा होती है फिर जीव-हिंसा से कैसे बचा जाय? तब भ० महावीर ने इसका बड़ा सुन्दर एवं व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा था—

"जयं चरे जयं चिन्दे, जयं मासे जयं सिए।
जयं भुजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥"[1]

अर्थात् है गौतम ! जयणा (यतना) से चलने, जयणा से बैठने, जयणा से सोने व जयणा से बोलने से पाप कर्म नहीं बंधते हैं।

आशय स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य यतना और विवेक पूर्वक करने से, पाप कर्म का बंध नहीं होने से उस हिंसा के विपाक से बचा जा सकता है। गृहस्थ जीवन में सम्पूर्ण अहिंसा का पालन यद्यपि सम्भव नहीं है तथापि वह यतना और विवेक पूर्वक सभी कार्य करे तो अधिकांश हिंसा से सहज बच सकता है। एक बार एक जिज्ञासु ने एक विद्वान् से पूछा—"हम कैसे जीवें ?" कारण Living is killing (लिविंग इज किलिंग) अर्थात् जीना जीवों को मारना है।" तब विद्वान बन्धु ने बड़ा श्रेष्ठ समाधान देते हुए कहा—"Killing least living best" (किलिंग लीस्ट लिविंग बेस्ट) अर्थात् कम से कम जीवों का हनन हो, ऐसा जीवन सर्वोत्तम जीवन है और वह अहिंसा प्रधान होगा।

इसी प्रकार अन्य बौद्धिक प्रश्न व उनके समाधान विचार-शुद्धि के लिए प्रस्तुत किए जावें जिससे सभी का मानस हिंसक विचारों से हट कर शुद्ध सात्विक अहिसक विचारों की ओर आकर्षित हो। इस प्रकार जब विचार-शुद्धि होगी तब आचार-शुद्धि जीवन में पनप सकेगी।

आचार शुद्धि :—

इसका मुख्यत: तीन भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) खान-पान (२) रहन-सहन व चलन तथा (३) व्यापार-धन्धा।

१. खान-पान—जीवन में खानपान का बड़ा महत्त्व है। कहावत है—

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन्न।
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वाणी।

खान-पान शुद्धि हेतु आवश्यक है कि अभक्ष्य पदार्थो का तथा जो तामसिक वृत्ति प्रधान हों, ऐसे आहार का सेवन न करे। आज माँस, मदिरा, अण्डे, तथा अन्य नशीली वस्तुओं का सेवन बढ़ता जा रहा है। भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक 'बहुधा' जैनियों में भी नहीं रहा है। पूर्व में खान-पान से जैन की पहिचान होती थी। जो जमीकंद का सेवन न करे, रात्रि मे भोजन न करे और पानी छानकर पीवे, इन तीन बातों से जैन की पहिचान होती थी। किंतु खेद है कि आज इन तीनों वातों का पालन करने वाले जैन मुश्किल से पाँच प्रतिशत भी नहीं मिलेगे। अभक्ष्य और रात्रि भोजन न केवल हिंसा को बढ़ावा और विचारों को विकृत करता है, वरन् अनेक व्याधियों को जन्म देता है अत: जीवन में

---

१ दशवैकालिक सूत्र

मुख्य रूप से-सोने चाँदी, जवाहरात और कपड़े के धन्धे आते है। प्राचीन काल में जैनी प्राय: इन तीन धन्धों के अलावा अन्य धन्धे नही करते थे चाहे आजीविका सम्बन्धी कितनी ही परेशानी क्यों न आवे। किन्तु आज तो महा आरंभी और अनार्य धन्धों को भी जैनी नि.संकोच अपना रहे है। जिन कार्यो को पन्द्रह कर्मादान में बताकर निषेध किया गया है, आज वे सब अपनाए जा रहे है। हमारा जीवन अहिंसा मय हो इस हेतु यह परम आवश्यक है कि हमारा व्यापार धन्धा भी अल्प आरंभ और अल्प हिंसा वाला हो।

महा पुरुषों के जीवन एवं उपदेशों से अहिंसा की प्रेरणा लेवे :

संसार में जितने भी महापुरुष हुए है वे सभी अहिंसा मे विश्वास रखते थे तथा वे सभी अहिंसा के पक्षधर थे। म० महावीर ही नही, श्री राम, कृष्ण म० ईसा मसीह, म० गौतम बुद्ध, जरस्थु, हजरत मौहम्मद साहब, म० गाँधी आदि सभी धर्मो के महापुरुषों का जीवन अहिंसा से ओतप्रोत रहा है। अहिंसा को जीवन में विकसित करने हेतु, इन महापुरुषों के जीवन चरित्र बहुत उपयोगी है। जो अहिंसा को जीवन में अव्यवहार्य मानते है उनकी भ्रान्ति अहिंसा का जीवन्त स्वरूप चरित्र पढ़कर दूर हो जाती है। उदाहरण के लिए म० गांधी का जीवन अवलोकन करे। केवल लंगोट व एक चद्दर एवं अर्धनग्न रहने वाले इस महापुरुष ने बिना हिंसा का सहारा लिए उस ब्रिटिश सरकार को, जिसके विशाल राज्य मे कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, पराजित कर भारत को स्वतत्र करने हेतु, विवश कर दिया। कितनी अजब-गजब की शक्ति है अहिंसा में। जो कार्य खूनी क्रान्ति से भी दुष्कर था, उसे अहिंसा के बल से सहज कर दिखाया गया। अहिंसा के सिद्धान्त जीवन में सहज रूप से उतरे, इस हेतु यह भी आवश्यक है कि महापुरुषों के जीवन चारित्र के साथ २ उनके अहिंसा से संबधित उपदेशों का भी ध्यान पूर्वक पठन करें। अहिंसा पालन के अनेक सुगम किन्तु स्वर्ण सूत्र महापुरुषों के उपदेशों मे पढ़ने को मिलते है जिन्हे अपनाकर सहज ही अपने जीवन को अहिंसामय बना सकते है। उदाहरणार्थ भ० महावीर द्वारा अहिंसा के संबंध मे प्ररूपित अनेक सूत्रो में से एक सूत्र जो 'बृहतकल्प भाष्य' मे उल्लेखित है, यहाँ प्रस्तुत है—

"जं इच्छसि अप्पणत्तो, जं च ण इच्छसि अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि एत्तियग जिण सासणय।।"

अर्थात् जो अपने लिए चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी चाहना चाहिए। जो अपने लिए नही चाहते हो, वह दूसरो के लिए भी नही चाहना चाहिए। बस इतना मात्र जिन शासन है—तीर्थंकरो का उपदेश है।

उपर्युक्त सूत्र गागर मे सागर रूप है। इस सूत्र में केवल जैन धर्म का ही नही संसार के समस्त धर्मो का सारगर्भित रूप आ जाता है, ऐसा भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। 'अहिंसा पालन का उल्लेख न करके भी इस सूत्र में

अहिसा पालन क्यों, कैसे व अहिसा किसे कहते हैं आदि सब कुछ संकेत में व्यक्त कर दिया है। सूत्र में सारांश में यह भाव स्पष्ट है कि जैसे सुख-दुःख, भूख-प्यास, मान-अपमान, मरण आदि की अनुभूति हमें होती है वैसी ही दूसरे प्राणियों को भी होती है। अतः हम किसी से भी ऐसा व्यवहार न करें जो हम अपने साथ नही चाहते अर्थात् किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न करे। इस सूत्र पर गंभीरता से पुनः २ चिंतन मनन किया जाय तो मात्र हम एक सूत्र से जीवन में बडा परिवर्तन आ सकता है तथा सारा जीवन अहिसामय बन सकता है। इसी प्रकार महापुरुषों ने सुदीर्घ साधना एवं विशिष्ट ज्ञान बल से आत्मार्थियों के लिए अपने उपदेशों मे अनेक स्वर्ण-सूत्र ऐसे प्ररूपित किए हैं कि जिनके स्वाध्याय मात्र से न केवल हिसक वरन् चोर, डाकू, व्यभिचारी, व्यसनी, महापापी और अधर्मियों का जीवन भी सुधर जाता है। ऐसे स्वर्ण सूत्र रूपी मोतियों को प्राप्त करने हेतु महापुरुषो के उपदेश जो सूत्रों में अंकित है, का अवलोकन आवश्यक है। कहा है—

"है सूत्र सागर में अनेकों, ज्ञान मोती है पड़े।
पाओ लगा गोता उसी मे, ना रहो यों ही खड़े ।।"

व्यावहारिक जीवन में अहिंसक प्रवृत्तियों को महत्त्व देवें :

हमारा जीवन अहिसामय हो, इस हेतु एक महत्त्वपूर्ण और कारगर साधन है— व्यवहार में उन प्रवृत्तियो को वढावा देवे जो अहिसा से जुडी हों। 'जैसे जीव दया मण्डल' 'विकलांग सहायता समिति,' 'पशु पत्ती क्रूरता निवारण समिति', 'गोशाला', 'पशु बलि निषेध कार्य कारिणी,' 'महावीर इन्टर नेशनल समिति', 'पशु-पक्षी कल्याण कोष,' इत्यादि परमार्थिक संस्थाएँ। जिसे जिन परमार्थिक कार्यों में रुचि हो, उधर तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग देवें। परमार्थिक कार्य अनेक प्रकार के हो सकते है जैसे अनाथ, अपंग, दीन-दु:खी, रुग्ण, असहाय, विधवा, निर्धन छात्र व ऐसे ही अन्य सहायता-योग्य प्राणियों को आवश्यक सहायता अन्न, वस्त्र, दवा, आर्थिक सहायता आदि करना। निरीह पशु-पक्षियों के लिए चारा, पानी, दवा आदि की व्यवस्था करना। रुग्ण, बीमार अशक्तों की यथा सभव सेवा सुश्रूषा व सहायता करना इत्यादि। वैसे ये सभी कार्य जीव दया के होने से अहिसा से सम्बन्धित है। जो भी इन कार्यो को अपनाता है वह महान् पुण्य का भागीदार होता है। अहिसा उसके जीवन का उत्थान कर उसे सद्पुरुष से महापुरुष बना देती है। अतः जीवन में अहिसा धर्म को उतारने का यह एक व्यावहारिक, सुगम और ठोस उपाय है।

अहिसक साहित्य का प्रचार एवं स्वाध्याय :

देश और समाज को बदलने मे तीन निमित्त मुख्य होते है—(१) संस्कृति (२) साहित्य एव (३) खान पान व वेष-भूषा। अंग्रेजों ने इन्ही तीन को बदल कर भारत वासियो को पाश्चात्यानुवर्ती बना पराधीन बनाया था। इन तीनों मे भी साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कहा गया है—

"मेरे सत्य अहिंसा में है, गति उद्यम बल ओज निराला।
मै हूँ महाक्रांतिदर्शी नर, मेरी क्रान्ति निपट विकराल ॥"[४]

अहिंसा प्रतिक्रियात्मक शस्त्र नहीं है। सियाराम शरण गुप्त ने कहा है कि हिंसा से हिंसा शांत नही होती। हिंसा का एकमात्र उत्तर अहिंसा है।

आज का मनुष्य जगल की सभ्यता को प्रमाण मानकर अंतर्राष्ट्रीय सभ्यता मे प्रवेश कर रहा है। फिर भी मारकाट, खूनखराबा जारी ही है। अहिंसा मनुष्य को अविवेकी जंगलीपन से निकालकर विवेक सम्पन्न मानवतावादी सभ्यता की दिशा में ले जाने को अग्रसर है। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा इस सन्दर्भ में पूछा हुआ प्रश्न और उसका समाधान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते है—

"तुम निर्माण नही कर सकते, फिर क्यों नाश करोगे ?
जीने देकर जियो, मार कर क्या तुम नहीं मरोगे ?"[५]

'जिओ और जीने दो' इस भाव को प्रसाद ने 'कामायनी' में श्रद्धा के माध्यम से अभिव्यक्त किया है—

हिंसक से रक्षा करे शस्त्र,
पर जो निरीह है,—जी कर भी कुछ,
उपकारी होने मे समर्थ।
वे क्यों न जिये उपयोगी बन,
इसका मैं समझ न सकी अर्थ।[६]

अहिंसा महावीर का धर्म है। अहिंसक निडर होता है, वह मौत से नहीं डरता, न वह किसी का शत्रु होता न कोई उसका शत्रु होता है। अहिंसा का यह विचार निरन्तर हिन्दी कविता के सामर्थ्य को बढाता रहा। अहिंसा को जीवन का मर्म मानकर विश्व मंगल की साधना में आधुनिक हिन्दी कवि जुडा रहा। उसने अहिंसा को अंतर्राष्ट्रीय जागरण का प्रतीक माना। मनुष्य की अमूल्य सम्पत्ति के रूप मे उसे देखा-परखा।

कथा साहित्य में अहिंसा—

हिन्दी के कथा क्षेत्र में अहिंसा का विचार अत्यत मनोरम शैली मे देखा जा सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'रगभूमि' का सूरदास अहिंसा का अनन्य उपासक है। उसके जमीन के प्रश्न को लेकर जब एक विशाल आन्दोलन उठ खड़ा होता है तब वह अहिंसा का विचार ही तो समझाता है और लोगो के न समझने पर आत्महनन के लिए तैयार हो जाता है। उसकी अहिंसा की उपलब्धि इतनी महान है कि वह शत्रु के व्यवहार को भी मैत्री मे परिणत कर देता है। भैरोजान सेवक और बजरगी अपने अपराध स्वीकार कर लेते है। सूरदास एक ऐसा अहिंसक वीर है जिसके कारण हृदय-परिवर्तन की स्थितियाँ जागती है।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' में चक्रधर मजदूरों और चमारों के हिंसापूर्ण कृत्य का विरोध करता है।[७] प्रेमचन्द के उपन्यास 'कर्मभूमि' का अमर नामक नायक पग-पग पर अहिंसा के मूल्य को अभिव्यक्ति करता हुआ दिखाई देता है। वह कहता है, "कोई जाति अथवा राष्ट्र हिंसा के द्वारा स्थायी तथा वास्तविक मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।" तलवारों की झनझनाहट और तोपों की गड़गडाहट में भी न्याय की आवाज स्पष्टतः सुनाई देगी। जब तक हम आपस के भेदभाव को भुलाकर सबसे प्रेम करना और सेवा में ईश्वर का रूप देखना नही सिखेंगे तब तक हमें स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती।[८]

प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' में अहिंसक क्रांति की सफलता की गूंज सुनाई देती है जब शंकर मिल मे आग का प्रसंग आता है। उनके ही उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर किसानों के प्रति होने वाले अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि का अहिंसात्मक मार्ग से प्रतिकार करते है। कादिर मियाँ भी सत्य और अहिसा के पुजारी हैं।[९]

प्रेमचंद की कहानियों में 'क्षमा' कहानी का शेख हसन अहिसा-विचार को ही व्यक्त करता है।[१०] प्रेमचंद की 'दिल की रानी', 'मैकू', 'विश्वास' आदि कहानियों में भी अहिसा मार्ग की प्रशस्नता का मनोरम चित्रण देखा जा सकता है।

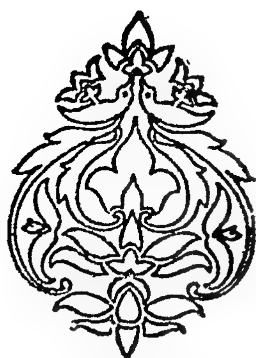
प्रतापनारायण श्रीवास्तव की 'विसर्जन' कहानी में तथा 'बयालीस' उपन्यास में हिंसा के विरुद्ध अहिंसा की विजय-यात्रा का प्रतिपादन है।

'बयालीस' का नायक नरेन्द्र कहता है, "हम अहिसक सेना के सिपाही है। सत्य हमारी ढाल है, अहिंसा हमारा अस्त्र है...........।"[११]

इसी संदर्भ में भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'राजपथ' एवं 'पतवार' का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।[१२] श्री सियाराम शरण की 'गोद' नामक औपन्यासिक कृति में सामाजिक अत्याचार का अहिंसात्मक ढंग से निराकरण करने की पद्धति को निरूपित किया गया है। राधिकारमणप्रसाद सिह अपनी 'पुरुष और नारी' कृति में अहिसा के महत्व को रेखांकित करते हुए कहते है "हिसा की तह में तुम्हारा भय है, अहिंसा की तह में आत्मसयम।"[१३]

जैनेन्द्र के 'सुखदा' और 'विवर्त' मे क्रातिकारी पात्रो की उद्भावना कर कथानक में अहिंसा के प्रतिष्ठान का प्रयत्न किया गया है। हिसा के सूक्ष्मरूप अहंमन्यता का सुखदा के निमित्त विवेचन करते हुए अहिंसा के स्थापनार्थ अहं को विगलित होते दिखाया है।[१४] 'विवर्त' मे हिसा-वृत्ति का खडन करते हुए नायक जितेन के अपराधी व्यक्तित्व का, ग्रंथि से उद्भूत उसके विभाव का प्रतिकार अहिसात्मक तरीके से किया गया है।

छविनाथ पाण्डेय ने 'असहयोग की सफलता' नामक कृति में अहिसा नीति का समर्थन किया है। गुरुदत्त के 'स्वाधीनता के पथ पर' उपन्यास में



लोकगीतों में अहिंसा के स्वर

□ डॉ. विद्याबिन्दु सिंह

हिंसा की प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक नही है, क्योंकि मनुष्य जन्म से ही जिस प्रकार का स्नेह पाता है और जिस प्रकार की सुरक्षा पाता है उसमें सहज रूप से दूसरे के लिए स्नेह और प्यार करना ही स्वाभाविक है। हिंसा की प्रवृत्ति असुरक्षा और अस्वीकृति से आती है। भारतीय मन में दूसरे का स्वीकार और अपने परिवेश मे सुरक्षित होने का अनुभव संस्कार के रूप में प्रदत्त है। इसका कारण है व्यापक विश्व दृष्टि और व्यापक लोक दृष्टि। विश्वदृष्टि से विरोध का महत्त्व नही है, एक दूसरे की कमी पूरी करने का महत्त्व है, एक दूसरे से सीखने का महत्त्व है, एक दूसरे के स्नेह से भीगने का महत्त्व है। इसलिए लड-भिड़ कर भी एक दूसरे के सुख-दु ख मे शरीक होने की बात गाँव के समाज में चली आ रही है. भले ही आज कम हो रही हो। यहां हार मानने मे ही जीत है।

भारतीय लोकदृष्टि मे जो कुछ आँखों से दिखता है, कानों से सुनाई पडता है, जो कुछ छूता है, जो कुछ रस देता है, जो कुछ श्वासों में भरता है, वह सव भीतर समा जाता है, कोई भी वस्तु हेय या तिरस्कार्य नही होती। इस लोकदृष्टि का प्रतिविम्वन लोकगीतों मे इस रूप मे मिलता है कि शुभ कार्य में सवको निमंत्रण दिया जाता है। बिच्छू, साप, वाघ, सवके आगे हाथ पसारते है, तुम आओ, यह शुभ कार्य तुम्हारा ही है। यह लोकदृष्टि हर छोटे बड़े प्राणी की एक अपनी विशिष्ट भूमिका होती है, इस पर वल देती है।

इस लिए भारतीय लोकदृष्टि को लक्षित करने वाले लोक साहित्य मे अहिंसा का स्वर वहुत सहज रूप में मुखरित मिलता है। कभी तो इस रूप मे कि पशु-पक्षी हमारे स्वजन है, पेड़-पौधे हमारे नातेदार-रिश्तेदार है, इनको दु:ख नहीं देना है। कभी इस रूप में कि हम और हमारे परिवेश के प्राणी चेतन या अर्धचेतन एक ही जीवन के अग है। हम एक दूसरे से अभिन्न है। नीम का पेड़ काटने का अर्थ है नीम के पेड की तरह छाया देने वाले वत्सल भाव पर आघात करना। तभी तो गीत कहते है—

निविया के पेड़ जिनि काटेउ वावा
निविया चिरैया वसेर।

बिटियहि दिजन दुख दीह्या ए बाबा
बिटिये चिरैया की नाँय ।

(बाबा नीम का पेड़ मत काटना, नीम पर चिडियों का वसेरा है। बेटियो को दुःख मत देना, बेटियाँ चिड़ियों की तरह है, भोली, निरीह)

कभी इस रूप में कि जहाँ कहीं दुःख देने का या सताने का व्यापार घटित होता है, उसकी पीड़ा के साथ सहानुभूति तो व्यक्त हो ही, सताये जाने वाले प्राणी के साथ एकात्मता का अनुभव किया और कराया जाय। ऐसा करते समय सताने वाले के प्रति प्रायः दया का भाव रहता है कि जो सता रहा है, वह दया का पात्र है, उसके खिलाफ कहीं कुछ कहा न जाय, बस जीवन की समष्टि चेतना को दुःख अर्पित कर दिया जाय। जैसे 'चक्की के गीत' में कहा गया है—भइया ! यह दुःख किसी से न कहना। बस, इस दुःख की गठरी को गंगा-जमुना मैया को सौंप देना ।

लोहवा ता जरै बहिनी लोहरा दुकनियां
बहिनी जरैली ससुररियाँ हो राम
सोनवाँ त जरै बहिनी सोनरा दुकनियाँ
बहिनी जरैली ससुररियाँ हो राम ।
ई दुख जिनि कह्या बाबा के अगवाँ
सभवाँ बइठि पछितइ है हो राम ।
ई दुख जिनि कह्या मइया के अगवाँ
छतिया पिटिय मरि जइ है हो राम ।
ई दुख जिनि कह्या बहिनी के अगवाँ
नाहि ऊ वियहवा न करिहै हो राम ।
हमरी ई विपति गठरिया मोरे बिरना
गंगा जमुना वीचे छोर्या हो राम ।

(भाई कहता है कि जिस तरह लुहार की दुकान पर लोहा जलता है, सुनार की दुकान पर सोना, उसी प्रकार ससुराल में बहन जलती है। बहन कहती है भइया ! मेरा यह दुःख बाबा से न कहना, नही तो वह सभा में बैठकर पछतायेगे। माँ से मत कहना, नही तो वह दुःख से छाती कूटकर मर जायेगी। बहन से न कहना, नही तो वह ससुराल के कष्टों से भयभीत होकर विवाह ही नही करेगी। मेरी यह विपत्ति की गठरी गंगा-यमुना की धार बीच छोड़ देना जिससे कि मेरी व्यथा से कोई दुःख न पाये) ।

यह भाव कितना स्पृहणीय है। शारीरिक हिसा की कौन कहे मानसिक हिसा न करने के प्रति जो सचेत दृष्टि यह है, उसको किसी उपदेश से इतना अधिक ग्राह्य नहीं बनाया जा सकता ।

कभी-कभी इस रूप में भी इस भाव को उभारा गया है कि सताने वाले के मन में पछतावा जग जाय। एक 'श्रम गीत' में बड़ा भाई अपने छोटे भाई की पत्नी के रूप पर आसक्त होकर छल से छोटे भाई को मार डालता है। छोटे भाई की पत्नी इस छल को समझ कर चतुराई से जेठ से प्रार्थना करती है कि मुझे अपने पति के अंतिम दर्शन करा दो, तुम्हारा ही तो सहारा है। वह उसे लेकर वन में भाई की लाश के पास जाता है। तब वह फिर प्रार्थना करती है कि इनके अंतिम संस्कार के लिए आग ले आइये। आपको छोडकर अब कही नही जाऊँगी। पर जब वह आग लेने चला जाता है तब ईश्वर से प्रार्थना करती है कि यदि मैं मनसा-वाचा-कर्मणा प्रतिव्रता हूँ तो मेरे आँचल से स्वयं आग धधक उठे। आग धधक उठती है, वह पति के साथ सती हो जाती है। जेठ लौटकर यह दृश्य देखता है तो पश्चाताप के सिवाय उसके पास कुछ नही रह जाता—

जो हम जनत्यों भह्यू ऐसन करबू
काहे के काटित दाहिन बहियाँ हो राम।।

(भाई की वधू! यदि मैं जानता कि तुम ऐसा करोगी तो क्यों मैं अपनी दाहिनी बांह काटता, भाई का वध न करता)

एक गीत में बहेलिया के लड़के द्वारा परेशान कोयल का स्वर उभरता है—

"डारी डारी पसिया रे लसिया लगावै,
पाते पाते कोइलरि लुकायँ
यस उदवसिया रे पसिया बेटउवा
कौने बृन्दहिवन जावँ।"

(डाल-डाल पर पासी (बहेलिया) लासा लगा रहा है, कोयल को फँसाने के लिए और कोयल पत्ते-पत्ते में छिप रही है। पासी का बेटा ऐसा उद्‌वासी (बसेरा उजाड़ने वाला) है कि किस वृन्दावन में जाकर रहूँ)।

यह गीत सुनकर कोयल ही क्यों समस्त पक्षी-जगत की विवशता की ओर करुणा की धार प्रवाहित होने लगती है। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो इस करुणा से भीगकर पश्चाताप नही करेगा मानव की निर्ममता पर?

स्पृहणीय भाव इसमे यह भी व्यंजित है कि यह गीत विवाह संस्कार का है और प्रकारातर से यह कन्या का बसेरा उजाड़ कर ले जाने वाले वर की ओर सकेत करता है और वर के मन मे करुणा का सचार करता है।

लोक गाथाओं में प्राय: यह भाव भी मिलता है कि सहिष्णुता का भाव ही अन्त मे जीतता है। एक परदेसी पति लम्बी अवधि के बाद घर लौटता है

तो मां-बहन से पत्नी के बारे में पूछता है। बहन भाभी की शिकायत करके उसकी अग्नि परीक्षा लेने की सलाह देती है। पति अपनी पत्नी की अग्नि परीक्षा की घोषणा कर देता है—

इतने वर्षों से बाट जोहती पत्नी चुपचाप परीक्षा की तैयारी करने लगती है। नाई से कहती है कि तुम मेरे धर्म के भाई हो, मित्र हो, मेरे पिता व भाई को सदेश पहुँचा दो कि तुम्हारी बेटी की अग्नि परीक्षा है, आये और देखे। बढ़ई, लुहार और तेली से कहती है कि तुम मेरे धर्म के भाई हो, मित्र हो, धर्म की लकडी चीर लाओ, धर्म की कडाही गढ़कर लाओ और धर्म का तेल पेर कर लाओ। भरी सभा के बीच अग्नि परीक्षा देकर वह विजयी होती है। सूरज की सौगन्ध खाती है तो सूर्य छिप जाते है। गंगा की सौगन्ध खाती है तो गगरी का जल सूख जाता है। आग की सौगंध लेती है तो खौलता हुआ तेल शीतल हो जाता है। जीती हुई बहन को ले जाने के लिए भाई चन्दन की पालकी सजाता है। और पति पश्चात्ताप के आठ-आठ आंसू रोता है। अपनी मां बहन को कोसता है कि तुमने मेरी गृहस्थी में आग लगा दी—

मुँहवा अँजोर किहे हँसे बीरन भइया हो राम
मोरी जीतलि बहिनी जइहै नइहरवाँ हो राम।
मुँहवा पटुक धरि रोवै परदेसिया हो राम
जीतलि धना संगा छाड़ि जइ है हो राम।

(मुँह उजाले में करके भाई हँसता है। परीक्षा में खरी उतरी मेरी बहन मायके जायेगी। मुख पर पट डालकर परदेसी पति रो रहा है, जीत गयी प्रिया मुझे छोड़ जायेगी।)

कभी-कभी सताने वाले के प्रति शाप का भाव भी व्यक्त होता है। पर यह शाप आक्रोश मे भी इस रूप में दिया जाता है कि शाप की निष्कृति कितनी भी दारूण क्यों न हो पर शुभ के लिए हो। जैसे कौशल्या को एक गीत में हिरनी द्वारा शाप दिया गया है। राम की छठी के लिए वधिकों द्वारा हिरन का वध कर दिये जाने पर हिरनी कौशल्या के पास जाती है और कहती है कि रानी माँस तो पकवाना पर मेरे हिरन की खाल मुझे दे दो। उसे पेड़ पर टांग कर उसी को देखकर अपने मन को ढांढस दूँगी। रानी मनाकर देती है'— कहती है कि इस खाल से तो मेरे राम के लिए खझडी बनेगी। हिरनी शाप देती है कि रानी जिस तरह आज मैं अपने हिरन के वियोग में विसूर रही हूँ वैसे ही तुम्हें भी विसूरना पड़ेगा। कुछ क्षेत्रों में तो गीत में यह शाप हिरनी द्वारा दिया गया है पर कुछ मे केवल हिरनी का दुःख घनीभूत होकर व्यक्त हुआ है—

जब-जब बाजइ खझड़िया सबद सुनि अनकइ,
हिरनी ठाढ़ी ढाखुलिया के तराँ हिरन को विसूरइ॥

जब-जब खभड़ी बजती है हिरनी ढाक (पलाश) के पेड़ तले खड़ी होकर कान उटेर कर वह स्वर सुनती है और अपने हिरन के लिए बिसूरती है।)

उसका यह दु:ख शाप से अधिक मन को स्पर्श करता है और हिंसा भाव के प्रति मन में आक्रोश जगाता है।

माता कौशल्या को हिरनी शाप का भोग भोगना पड़ता है। यह गीत मनुष्य की उस निष्ठुर प्रवृत्ति की ओर तीखा प्रहार करता है जब वह अपने सुख मे लीन होकर आसपास के प्राणियों के सुख-दुःख की चिंता नही करता। माता कौशल्या तो एक प्रतीक है, मां की ममता की। और उस ममता से यह प्रमाद कभी क्षम्य नही होता। लोक की दृष्टि में माता कौशल्या को शाप के कारण जो दुख होता है वह बड़े जातीय मंगल में ही परिणत होकर शुभ बन जाता है।

गीतों में माता कौशल्या द्वारा चकवा-चकवी को शाप दिया गया है। क्योंकि उसने अपने सुख में भूलकर दूसरों के दुःख की चिता नही की। माता कौशल्या के पूछने पर कि वन जाते हुए राम लक्ष्मण सीता को तुमने देखा कि वे किस राह गये ? तो चकवी उत्तर देती है कि मै तो अपने चकवे के साथ आनंद विहार कर रही थी, मैंने उन्हें नहीं देखा। माता कौशल्या उसे शाप देती है—

लेहु न चकई तू मोरा सरपवा हो ना
चकई दिन भरि रह्य जंघिया जोरि त
रतिया बिछोहिल हो राम ।।

(चकई लो मेरा शाप लो, दिन भर तो तुम अपने प्रिय के साथ रहोगी पर रात को विछुड़ जाओगी)।

पर एक अन्य गीत में जब हिंडोला झूलती रुक्मिणी का हार टूट कर यमुना में गिर जाता है और वे चकई से कहती है कि मेरा हार जल मे से चुन लाओ तब वह बिछोहिल चकई कह उठती है कि रानी ! तुम्हे अपने हार की पड़ी है, मेरा चकवा बिछड़ गया है उसे ढूंढ रही हूँ।—

"अगिया लगावो रानी हरवा, वजर परे मोतिया
रानी सँझवे से बिछुरा चकउवा हेरत नाहीं पायो"।)

(रानी ! तुम्हारे हार में आग लगे, मोती पर वज्र पड़े। मेरा तो चकवा ही साँझ से बिछुड गया है, उसे खोज रही हूँ, मिल नही रहा है।)

यह दुःख की तीव्रता और उसका एहसास करुणा की पृष्ठभूमि है। करुणा ही अहिंसा भाव को जन्म देती है। इसीलिए इन नाना रूपों मे जो अहिंसा के स्वर मुखरित होते है उनमें सबसे अधिक मुख्य स्वर करुणा है, विश्व-व्यापी करुणा है, जो सभी सीमाओं को तोड़ करके उमड़ती है। करुणामयी

• लोक गीत में अहिंसा का र

अहिंसा निषेधात्मक नहीं हो
तब अपने मन को समझाने व
हिंसा न करो, तब भीतर की
सताना अपने को ही सतान
नहीं है। इस अहिंसा मे
शक्ति का आभास कहता है
इसीलिए लोक गीतों का य
के क्षण में बहुत कुछ पराय
जाता है। जिसने एक बार
जाने पर निषेध लगाने का
बिना न रहेगा। बिना अहिंसा ...
अहिंसा बहुत भीतर तक उतर जाती है और मन की शक्ति बन जाती है। आवश्यकता है यह सुनिश्चित करने की कि यह स्वर खो न जाये, हमारे जीवन में इसकी स्मृति दुहराई जाती रहे और हमें इस स्वर से भीगने का अवसर मिलता रहे।

—उपनिदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

गैंहणो है म्हारो से परिवार

म्हारा सुसरोजी गढ रा राजवी,
सासूजी म्हारा रतन भंडार।
म्हारा जेठजी बाजूबन्द वांकड़ा,
जेठाणी बाजूबन्द री लूम।
म्हारो देवर चूडलो दांत रो,
देराणी म्हारी चुडले री मजीठ।
म्हारी नणद कसूमल कांचळी,
नणदोई म्हारो गजमोतियां रो हार।
म्हारो कंवर घर रो चानणो,
कुळ बहू म्हारे दीवळे री जोत।
म्हारी धीमज हाथ री मूंदड़ी,
जंवाई म्हारे चंपे रो फूल।
म्हारो सायब सिर रो सेवरो,
म्हें तो सेजां री सिणागार।

(राजस्थानी लोक गीत से)

जव-जव खभड़ी व

कान उटेर कर वह स्व

उसका यह

के प्रति मन में

मा

ननुष्य

नें ल

हिंसा से विश्व-समस्याओं का समाधान

☐ श्री शान्तिलाल पोखरना

अहिंसा अमोघ शस्त्र है जिसके द्वारा सब समस्याओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सच्ची विजय भी अहिंसा के द्वारा ही होती है, जिसमें किसी प्रकार का मनोमालिन्य नहीं रहता है। रागद्वेष की समाप्ति ही सच्ची अहिंसा है। इसीलिए जैन दर्शन में अहिंसा की जितनी सूक्ष्म व्याख्या या गहराई मे डुबकी लगाई गई है, उतनी शायद ही अन्यत्र कहीं दिखाई दे।

मन से, वचन से और कर्म से अहिंसा का पालन करने पर ही उसका सच्चा फल प्राप्त होता है। जैन साधु-साध्वी अहिंसा के सच्चे उपासक है। वे पंचमहाव्रतधारी कहलाते है। उनमे भी अहिंसा को प्रमुख स्थान है। वे सदैव यत्नापूर्वक चलते, यत्नापूर्वक बोलते और यत्नापूर्वक सोचते हुए ही गाँव-गाँव और नगर-नगर में प्राणी मात्र के कल्याण की मगल कामना करते हुए विचरण करते हैं। उनकी कथनी-करनी मे सामन्जस्य रहने से उसका प्रभाव पड़ता है और लाखों व्यक्ति उनके प्रभाव से अपना जीवन उज्ज्वल बनाते है। "अहिंसा परमोधर्मः" इसी लक्ष्य की ओर और आगे बढते हुए महावीर के दिव्य सन्देश "जीओ और जीने दो" को वे उद्घोषित करते रहते हैं।

अहिंसा का सीधा-सादा अर्थ है—हिंसा से दूर रहना। 'अ' हिंसा की आड़ है। हिंसा पर आड लगी रहेगी तो स्वत. अहिंसा का विकास होता रहेगा। आज विश्व की सबसे बडी समस्या यही है कि मनुष्य वैज्ञानिक उपलब्धियों से प्रकृति की दूरियों को तो कम करके चन्द्रलोक तक पहुँच रहा है किन्तु मन की दूरियाँ बढ़ती जा रही है। जब तक मन की दूरियाँ रहेंगी तब तक अहिंसा का विकास नही हो सकता। मन के भाव, संकल्प और विचारो को मोडना होगा और इसके लिए प्रत्येक आत्मा में अपने समान ही आत्मा का दर्शन करना होगा। जो मुझे प्रिय नहीं है, वह दूसरे को कैसे प्रिय होगा ? दूसरों को दुःख पहुँचा कर कभी सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता है। कहा भी है "सुख दिए सुख होत है, दुःख दिए दुःख होत" सुख-दुःख के कर्ता हम स्वयं है। ईश्वर

न किसी को दुखी करता है और न किसी को सुखी। हम जैसा कर्म करते है, उसी के अनुसार हमको फल की प्राप्ति होती है। जैसा बीज वैसा फल। अतः कर्म करते समय हमको सदैव अहिंसा को सामने रख कर कर्म करना होगा। आज भौतिकता की चकाचौध में हम सब कुछ भूल कर पापाचार के कार्य जैसे, बड़े-बड़े आधुनिक बूचड़खाने, मत्सय कारखाने, मुर्गी मार खाने आदि न जाने ऐसे घोर हिंसा के कार्य कर रहे है और सभ्यता से हम कहते है कि हम मत्सय पालन, मुर्गी पालन और गोपालन कर रहे हैं। नाम पालन का और काम कसाई का, यह कैसा विरोधाभास है? पालन तो माता करती है जो अपना सर्वस्व न्यौछावर कर अपनी सन्तान की रक्षा करती है। तभी हमारे देश में माता की पूजा होती है और भारत माता, जन्म माता और गौ माता के लिए अपने सपूत शीश कटाते हुए मातृ-भूमि के लिए हँसते-हँसते बलिवेदी पर चढ़ जाते हैं।

वर्तमान युग में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने श्रीमद् रामचन्द्र से प्रभावित होकर जीवन पर्यन्त अहिंसा का प्रयोग कर भारतवर्ष को न केवल आजादी दिलाई अपितु संसार के सामने एक नया मार्ग प्रशस्त किया जिसके द्वारा विश्व का कल्याण सम्भव है। हिंसा के परिणामों की कहानियाँ कई शताब्दियों तक हम इतिहास में पढ़ चुके हैं परन्तु लड़ाइयों ने लड़ाइयों को ही जन्म दिया है।

आज आवश्यकता धर्म और विज्ञान के समन्वय की है। धर्मविहीन विज्ञान मानव के लिए अहितकारी है तो विज्ञान रहित धर्म मानव के लिए कार्ल मार्क्स के अनुसार अफीम है। अहिंसा के द्वारा धर्म और विज्ञान का समन्वय सम्भव है और इसी के द्वारा विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति की ओर बढ़ा जा सकता है जिससे इस संसार में न कोई भूखा रहे न नंगा और न कोई बिना छत के सोए। ऐसी मंगलमय भावना और अपेक्षाओ के साथ "अहिंसा परमोधर्मः"।

—७५, काशीपुरी, भीलवाड़ा–३११००१

अहिंसा का सूर्य

सूर्य अहिसा का अम्बर में, जब है चमक दिखाता।
क्रोध घृणा का अन्धकार तब, है बिल्कुल मिट जाता॥
कमजोरी का नहीं, अहिंसा है वीरों का धर्म।
कायरता से बढ़कर जग में, कोई नहीं अधर्म॥

—निरंकारदेव से



अहिंसा को जीवन में कैसे उतारें ?

❑ श्री लालचन्द्र जैन

जैन धर्म के तीन मुख्य आचरणीय सिद्धान्त है। ये तीनो ही वर्णमाला के 'अ' अक्षर से प्रारम्भ होते हैं। ये है अहिंसा, अचौर्य और अपरिग्रह। ये तीनों ही एक दूसरे में इतने घुले-मिले है कि एक के विना दूसरे का और दूसरे के विना तीसरे का पालन लगभग अशक्य है।

अहिंसा का अर्थ मात्र 'किसी को न मारना' ही नही है किन्तु प्रत्येक ऐसा कार्य जिससे अन्य किसी व्यक्ति का दिल दुखता हो, न करना ही अहिंसा है। किसी से ऐसा कार्य करवाना जिससे किसी का दिल दुखता हो या ऐसा कार्य करने वाले का समर्थन करना, मन मे ऐसा सोचना या वचन से ऐसी वात का उच्चारण करना भी हिंसा है।

अव अहिंसा की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार यदि हम सोचें तो अचौर्य और अपरिग्रह भी अहिंसा से ही सम्वन्धित हो जाते है। जव हम परिग्रह करेंगे तो अवश्य ही समाज के अन्य व्यक्तियों के हक को छीनेंगे और इससे अन्य व्यक्तियों के दिल दुःखेंगे, जिससे वह हिंसा होगी।

मान लीजिये कोई व्यक्ति स्टेशन पर, रेल मे या वस मे अपनी कोई वस्तु भूल कर चला जाता है। याद आते ही वह दौड़कर वापस आता है। उस समय यदि उसे वह वस्तु मिल जाती है तव तो वह वड़ा प्रसन्न होता है, किन्तु यदि उसे वह वस्तु नही मिलती तो वह उस वस्तु को ले जाने वाले को सौ-सौ गालियां देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो भी व्यक्ति उस पड़ी हुई वस्तु को उठा ले गया उसने चोरी की और वस्तु के मालिक का दिल दुखाया इसलिए हिंसा भी की।

दुःख की वात है कि आज अहिंसा में विश्वास करने वाले जैन ही सवसे अधिक परिग्रह रखते है। कुछ व्यक्ति परिग्रह परिमाण व्रत को धारण भी करते हैं तो प्रथम तो वे अपने परिग्रह की सीमा जो अभी वर्तमान मे है, उससे कही वहुत अधिक की वांधते है, जो सरासर गलत है। परिग्रह को कम करने के लिए ही सीमा वाँधी जाती है, उसको वढ़ाने के लिए नहीं। परिग्रह को वढ़ाने का अर्थ है दूसरों के श्रम को छीनना, दूसरो की आवश्यक वस्तुओं पर अनावश्यक स्वामित्व। जवकि भगवान महावीर ने तो श्रम करने वाले को ही 'श्रमण' कहा है।

दूसरे सीमा बाँधने के बाद यदि उस सीमा से अधिक धन की आय हो जाती है तो दिखावे के लिए तो उसका ट्रस्ट बना दिया जाता है, किन्तु उस ट्रस्ट पर स्वामित्व स्वयं अपना ही रखते हैं। बिना उनकी आज्ञा के ट्रस्ट में से एक नया पैसा भी खर्च नहीं हो सकता, ऐसी जबर्दस्त पकड़ रहती है। यही है दान के प्रति आसक्ति या मूर्छा जिसे भगवान ने स्पष्ट परिग्रह कहा है। 'मुच्छा परिग्गहो वुत्ता।'

अतः यदि हमें अहिंसा को जीवन में उतारना है तो सबसे पहले अपनी आवश्यकताओं को कम करना चाहिए। सादा जीवन जीना सीखे। सादा भोजन हो, सादी वेषभूषा हो, सादा रहन-सहन हो। जो कुछ वर्तमान में हमारे पास है, उसकी तो हम सीमा बाँधे ही, पर उस सीमा को भी दिन-प्रतिदिन कम करते जाये, यही सच्चा अपरिग्रह है। जब तक हम अपरिग्रह को नहीं अपनायेगे तब तक श्रम का शोषण होता रहेगा और अन्य लोग अपने खाने, पीने, रहने, पहनने की आवश्यकताओ की पूर्ति भी नहीं कर पायेगे, जिससे एक तरफ पूजी बढ़ती जाएगी और दूसरी तरफ गरीबी। समाज में फैलते हुए इस वर्ग-विग्रह को यदि हमें रोकना है, यदि हमें खूनी क्राति के बिना समाजवाद-समतावाद को भारत में लाना है तो हमें महावीर के सिद्धान्त को जीवन में उतारना ही होगा।

सादा जीवन बिताने में कठिनाई क्या है ? सिर्फ मन को मोड़ने की आवश्यकता है। आज से ५०–६० वर्ष पहले अधिकांश लोग सादा जीवन बिताते थे। उस समय कितना शान्त जीवन था और अब कितनी हाय-हाय है। हमें अपनी भावी पीढ़ी को—अपने बच्चों को अभी से यह शिक्षा देना प्रारम्भ कर देना चाहिए कि उन्हें अपनी आवश्यकताओ से अधिक किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए और अपनी आयश्यकताओं को भी जहाँ तक सम्भव हो सके कम करना चाहिए। आज अमेरिका जैसे धनाढ्य देश में भी लोग वर्तमान में जीना सीख गए है, कल की चिन्ता कोई नही करता। यद्यपि भौतिकवाद के कारण उनकी आवश्यकताएँ अवश्य कुछ वढ़ी हुई है, पर उसकी भी एक सीमा है और उस सीमा से अधिक सग्रह कोई नहीं करता। भारत की तो सादा जीवन जीने की प्राचीन संस्कृति रही है, कहीं हम पश्चिम की भौतिक चकाचौध में अपनी संस्कृति और सभ्यता को भूलते तो नही जा रहे है ?

आज से आधी शताब्दि पहले लोग अपनी दुकानों को खुली छोड़ कर खाना खाने घर पर चले जाते थे। नेपाल में तो आज भी ऐसा होता है। पर कभी कोई चोरी नही होती थी, किन्तु आज यदि कोई ऐसा करने का साहस करे तो ? कुछ न कुछ उसकी दुकान से अवश्य गायव हो जायेगा ?

क्यों ? इसलिए कि हम अपने बच्चों को नैतिकता की शिक्षा नही देते । पुराने जमाने में यदि बच्चा रास्ते में पड़ी कोई वस्तु उठाकर घर ले जाता था तो उसके माता-पिता उसे डाँटते थे और उस वस्तु को वापस उसी स्थान पर रख कर आने को कहते थे, पर आज स्थिति इससे उल्टी है। यही कारण है कि हमारी नैतिकता का दिनोंदिन पतन हो रहा है । अमेरिका में बिना सेल्समेन के बड़े-बड़े स्टोर चलते हैं, पर कभी कोई चोरी नही होती, जबकि वहाँ भारतीय मूल के भी बहुत लोग रहते है । क्योंकि वहाँ सभी (चाहे अमेरिकन हो वा भारतीय मूल के) अपने बच्चों के दिल में यह बात अच्छी तरह से ठूस-ठूँस कर भर देते है कि बिना मालिक को पूछे कभी कोई वस्तु नही उठानी चाहिए, चाहे वह एक फूल या कोई फल ही क्यों न हो। इसीलिए वहाँ बिना बाउन्ड्री के फल-फूलों से लदे वृक्ष घर-घर के बाहर खड़े दिखाई देते है । गैरेज खुले पड़े रहते हैं, उनमें गाड़ी के सामान, औजार और फ्रिज तक पड़े रहते है, कपड़े टगे रहते है, पर मजाल है—कभी कोई वस्तु चोरी हो जाय।

यदि हम भी अभी से अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देना प्रारम्भ करें तो असम्भव नही कि हमारी भावी पीढी में फिर से हमारी सांस्कृतिक धरोहर के रूप में नैतिकता का पुनरुद्धार हो और हमारे यहाँ भी फिर से वह पुराना समय लौट सके जब घरों और दुकानों में ताले नही लगते थे। कहने को तो हम कहते रहते हैं कि "पर द्रव्येपु लोष्ठवत्" अर्थात् पराए माल को मिट्टी के समान समझना चाहिए पर वास्तव मे क्या हम ऐसी शिक्षा अपने बच्चों को दे रहे है ? अपने दिल पर हाथ रख कर सोचे । अतः यदि हमें अहिंसा को जीवन मे उतारना है तो अचौर्य व्रत को पहले अपने जीवन मे उतारना होगा। तभी हम दूसरों का दिल दुखाने से बच सकते है और तभी अहिंसा का पालन हो सकता है।

वस्तु में मिलावट करना या कम नाप-तोल कर देना यह भी अचौर्य व्रत के अन्तर्गत ही आता है । मिलावट का धन्धा तो आजकल इतना जोर पकड़ गया है कि दवाइयाँ भी मिलावट से नही बच पाई है । इससे कभी-कभी तो मरीज की मृत्यु तक होती देखी गई है। इससे अधिक हिंसा और क्या हो सकती है ? अहिंसा को जीवन में उतारना है तो हमे इस मिलावट के धन्धे का पूर्ण त्याग करना चाहिए। न स्वय मिलावट करे, न मिलावट की हुई या नकली वस्तुओं का व्यापार करे और न ऐसे व्यापार को किसी प्रकार का समर्थन दे।

आजकल विदेशी वस्तुओं की चाह लोगों में इतनी अधिक पैदा हो गई है कि उसके कारण चुँगी-चोरी से वस्तुएँ विदेशों से लाई जाती है। यह

तस्करी का धन्धा क्या चोरी नहीं है ? यह तो चोरी ही नहीं, सरासर राजद्रोह है। फिर जिन्हें अहिंसा को जीवन में उतारना है, उन्हें इस काले धन्धे को समर्थन देने वाली विदेशी वस्तुओं की चाह से तो अवश्य मुक्त होना ही चाहिये।

हम पशुओं पर अधिक भार न लादने की और उनके भोजन-पानी में बाधा न पहुँचाने की शिक्षा तो देते है, पर अपने अधीन नौकरो, मुनीमों, कर्मचारियों पर काम का अधिक भार न लादने की शिक्षा नही देते। प्रायः देखा जाता है कि लोग अपने नौकरों, कर्मचारियों पर उनकी कार्य-क्षमता से अधिक भार लाद देते है, उनको समय पर भोजन की छुट्टी भी नहीं देते। प्रातः ८ से रात्रि ८ बजे तक काम करवा कर उन्हें ओवरटाइम के पैसे भी नही देते ? क्या यह श्रम की चोरी नहीं है ? क्या अपने अधीनस्थो को समय पर भोजन की छुट्टी नही देने से उनका दिल नही दुखेगा और क्या यह हिसा नही है ? अहिंसा को यदि जीवन में उतारना है तो हमे नैतिकता, अपरिग्रह, अचौर्य व्रत को अपनाना और मिलावट, स्मगलिग आदि से अपने आप को बचाना होगा।

सच्चा वीर

वीर वही जो आत्म-विजेता !

(१)

जिसने अपने तन-धन बल से,
जन-मन पर अधिकार जमाया।
हथियारों की होड़ लगाकर,
दुश्मन का सब कुछ हथियाया ।।
भय, आशंका, प्रतिहिसा से,
ग्रस्त वीर, वह कैसा जेता ?
वीर वही जो आत्म-विजेता ।।

(२)

जिसकी आँखों में करुणा का,
हरदम शांत सिन्धु लहराता।
जिसकी सांसों में मैत्री का,
सुरभित नन्दन वन मुसकाता ।।
जो निर्भय, निर्द्वन्द्व निराकुल,
अपनी नाव स्वयं ही खेता।
वीर वही जो आत्म-विजेता ।।

(३)

विषम-विकारों का विष जिसको,
छूकर अमृत में ढल जाता।
दुनिया का जितना भी कल्मष,
गल-गल कर कंचन बन जाता ।।
राग-द्वेष को जिसने जीता,
वही विश्व का सच्चा नेता।
वीर वही जो आत्म-विजेता ।।

(४)

जो न किसी को पीडित करता,
पर-पीड़ा से स्वयं दहकता।
जो न किसी बन्धन में रहता,
पर-बन्धन से दुःख अनुभवता ।।
जो सबकी मुक्ति का कामी,
निष्कामी, सद्भाव-प्रणेता।
वी वही जो आत्म-विजेता ।।

—डॉ. नरेन्द्र भानावत



अहिंसा के मार्ग पर चलें !

□ श्री नरेन्द्र हीरावत, अध्यक्ष
श्री गौतम एस. मेहता, मंत्री

'सव्वेसि वदगुणाण पिण्डोसारा अहिंसा दु'

अर्थात् सभी गुणों एवं व्रतों का सार अहिंसा है। जहाँ मैत्री, करुणा, प्रेम और समभाव है, वही अहिंसा है। प्रत्येक आत्मा सुख चाहती है, दुःख कोई नही चाहता। आत्मा के निजी गुण हैं—सत्य, अहिंसा, मैत्री, समभाव। अतः आत्म-कल्याण का मार्ग अहिंसा का मार्ग है। 'आत्मवत सर्व भूतेषु यः पश्यति सः पश्यति।' अर्थात् आत्मा जब सबको अपने समान समझेगी तथा सबको मित्र समझेगी तब उसका कोई शत्रु हो ही नही सकता। 'आचारांग' सूत्र में कहा गया है—जिस प्रकार मैं जीना चाहता हूँ मरना नही चाहता हूँ, उसी प्रकार संसार के सभी प्राणी जीवन के इच्छुक है और मृत्यु से भयभीत हैं। दुःख से सभी प्राणी दूर रहना चाहते है। यही वह राह है जिस पर अहिंसा, सत्य, धर्म और ईमान का विकास होता है।

सभी धर्मों में अहिंसा का स्थान सबसे ऊपर है। अहिंसा के मार्ग पर चल कर ही महात्मा गाँधी ने अंग्रेजो का साम्राज्य उखाड़कर फेंक दिया। बीसवीं शताब्दी में तो अहिंसा का महत्त्व बहुत बढ गया है। मनुष्य ने पहले अणु बम बनाया फिर उसी से वह विनाश की कल्पना करके घबराया और निशस्त्रीकरण तथा मैत्री-संधियों पर हस्ताक्षर करवाने फिरने लगा। मैं किसी से नही डरूँ और मुझसे कोई नही डरे। हमारे हृदय में प्रेम, स्नेह, दया, करुणा के स्रोत फूटें, आपस में द्वेष, घृणा, साम्प्रदायिकता न हो, मानवता का निर्माण हो तभी विश्व-बन्धुत्व और लोक-कल्याण सम्भव है। अरिहंत, ॐ, ईश्वर, अल्लाह कहने वाले सभी अहिंसा के रास्ते से ही ईश्वर की प्राप्ति कर सकते है। दूसरो के प्रति प्रेम-भाव का जागृत होना ही धार्मिक बनने की सबसे पहली सीढ़ी है। दूसरों के दुःख-दर्द और पीड़ा को समझना और उसका निवारण करना यही धर्म की व्याख्या है। जब अहिंसा मे मैत्री और करुणा के भाव जुड़ेगे तो सेवा का प्रगटन सहज होगा। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

पर हित सरिस धर्म नही भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई॥

पशु-पक्षी भी नही देखते कि यह मन्दिर है या मस्जिद है, उनके लिए सब समान है। किसी शायर ने कहा है—

परिन्दों में कभी फिरका परस्ती नहीं देखी।
कभी मन्दिर पै जा बैठे, कभी मस्जिद पै जा बैठे ॥

मैत्री भावना जीवन में अभय का संचार करती है यानी संसार के सभी प्राणी मेरे मित्र है, कोई मेरा शत्रु नही फिर मुझे अस्त्र-शस्त्र की जरूरत नही और ऐसे माहौल में किसी तरह की शंका या भय नहीं रह जाता। आज विभिन्न देशों की सरकारे देश की आय का बहुत बड़ा स्रोत रक्षा-संसाधनों पर खर्च करती हैं। कारण कि उन्हें भय है कि उन पर कोई बाहरी देश हमला नहीं करदे, मगर यह भय निकल जाये तो इन्हीं पैसों को कल्याण के अन्य मदों पर लगाकर देश और समाज का उत्थान किया जा सकता है। सबके प्रति द्वेष या वैर भाव हमारी प्रगति में बाधक है। इसीलिए 'आवश्यक सूत्र' में कहा गया है 'मित्ती में सव्व भुएसु' हमें संसार के सभी प्राणियों से मित्रता रखनी चाहिये।

क्या हमारा इतिहास इसका गवाह नहीं कि हिंसा के मार्ग पर चल कर आदर्श समाज की स्थापना नही हो सकती? क्या युधिष्ठिर ने युद्ध जीत कर भी राज्य स्वीकार किया था? उसने युद्धोपरान्त कहा—मैं जिनके लिए राज करना चाहता था वे लोग नही रहे, सब युद्ध में मारे गये। इसलिए अब मैं राज नही करूँगा। क्या आज का सभ्य समाज इन तथ्यों को समझेगा कि जो आनन्द, प्रेम, करुणा, स्नेह अहिंसा में है, वह राग, द्वेष, क्रोध, हिंसा में नही है। आज की विषम समस्याओं का निराकरण अहिंसा को अपनाकर ही किया जा सकता है और अहिंसा के मार्ग पर चलकर ही हम लोकतन्त्र को कायम रख सकते है।

—अ. भा. श्री जैन रत्न युवक संघ, बम्बई

आत्म-जागृति

मछली की सी स्वाभाविक शक्ति मनुष्य में है, परन्तु कर्मशीलता चाहिए। विवेक शक्ति पर पर्दा पड़ने से मानव तिनके की तरह बह जाता है, किन्तु जो ज्ञानी होकर स्वयं जागृत है, जड़ पदार्थ उसे अपनी धारा में नहीं बहा सकते।

सद्गुरु, सत्संग, शास्त्र श्रवण और योग्य करणी का निमित्त मिलने से आत्म-जागृति होती है।

—आचार्य हस्ती

शाकाहारी प्राणी हैं—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हिरण, खरगोश, घोड़ा, गधा, हाथी, ऊँट इत्यादि।

इनकी शरीर-रचना में निम्नलिखित विशेषताएँ (अन्तर) है—

१. मांसाहारी प्राणियों को पसीना नही आता। पसीना सिर्फ शाकाहारियों के ही आता है।

२. मांसाहारी प्राणी समूह में नही रहते। शाकाहारी प्राणी समूह में रहते है। कुत्तों के टोले-झुंड नही होते, बकरियो के झुंड-टोले होते है, शेरो का समूह नही होता, गायों का समूह होता है।

३. मांसाहारी प्राणियों की आँखे वक्र होती है, वे टेढा देखते है। शाकाहारी प्राणियों की आँखे सीधी होती है, वे सीधा देखते है।

४. मांसाहारी प्राणियों की आँखें गोलाकार होती है। शाकाहारी प्राणियों की आँखें नीम गोल होती है।

५. मांसाहारी प्राणियों के बच्चे जन्म लेते ही आँखें नहीं खोलते। शाकाहारी प्राणियों के बच्चे जन्म लेते ही आँखे खोल देते है।

६. मांसाहारी प्राणियों की आँखें शाकाहारी प्राणियों की तुलना में ज्यादा चमकदार होती है।

७. मांसाहारी प्राणियों को अन्धेरे मे दिखता है। शाकाहारी प्राणियों को अन्धेरे में नही दिखता है। रात को मांसाहारी प्राणी आसानी से शाकाहारी प्राणियो का शिकार कर अपना पेट भर सकें, इसीलिए प्रकृति ने ऐसा अन्तर रखा है।

८. मांसाहारी प्राणी जीभ से पानी पीते है। शाकाहारी प्राणी होंठ से पानी पीते है। अगर बकरी चाहे कि वह कुत्ते की तरह जीभ से चपचप करके पानी पीये तो पी नहीं सकती। मनुष्य भी जीभ से पानी नही पी सकता।

९. मांसाहारी प्राणियो के नाखून तीक्ष्ण होते है ताकि वे शिकार सुगमता से कर सके। शाकाहारियो के नाखून तीक्ष्ण नहीं होते।

१०. मांसाहारी प्राणियों के पंजे शिकार करने व जानवरों को पकड़ने के लिए अनुकूल होते है। शाकाहारी प्राणियो के पंजे मांसाहारियो की तरह नही होते।

११. मांसाहारी प्राणियों के मुंह में दो दाँत खड़े व धारदार होते हैं ताकि वे शाकाहारी प्राणियो को फाड़कर बराबर चबा सकें। शाकाहारी प्राणियों के दांत चपटे व सरल होते है।

१२. मांसाहारी व शाकाहारी प्राणियो के जबड़ों मे अन्तर होता है।

१३. मांसाहारी प्राणियों की मुखाकृति भयानक होती है और वे स्वभाव से ही आक्रमणकारी होते है तथा दूसरे प्राणियों को मारकर खाते है।

१४. मांसाहारी पशु-पक्षी चालाक, घात लगाने वाले और डरपोक स्वभाव के होते है, शाकाहारी ऐसे नही होते।

१५. मासाहारी पशु जुगाली नही करते जबकि शाकाहारी पशु जुगाली करते है।

१६. मांसाहारी प्राणियों में नर-मादा परस्पर मैथुन करते है तब थोड़ी देर के लिए आपस में जुड़ जाते है। शाकाहारी नही जुडते।

१७. मांसाहारी प्राणियों की आंत गरदन से करीब ६ गुणी लम्बी होती है। शाकाहारी प्राणियों की आंत गरदन से १२ गुणी लम्बी होती है। प्रकृति ने यह जो फर्क रखा उसके पीछे गहरा रहस्य है। मांसाहार बाहर पड़ता है तो सड़ता है व दुर्गन्ध पैदा करता है फिर पेट मे जाकर सुगन्ध या सात्विकता निर्माण नही करता इसलिए उसका जल्दी से बाहर निकलना उचित होता है। अतः प्रकृति ने मांसाहारी प्राणियो की आंत ज्यादा लम्बी नहीं बनाई। इसके विपरीत शाकाहारियों की आंत लम्बी करने का कारण यह है कि शाकाहार मॉसाहार की तरह नहीं सड़ता, पेट में अधिक देर रहने पर भी दुष्परिणाम पैदा नही करता।

१८. मांसाहार से इतनी निर्दयता, क्रूरता, बढ़ती है कि मांसाहारी प्राणी भूख लगने पर अपने बच्चों को भी खा जाते है। मॉ का सबसे ज्यादा प्यार अपने बच्चे पर होता है। वही मॉ भूख लगने पर अपने बच्चे की हत्या कर उसे खा जाती है। शाकाहारी प्राणी कभी ऐसा जुल्म नही करते। कुत्ते विल्ली को हम देखते हैं कि किस तरह वे अपने पिल्ले को खा जाते है। आज तक हमने ऐसा नहीं सुना कि गाय ने अपने बछड़े को या किसी बकरी ने अपने बच्चे को खाया हो। यह जुलम, जबरदस्ती, खून, हत्या मांसाहारी ही कर सकते है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की शारीरिक रचना शाकाहारी प्राणियो के जैसी है। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि फिर मनुष्य मांसाहार क्यों करता है? मनुष्य की यह भ्रान्ति है नासमझी है कि मांस खाने से ताकत ज्यादा आती है, परन्तु यह सत्य नहीं है। मांसाहार की तुलना में शाकाहारी पदार्थ अधिक पौष्टिक, ताकतवर व गुणकारी है। घोड़ा धान व घास खाता है फिर भी कितना तेज दौड़ता है। रेस घोड़ों की होती है, वाघों की नही। महाराणा प्रताप को चेटक घोड़े का साथ नही मिलता तो मेवाड़ उनके हाथों से कभी का निकल गया होता। कितने चौड़े नाले को कूद

करके पार करना—यह चेटक घोड़े का ही कमाल था। आज जितने भी इंजिन मोटरें, मशीनें हैं उनका पावर 'हार्सपावर' से गिना जाता है, कभी बाघ पावर या डॉग पावर नहीं। घोड़ा घटों भाग सकता है। हाथी घास खाता है फिर भी जंगल का राजा शेर उसके सामने आ जाय तो हाथी शेर को धर दबोचता है। हाँ, पीछे से वार करने पर धूर्तता के कारण कभी शेर जीत सकता है।

गाय घास खाती है, वह अमृत तुल्य दूध देती है।
बैल घास खाता है, वह कितना बोझा ढोता है।

शाकाहार करने वाले पहलवानों ने खूब कुश्तियाँ जीतीं और नामी पहलवान रहे हैं। इन पहलवानों में ८५ वर्षीय पद्मश्री द्रोणाचार्य, हनुमान, सतपाल पहलवान, सज्जनसिंह, ज्ञानसिंह, श्यामा पहलवान शुद्ध शाकाहारी है। अपराजेय पहलवान राममूर्ति, चंदन पहलवान, मास्टर चंदगीराम आदि अनेक पहलवान शाकाहारी ही रहे। मांस इन्होंने छुआ तक नहीं।

जितनी बीमारियाँ मांसाहारियों को होती हैं, उतनी शाकाहारियों को नहीं। जो रोग जिनका मांस खाया जाता है उन प्राणियों को होते है वह रोग उस मांस खाने वाले को भी हो जाते है परन्तु जो रोग वनस्पति मे होते है वे उस वनस्पति खाने वाले को नहीं होते। उदाहरणार्थ गेहूँ को 'जखीरा' रोग हो गया तो वह रोग उस गेहूँ को खाने वाले को नहीं होगा। कैंसर, किडनी व हृदय रोग, दंत रोग व कब्ज की बीमारी अधिकतर मांसाहारियों को ही होती है।

जो जानवर रोगग्रस्त है, उसका मांस खाने से ऊतक (टिसूज) और रक्त में उस रोग के बीज पनपने लगते है। 'जर्नल ऑफ दि नेशनल कैंसर इन्स्टीट्यूट' अमेरिका का अध्यापन निष्कर्ष है कि जिन क्षेत्रों में मांस की खपत ज्यादा है वहाँ आंत के कैंसर का आंकड़ा ऊँचा है। आस्ट्रेलिया मे मांसाहार की सर्वाधिक खपत है तो वहाँ आंतों के कैंसर के रोगी सर्वाधिक है। डॉक्टर कैंसर और मधुमेह पीड़ितों को शाकाहार की ही प्रेरणा देते है। जितने समय मे आप मेरा यह लेख पढेंगे उतने समय में अमेरिकी चिकित्सक वहाँ की १०० महिलाओं को स्तन कैंसर बता चुके होंगे। इसका कारण है—मांसाहार। नेशनल कैंसर इन्स्टीट्यूट, टोकियो ने १,२२,००० व्यक्तियों का कई दशकों तक अध्ययन किया था और निष्कर्ष निकाला कि शाकाहारी तुलना मे मांसाहारी-अंडाहारी को चार गुना कैंसर का खतरा उत्पन्न हो जाता है।

मांसाहार करने वालों को जानलेवा बीमारियाँ ज्यादा होती हैं, अमेरिका की प्रतिष्ठित रिसर्च संस्था वर्ल्ड वाचने अपनी रिपोर्ट मे यह जानकारी दी है कि मांस खाने वाले को हृदय-रोग, मधुमेह, आंतो का कैंसर और दूसरी घातक बीमारियाँ आसानी से हो जाती है। चिकित्सा विज्ञान मे मांसाहार इन दिनों शोध का मुद्दा बना हुआ है। इसे घातक बीमारियों का जन्मदाता कहा

है। अमीर देशों में मांसाहार के कारण हुई घातक बीमारियों से मौते ज्यादा हो रही है।

मांस, शराब, अण्डे के सेवन से मानसिक विकार उत्पन्न होते है। दुर्गुणों का जन्म होता है। मांस खाने वाले की मनोवृत्ति क्रोधी, पापी, विलासी, खूनी, तामसी, कामुक, अत्याचारी और झगड़ालू होती है। इसीलिए आज विश्व में अत्याचार, दुराचार, चरित्रहीनता, हिंसा, बलात्कार, द्वेष आदि दुर्गुण व कुकर्म बढ रहे हैं। गलत आहार-पान से आचार दूषित होता जा रहा है। अतः हमें उत्तम आरोग्य व श्रेष्ठ जीवन के लिये सत्य व तथ्य को समझकर शुद्ध सात्विक आहार ही लेना चाहिये। ऐसा आहार शाकाहार ही हो सकता है।

धर्म का रथ न जाने कहाँ जा रहा है।
अहिंसावादी मानव आज अण्डा खा रहा है।।

अण्डे को शाकाहारी बताकर, झूठे विज्ञापन देकर, दूरदर्शन पर लोगों को फंसाया जा रहा है। अण्डा पेड पौधों पर पैदा नहीं होता अतः उसको शाकाहारी बताना भ्रामक प्रचार कर भोली जनता को गुमराह करना है। शाकाहारी भोजन हमें अधिक दयालु बनाता है और इससे ही हमारा आध्यात्मिक कार्य सिद्ध होता है। शाकाहारी जीवन अपने आप में ध्येय नहीं है लेकिन अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह एक अनिवार्य साधन है। भौतिक विज्ञान के महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन शाकाहारी भोजन के प्रभाव के बड़े कायल थे। वे कहते थे—शाकाहार का हमारी अपनी प्रकृति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि हम सार्वभौम रूप से शाकाहार को अपना ले तो मनुष्य की यह दशा ही पलट जाये। यदि हम अहिंसा का जीवन अपना ले, सबके प्रति मन में प्यार रखे तो हम इन्सान को ऊँचा उठा सकते हैं। प्रेम और अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए हमें शुद्ध शाकाहारी होना आवश्यक है। ऐसा करने से हम न केवल परमात्मा की सृष्टि के छोटे जीवों पर और अपने सहजातीय इन्सानों पर दया करेंगे बल्कि अपने आप पर भी दया करेंगे।

गाय, भैस, बकरी, भेड़, मुर्गे यह कोई खाने की वस्तुएँ है? हम बुद्धिमान, विवेकवान मनुष्य है। हमें तो चाहिये कि हम इन निरीह, निष्पाप प्राणियों को खिलावें। ये अबोध भोले प्राणी प्रभु परमात्मा की सन्तान, जो इस पृथ्वी पर घासफूस खाकर जीवन निर्वाह करते है, हमें अमृत तुल्य दूध पिलाते हैं, खेतों में खाद देते हैं, और मरते-मरते भी अपनी चमड़ी हमारे जूते और चप्पलों के लिए छोड जाते है। ऐसे परमोपकारी उन पशु-पक्षियों को आदमी खाता है, प्रकृति ने हमे क्या कम दिया है? कितने पदार्थ खाने के लिये है? एक से एक बढ़कर वनस्पतियाँ, फल, मेवे, अनाज हमारे खाने के लिये है।

मनुष्य इतना क्रूर हो गया है कि उसने आत्मा-परमात्मा को ताक में रख दिया जीभ के चोंसले पूरे करने के लिए इन पशु-पक्षियों को खाने लगा—

पेट भर सकती हैं जब तेरा, फक्त दो रोटियाँ।
क्यों ढूढता फिरता है, वेजुवां की वोटियाँ॥

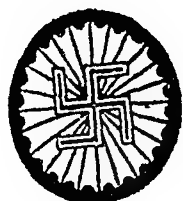
मांस में एक विशेष कीड़ा 'वारलनिम्' होता है जिससे खाने वाले को 'वरलि निजन' रोग हो जाता है इससे उस व्यक्ति की मौत हो जाती है। प्राणान्त होते ही जानवरों के शरीर में सड़ांध पैदा होने लगती है। मांस चाहे मुर्गे का हो या वकरे का, भैंस, गाय, वैल या मछली का ही क्यों न हो, उसकी अप्राकृतिक मृत्यु की जाने से उसके मरते ही उसके कलेवर से लाखों, करोड़ों कृमि कीट स्वयं ही पैदा होने लगते है। ऐसे कलेवर से आसपास के व्यक्ति या खाद्य फल सब्जी भी रोगग्रस्त हो जाते है तो उस विषाक्त मांस भक्षी को कितने रोग हो जाते होंगे? वैज्ञानिक शोधे वता रही है कि कई घातक असाध्य रोग हो जाते हैं।

नेशनल फैडरेशन ऑफ मीट ट्रेडर्स (इंग्लैण्ड) के शोध अधिकारियों ने निष्कर्ष दिये कि जव तक पशु जीवित रहता है, उसका मांस जीवाणु रहित होता है। जैसे ही उसे कत्ल हेतु वेहोश करते है, वह कत्ल से भयभीत हो जाता है। तव उस पशु के मस्तिष्क में एक खास किस्म के वेक्टीरिया निर्मित होते हैं और वे सारे मांस में प्रवेश कर जाते है। उस मांस के खाने से कई घातक वीमारियां होती है।

'दी हायजिनिस' के सम्पादक श्री आर. डब्ल्यू पारकर लिखते हैं— कत्लघर कैसा भी हो, चाहे कितनी भी स्वच्छता वरती जाय, वहाँ तो रोगाणुओं का जखीरा मिलेगा ही। मांस तो खराव ही रहता है—वह तो वीमारियाँ लायेगा ही।

विश्व के महान् वुद्धिजीवी लियोनार्दो, अरस्तू, प्लेटो, शेक्सपीयर, पी एस. हक्सले शाकाहारी थे। वैज्ञानिक आइन्स्टीन दार्शनिक वर्नार्डशा, एच. जी वेल्स, लियो टालस्टाय, शैली रूसो, एमर्सन आदि शाकाहारी थे। महाकवि सूर, तुलसी, मीरा शुद्ध सात्विक शाकाहारी थे। अहिंसा व सत्याग्रह के पुजारी महात्मा गांधी, राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, लोह पुरुष सरदार वल्लभभाई प... शुद्ध शाकाहारी थे। अहिंसा के अवतार भगवान महावीर स्वामी, महात्मा गौतम वुद्ध, शकराचार्य, गुरु नानकदेव, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द शुद्ध शाकाहारी तो थे ही, शाकाहारी जीवन-पद्धति के प्रवर्तक और पोषक भी थे।

योऽहिंसका नि भूतानि, हिनस्त्यातम सुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुख मेधते॥



अहिंसा और पशु-संरक्षण

☐ श्री बी० रमेश जैन

बुद्ध-महावीर, राम-कृष्ण व गाँधी के इस अहिंसक देश में प्राणी मात्र को अभयदान देना 'अहिंसा' की श्रेणी में आता है। विडम्बना है कि अहिंसा व पशु संरक्षण को आज हमने बहुत संकुचित कर लिया है।

आज 'पशु-संरक्षण' का साधारणतया अर्थ लिया जाता है 'गो-रक्षा'। कसाईखानों से बूढी गायों को छुड़ा, गोशाला में पालना ही पशु-संरक्षण समझकर कर्तव्य से इतिश्री समझ लेते हैं। कहीं-कहीं पर सरकार पर दबाव डालकर कुछेक नियम-उपनियम बनाये जाते हैं और किन्हीं विशेष तिथियों पर पशु-वध निषेध की आज्ञा जारी कर दी जाती है।

आज आवश्यकता है, इस दिशा में व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की। मेरा मन्तव्य है—वैज्ञानिक अनुसंधान के नाम पर होने वाली पशुओं की हिंसा को रोकना भी एक प्रकार से अहिंसा व पशु-संरक्षण का ही एक पहलू है।

मानव कल्याण के नाम पर वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए विश्व की अनेक प्रयोगशालाओं में करोड़ों असहाय, मासूम, मूक जीव जन्तुओं, पशु-पक्षियों की बलि चढ़ा दी जाती है।

इन निरीह प्राणियों को मानव-कल्याण की दुहाई देकर जीते जी उबाल देना, या शून्य से नीचे के तापमान पर जमा देना, उनके घाव करना, उनके मस्तिष्क की चीर-फाड़ कर देना और उन्हें उन्हीं पीड़ाजनक परिस्थिति में छोड़ देना यह सब पशु-हिंसा नहीं तो क्या है?

इन प्राणियों पर किये गये परीक्षणों व परिणामों को शोध पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी जटिल भाषा में प्रस्तुत करना कि—जनसाधारण यही समझे कि कोई महान् वैज्ञानिक अनुसंधान हो रहा है जबकि वास्तविकता यह है कि इन तमाम तथाकथित परीक्षणों से नई खोज के नाम पर प्रायः नया कुछ नहीं उपलब्ध होता। वे परीक्षण पुराने प्रयोगों का अंधानुकरण बन कर रह जाते हैं।

'इण्डियन जनरल ऑफ सर्जरी' ह
अनुसार—'एक ऑपरेशन में १५ कुत्तों
प्रमुख धमनी को काटकर खून बहाया
रही कि—विदेशों में मोराविट्रज न
दोनों का परिणाम एक सा रहा।

दाँतों तले तृण दबाकर, है दीन गायें कह रहीं,
हम पशु तथा तुम मनुज, पर योग्य क्या तुमको यही ?
जारी रहा क्रम यदि यहाँ, गोवंश के नाश का,
तो अस्त समझो सूर्य, भारत भाग्य के आकाश का।
जो तनिक हरियाली बची, वह भी न रहने पायगी,
यह स्वर्ण भारत भूमि बस, मरघट सम बन जायगी।

कई सन्त पुरुष यहाँ हुए है, मुनि मेतार्य जैसे जिन्होंने एक मुर्गे की जान बचाने के लिए अपने स्वय के प्राणों का बलिदान कर दिया। राजा मेघरथ ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने पूरे शरीर को बलिवेदी पर चढ़ा दिया था। उसी भारत में आज हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है।

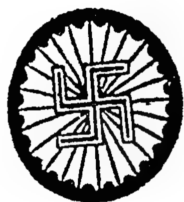
हे मांसाहारी बन्धुओ ! कृपया अगली बार मांसाहार से पूर्व एक बार क़त्लखाने व मुर्गीखाने में जाकर इन मूक प्राणियों पर किये जाने वाले अत्याचार, उनकी वेदना, चीत्कार व उन पशु-पक्षियों के चेहरो के भावो को अपनी आँखों से अवश्य देखें और मांसाहार के समय अपने ही गले को धीरे-धीरे कटते, उसमें से रक्त की धारा को बाहर निकलते, अपने ही आसुओ से भरी आंखो से देखने की कल्पना करें और अपनी अन्तरात्मा से पूछे कि क्या हमारी श्रेष्ठता व मानवता इसी में है कि हम केवल अपने स्वाद के लिए निरपराध प्राणियों का वह जीवन उनसे सदा के लिए छीन ले, जो हम उन्हे दे नही सकते ?

—नयनतारा, सुभाष चौक, जलगाँव-४२५००१

दयालु सूफी संत | श्री राजेन्द्रप्रसाद जैन

सन् ११९३ ई मे दिल्ली मे जन्मे मोहम्मद उर्फ हमीदुद्दीन बड़े नेक और धर्मपरायण सूफी संत थे। उनकी ज़रूरतें बहुत कम थीं। एक तहमद और एक चादर बस। जौ की रोटी को पानी मे भिगोकर खा लेना ही उनकी जिन्दगी की खुराक बन गई। इबादत तो उनकी जान थी ही, रहमदिली भी इबादत का अ ग बन गई। एक दिन आप सिजदे मे थे कि एक चिड़िया ने आकर आपकी पीठ पर अण्डा दे दिया। आपका चिन्तन चला—अगर उठता हू तो एक बेगुनाह जान चली जावेगी और उस जान को बचाने की खातिर आपने उसी हालत मे ४० दिन तक सिजदे मे गुजार दिये। जब तक अण्डे से निकला बच्चा खुद-ब-खुद न उड गया। जब आपके ससुर की मृत्यु हुई तो आप लाडनूं गये। वापिस लौटे तो कपड़े पर एक चीटी नजर आई। बस, आप खयालो मे खो गये कि यह घर-परिवार से बिछुड़ गई। मेरे द्वारा ही ऐसा हुआ, यह मुनासिब नही। आप वापिस लाडनूं जाकर उस चीटी को वही छोड आये। सन् १२७८ ई मे नागौर मे आपकी मृत्यु हुई। इन रहमदिली सूफी संत के आहता-ए-दरगाह मे कोई इसान मास नही पका सकता, कोई इसान गोश्त खाकर मजार पर हाजरी नही दे सकता। हकीकत मे रहमदिली ही तो इन्सानियत की रोशनी है।

अहिंसा और पशु-संरक्षण



☐ श्री बी० रमेश जैन

बुद्ध-महावीर, राम-कृष्ण व गाँधी के इस अहिंसक देश में प्राणी मात्र को अभयदान देना 'अहिंसा' की श्रेणी में आता है। विडम्बना है कि अहिंसा व पशु संरक्षण को आज हमने बहुत संकुचित कर लिया है।

आज 'पशु-संरक्षण' का साधारणतया अर्थ लिया जाता है 'गो-रक्षा'। कसाईखानों से बूढ़ी गायों को छुड़ा, गोशाला में पालना ही पशु-संरक्षण समझकर कर्तव्य से इतिश्री समझ लेते हैं। कहीं-कहीं पर सरकार पर दबाव डालकर कुछेक नियम-उपनियम बनाये जाते हैं और किन्हीं विशेष तिथियों पर पशु-वध निषेध की आज्ञा जारी कर दी जाती है।

आज आवश्यकता है, इस दिशा में व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की। मेरा मन्तव्य है—वैज्ञानिक अनुसंधान के नाम पर होने वाली पशुओं की हिंसा को रोकना भी एक प्रकार से अहिंसा व पशु-संरक्षण का ही एक पहलू है।

मानव कल्याण के नाम पर वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए विश्व की अनेक प्रयोगशालाओं में करोड़ों असहाय, मासूम, मूक जीव जन्तुओं, पशु-पक्षियों की बलि चढ़ा दी जाती है।

इन निरीह प्राणियों को मानव-कल्याण की दुहाई देकर जीते जी उबाल देना, या शून्य से नीचे के तापमान पर जमा देना, उनके घाव करना, उनके मस्तिष्क की चीर-फाड़ कर देना और उन्हें उन्हीं पीड़ाजनक परिस्थिति में छोड़ देना यह सब पशु-हिंसा नहीं तो क्या है?

इन प्राणियों पर किये गये परीक्षणों व परिणामों को शोध पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी जटिल भाषा में प्रस्तुत करना कि—जनसाधारण यही समझे कि कोई महान् वैज्ञानिक अनुसंधान हो रहा है जबकि वास्तविकता यह है कि इन तमाम तथाकथित परीक्षणों से नई खोज के नाम पर प्रायः नया कुछ नहीं उपलब्ध होता। वे परीक्षण पुराने प्रयोगों का अंधानुकरण बन कर रह जाते है।

'इण्डियन जनरल ऑफ सर्जरी' के खण्ड ३४ अंक ३ की रिपोर्ट के अनुसार—'एक ऑपरेशन में १५ कुत्तों की तिल्लियों को निकाल उनकी एक प्रमुख धमनी को काटकर खून बहाया गया। इस परीक्षण की उपलब्धि इतनी रही कि—विदेशों में मोराविट्रज नामक वैज्ञानिक ने भी हूबहू प्रयोग किया। दोनो का परिणाम एक सा रहा।

इसी तरह, मात्र यह सिद्ध करने के लिए कि—'बाँकुरा जिले में जापानी मस्तिष्क ज्वर के प्रसार में चिड़ियों व नन्हे स्तनपेशियों की भूमिका कुछ भी नहीं है', १०५ चिड़ियों व १२१ चूहों-गिलहरियों के दिल का सीधा पंक्चर करते हुए खून के नमूने इकट्ठे किये गये (इण्डियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च, खण्ड ६४, अंक १२)

ऐसे अनेक शोध संस्थानों में ऐसे अत्याचार विविध रूप में होते हैं—वैज्ञानिक अनुसंधान के नाम पर। यही नहीं, बल्कि हमारे स्कूल-कॉलेजों आदि शिक्षण संस्थाओं में भी विज्ञान संकायों में व्यावहारिक जानकारी के नाम पर करोड़ों की संख्या में मेढ़को, चूहों, कबूतरों, गिलहरियों का अंग-छेदन किया जाता है। परिणाम—वही पुनरावृत्ति।

जहाँ तक जानवरों के परीक्षण से मानव कल्याण की बात है, बिलकुल बेमानी सिद्ध होती जा रही है। मानव की शरीर रचना व जानवरों की शरीर रचना में बहुत से मौलिक अन्तर हैं। कई बार कोई औषधि जानवरो पर अनुकूल होती है, परंतु मानव के लिए अनुपयुक्त। जैसे "थैलिडोमाइड" दवाई का कई बार बन्दरों व चूहों पर छः साल के कड़े प्रतिबंधों के अधीन प्रयोग कर इसे मनुष्य के लिए निरापद पाया गया। लेकिन जब इसका प्रयोग तनावग्रस्त व गर्भवती महिलाओं के लिए किया गया, परिणामस्वरूप १० हजार शिशुओं का जन्म हाथ-पैर विहीन हुआ जिनमें कई जन्मते ही मर गए और कइयों की जिन्दगी तो मौत से भी बदतर हो गयी।

आज आवश्यकता है कि—इस दिशा मे हम प्रभावी कदम उठायें। आज जब बिना चीर-फाड, यातना व खून-खराबे के "ऊतक संवर्धन (टिशू कल्चर) क्लोनिंग जैसी अभिनव प्राविधिया उपलब्ध है, जिसके अन्तर्गत सीधे मानव कोशिकाओं को संवर्धित कर' उन पर मन चाहे प्रयोग व परीक्षण कर सकते हैं तो फिर क्या आवश्यकता है—इन बेजुबान-बेगुनाह प्राणियो के प्राण हरने की? और फिर टिशू कल्चरल प्रौद्योगिकी है भी अपेक्षाकृत सस्ती।

इस दिशा में मेरे कुछ सुझाव व विचार निम्नांकित है :—

(१) वैज्ञानिक अनुसंधान के नाम पर हो रही बर्बरता को रोकने के लिए उचित कानून बनाने हेतु सरकार पर दबाव डाला जाये।

(२) यह अनुभूत सत्य तथ्य है कि कानून बनने पर भी उसके चोर रास्ते बना लिये जाते हैं अतः इसके कड़ाई से पालन पर भी ध्यान दिया जाये।

(३) एक ऐसा 'पशु संरक्षण प्रकोष्ठ' बनाया जाये, जिसमें प्रबुद्धजनों के साथ-साथ अहिंसा प्रेमी वैज्ञानिको को भी शामिल किया जाय, जो वैज्ञानिक

शोध संस्थानों में जाकर तथ्य की सत्यता/व्यर्थता की जाँच पड़ताल करे तथा बेकार के पुनरावृत्त प्रयोगों को रोके।

(४) शिक्षण संस्थाओं में करोड़ों की संख्या में जो पशु-पक्षी वध हो रहे है, उन्हें रोका जाये। जन जागृति बढ़ायी जाये।

(५) 'टिशू कल्चर प्रौद्योगिकी' को प्रोत्साहन दिया जावे। हर प्रयोग-शाला में 'टिशू कल्चर' कक्ष की अनिवार्यता पर बल दिया जावे।

(६) आज हर कोई हर कहीं पर्यावरण-प्रदूषण की बात करता नजर आता है। कही वायु प्रदूषण, कहीं जल प्रदूषण, तो कही परमाणु कचरे का प्रदूषण। प्रदूषण दूर करने व पर्यावरण को संतुलित व संयमित करने के लिए आज अत्यन्त आवश्यक है; मानव मन के पर्यावरण का प्रदूषण दूर किया जाये। 'मन शुद्धि' व 'विचार-शुद्धि' ही इसका एकमात्र उपाय है।

(७) अंत में एक विशेष बात—'जो भी परीक्षण व प्रयोग पशुओ पर किये जाते हैं, इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर होते है कि—**"मानव जीवन निरोगी व सुखमय हो।"**

फिर भी यह कटु सत्य है कि—जितनी औषधियों का आविष्कार अब तक हुआ है, उसके पीछे कितने ही प्राणियों की बलि दी गयी। फिर भी, आज मनुष्य निरोगी होने की अपेक्षा नित नई बीमारियो से जकड़ता जा रहा है। बतौर—'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की'।

आज तक भी कोई वैज्ञानिक डंके को चोट पर यह नही कह सकता है कि—उसके द्वारा परीक्षित व आविष्कृत औषधि से कोई साइड इफेक्ट न होगा और वह पूर्णतः १००% सुरक्षित दवा है।

ऐसी स्थिति में 'प्राकृतिक चिकित्सा' व 'योग साधना' इन दोनों क्षेत्रों मे अनुसंधान तथा प्रचार प्रसार किया जावे तो आधुनिक चिकित्सा शोध के मूल उद्देश्य 'निरोगी-मनुष्य जीवन' को हम बिना किसी प्राणी की हिसा के, आसानी से पा सकते है।

'प्राकृतिक चिकित्सा' 'चुम्बकीय चिकित्सा', एक्यूप्रेशर चिकित्सा' एवं योग साधना' पूर्णतः अहिंसक प्रणालियाँ है। आप लोग इस दिशा में सोचें व आगे बढे, तब ही हम अपने 'प्राणी संरक्षण' 'प्रदूषण रहित पर्यावरण' 'शाकाहार' तथा 'अहिसा' के उद्देश्यों की प्रतिपूर्ति कर सकते है।

—१०/८, वासनवाड़ी रोड, एम. एस नगर, बंगलौर-५६००३३

□□□



अहिंसा, आतंकवाद और जैन

□ श्री सुधीन्द्र गेमावत

जैन दर्शन जीवन के हर पक्ष को प्रभावित करता है । अहिंसा और जैन एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए है । परन्तु कई परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती है जब सिद्धान्तों और व्यावहारिकता में टकराव होने लगता है और एक जैन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है ।

देश में आतंकवाद, लूट, हत्याये, स्त्रियों पर अत्याचार आदि की घटनाओं मे अभिवृद्धि हो रही है । यदि कोई जैन इन विपदाओं का शिकार वन जाय तो वह इनका प्रतिकार कैसे करेगा ? अधिकांश जैन घरों में एक मात्र धारदार औजार सब्जी काटने की छुरी के अलावा कुछ नहीं होता । जब चीटी तक के मरने पर पीडा होती है, साँप-विच्छू को भी यदि कोई मारता है तो मन दुःखी होता है, जब कोई खून की धार बहती है तो देखी नहीं जाती, और तो और दुर्घटना में ग्रस्त व्यक्ति की दशा भी देखते नहीं बनती, तब, ऐसे संस्कार वाले जैन—आततायियों और दुष्टों का किस प्रकार मुकावला कर सकते है ?

प्रश्न यह उठता है (पूर्व में जैनों ने अन्य सभी कर्मो से विमुख होकर व्यापार और नौकरी को ही अपनाया और इस प्रकार अहिसा से काम चल गया) कि वर्तमान परिस्थितियों मे जैनो द्वारा अस्त्र-शस्त्रों से विदाई ले लेना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?

क्या आतंकवाद का मुकावला अहिसा से किया जा सकता है ? इन दिनो जव पंजाव और कश्मीर में आतंकवाद का ताण्डव नृत्य हो रहा है, भारतवर्ष के जैनों ने इस समस्या के हल के लिए क्या प्रयास किए और अव भी उनसे रचनात्मक सुझाव माँगे तो वे क्या कहेगे ? इस समस्या का कोई जैन—उत्तर भी होना चाहिए । साधारणतया इस मामले मे सिवाय दण्ड के कोई चारा नही है क्योकि साम, दाम और भेद की नीति कोई काम नहीं आयी । दण्ड आतंकारियो के लिए कष्टदायक और जानलेवा भी हो सकता है । किसी व्यक्ति के मन को जीतकर उसे अहिंसक वनाया जा सकता है परन्तु यदि किसी कट्टर आतंकवादी को अहिसक वनाया जाय तो युग वीत जायेंगे और तव तक अनेक निर्दोष लोग अपनी जान गँवा वैठे होगे । सम्भवतः ऐसी

स्थिति—में विरोधी हिंसा के आलोक में जैन धर्म भी शायद यही कहेगा कि ऐसे व्यक्ति को यदि मार भी दिया जाय तो कोई हर्ज नहीं।

ऐसी ही समस्या देश की सुरक्षा में भी खड़ी हो सकती है। जब हमारा राष्ट्र दुश्मन राष्ट्र से लड़ता है तब फौज और सिपाही का कर्तव्य सामने की फौज का सामना आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से करना ही होता है। किसी नगर पर शक्तिशाली बम डाला जाय तो उस स्थान की हालत का अन्दाज ही लगाया जा सकता है। तब यदि कोई जैन सैनिक या सेनापति हो तो उसका क्या कर्तव्य बनता है? क्या वह पूर्ण अहिंसा का पालन कर सकता है?

शायद कोई यह कहे कि किसी जैन को फौज में जाना ही नही चाहिए, न वह जाता और न ही उसे इस मुसीबत का सामना करना पड़ता। पर मान लीजिए कभी कोई राष्ट्र केवल मात्र जैनियों का ही हो तो वे अपने राष्ट्र की सुरक्षा किस प्रकार करते? क्या वे किसी और से प्रार्थना करते कि हमारी सुरक्षा कीजिए? यदि यह कार्य स्वयं जैन न कर, दूसरे से करवाता है तो वह अपनी नैतिक जिम्मेदारी से बच नही सकता?

मनुष्य जाति अपने आप को सर्वश्रेष्ठ मानती है और प्रकृति में पाए जाने वाले अन्य जीवों को अपने से निम्न मानकर उनका शोषण करती है। सामान्यत: जैन सभी जीवों को आत्म-तत्त्व की दृष्टि से एक समान मानते है, वे चाहे पंचेन्द्रिय हों या ऐकेन्द्रिय, वायुकाय हों, जलकाय हो, पृथ्वीकाय हो या वनस्पतिकाय। जब किसान अनाज उगाता है तो कई स्थूल और सूक्ष्म जीवो का हनन करना पडता है। कीटनाशक औषधियाँ कीटाणुओं का नाश करती है। रेशम बनाने में रेशम के कीड़ों को नष्ट ही करना पड़ता है। मछली का तेल, मछलियों को नष्ट करके बनाया जाता है। गाय भैंसों के दूध में हम बछड़ों का हक छीनते है। जो जीव हमें नुकसान पहुँचाते है, उनको नष्ट करते ही है—व्यापार के लिए भी हम निरीह जीवों को समाप्त कर देते है। प्राणियों को नष्ट करें, उन्हे आघात पहुँचाएँ, उनकी स्वतन्त्रता छीने, सभी में हिंसा है।

तब क्या जैन धर्म के अनुसार फसलों को नहीं उगाया जावे, वनस्पति और पशुओं का उपयोग मनुष्य के लाभ के लिए नही किया जावे? क्या विभिन्न औषधियों का निर्माण नही किया जावे? क्या वस्त्र और मकान नही बनाए जावे? क्या सभी लोग पूर्ण अहिंसक बन सकते है? वर्तमान सभ्यता को छोड़कर पुन: कन्दमूल फल खाने व जंगल में रहने चले जाना क्या अब सम्भव है?

जहाँ भी जायें संसार प्राणियों से भरा हुआ लगता है। जीव मरते रहते हैं—पैदा होते रहते हैं। कुछ अपने आप मरते हैं, कुछ को मारने मे मनुष्य का हाथ होता है चाहे जाने या अनजाने। प्रकृति मारती है तो दोष किसी का नहीं, अनजाने मरते है तो भी दोष न माने, पर उसे जानबूझ कर मारा जावे तब तो मनुष्य दोषी है ही। परन्तु यदि वह न मारने की स्थिति धारण कर ले तो फिर उसे आदिम अवस्था में ही जाना पड़ेगा। जब-जब भी सभ्यताओं का विकास होगा—भोगोपभोग की अधिकाधिक वस्तुओं का निर्माण होगा—हिंसा बढ़ती ही रहेगी। विज्ञान ने हमारी जानकारी से इसकी काफी पुष्टि कर दी है।

उपर्युक्त ज्वलत समस्याओं पर जैन धर्म के दार्शनिकों, विचारकों और विद्वानों को गम्भीर विचार करना चाहिए और अहिंसा को व्यावहारिक रूप में कैसे प्रयोग मे लाया जावे, इस हेतु मार्ग-दर्शन करना चाहिए। महात्मा गांधी ने राजनीति में अहिसा को अस्त्र के रूप में प्रयोग में लिया था परन्तु हर व्यक्ति महात्मा गांधी नहीं हो सकता। प्रश्न तो सामान्य व्यक्ति, सामान्य जाति या सामान्य राष्ट्र का है और ऐसा लगता है कि जीवन के अन्तिम दिनो मे जब भारत का विभाजन हुआ महात्या गांधी का भी अपने सिद्धान्तो के प्रति विश्वास कम हो गया होगा।

इतिहास में ऐसे और भी अवसर आये होगे और इसी प्रकार की समस्याओं का समाधान ढूंढा गया होगा पर नये परिप्रेक्ष्य में उसी बात को नये सिरे से कहने की आवश्यकता है क्योंकि ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि से—लोगों के विचारों में भी काफी परिवर्तन आ चुका है। आज के 'अर्जुन' को, 'कृष्ण' की प्रतीक्षा है कि वे आवे और धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करें।

—३ न ३, जवाहर नगर, जयपुर—३०२००४

— □ —

यह जमाना हथियारबन्द कायरता का है। कायरता ने अपने हाथ मे हथियार इसलिए रखे हैं कि वह दूसरों के हमले से डरती है और स्वयं हथियार इसलिए नहीं चलाती कि उसे हिम्मत नही होती। जो डर के मारे हथियार नही चला पाती उसी का नाम कायरता है। इस कायरता से इन्सान को उबारने वाली केवल एक ही शक्ति है—अहिसा।

—डॉ० राधाकृष्णन



अहिंसा की सार्थकता : प्रश्न फिर उपस्थित है

□ श्री ओंकार श्री

(अहिंसा वीरों का धर्म है। यह 'महावीर' का उद्‌घोष है। कायरों की ढाल नहीं है—अहिंसा ! न यह कोरा हिंसा का ही नकार है। समता प्रेम-सेवा की त्रिपथगा। अहिंसा की कसौटी क्या है ? अहिंसा की कसौटी है— आत्मा !) आत्मवत् सर्वभूतेषु' की—दृढ़ भित्ति पर खड़ी अहिंसा पर नए सिरे से विचार करने की बात नौआखाली व बंगलादेश में हुए अमानुषिक अत्याचारों के दौर में उठी। तब, गाँधी जी ने महिलाओं को आत्मरक्षा के लिए चाकू धारण करने को कहा। तब उपाध्याय अमर मुनिजी ने बुलन्द स्वरों में कहा—

"बंगलादेश में अत्याचार पराकाष्ठापर है और आश्चर्य कि अहिंसा, दया और करुणा के उद्‌घोषक धर्म गुरुओं की दृष्टि में जैसे कुछ हो ही नहीं रहा है। कहाँ है वह अहिंसा, कहाँ है वह करुणा, कहाँ है वह मानवता, जिनके ये सब दावेदार बने हुए है ? क्या धर्म मरने के बाद ही समस्याओं का समाधान करता है ?

अहिंसा पर नए सिरे से विचार करने का अवसर आ गया है। लगता है अहिंसा सब ओर से सिमट कर एक नकार पर खड़ी हो गई है। नकार की अहिंसा में प्राणवत्ता नही रहती। वह निर्जीव हो जाती है। अहिंसा का अर्थ अब हिंसा न करना है, वह भी एकांगी, स्थूल, दिखावाभर साथ ही तर्कहीन। जीवन चर्या में कुछ अंग ऐसे हैं, जिनमें बाहर से तो अहिंसा जैसा लगता है, किन्तु अगल-बगल की— अन्दर की पृष्ठभूमि में झांक कर देखे तो हिंसा का नग्न नृत्य होता नजर आता है।"

अहिंसा की सार्थकता प्रश्न फिर उपस्थित है :

संसार के सभी अहिंसावादी विचारक इस बात को सर्वमान्य रूप से मानते हैं कि अत्याचार को सहना, अत्याचारी को बढावा देना है, यह जघन्य पाप है, हिंसा है। आततायी के आगे सत्याग्रह से काम चलता तो गाँधी जी कश्मीर में भारत द्वारा फौजे भेजने का समर्थन नहीं करते।

आज देश में चारों ओर हिंसा और आतंक का वातावरण व्याप्त है। शूरवीर, अहिंसा पालक गाँधी के अनुयायी, आज पंजाब, कश्मीर व ब्रह्मपुत्र

क्षैत्रीय असमी राज्यों के खूनखच्चर को देखकर निष्क्रियता से हाथ पर हाथ धरे बैठे है भाषा, धर्म, जाति व क्षैत्रवाद की हवा पाकर पनपती हिंसा के विरोध में सारे - धर्माचार्य अहिंसक प्रतिरोध की शक्ति खडी नही कर पा रहे ।

यह असह्य है कि अहिंसा, हिंसा को सहे । बर्बर अत्याचार के दौर में अहिंसक मौन रहे । अहिंसा द्वारा हिंसा पर प्रत्याक्रमण होना अनिवार्य है । एक सशक्त लोक शक्ति जागृत करने का बीड़ा राजनेता नही, आध्यात्म प्रचेता ही उठा सकते है ।

यदि सामूहिक रूप में अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए प्रणवीर—प्राणी मित्र अहिंसक—सेनानी अत्याचार और आतंकग्रस्त क्षेत्रों में शांति वीरों के रूप मे नंगे हथियारों के सामने सीना खोल कर खड़े हो जायें तो हिंसाचारियों के हौसले पस्त हो जायेंगे । सारा संसार इस शांत क्रान्ति से हिल उठेगा । प्रश्न पुन. उपस्थित है— ऐसे जीवट-वान अहिसक वीरों से क्या भारत भूमि शून्य हो गई है ?

अहिंसा से बड़ी कोई मर्यादा नहीं :

यह समय गैर मामूली है । अच्छे से अच्छा सिद्धान्त, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आदर्श जब तक बुलन्द व्यवहार में आकर मानव-त्राता सिद्ध नही होगा तो वह जीवन्तता खो देगा । जब तक हिंसा का बोलबाला है तब तक अहिंसा की सार्थकता की ओर हमें सदैव सावधान मुद्रा में रहना होगा ।

मनुष्य मूलतः अहिंसक है । वह स्वभावतः करुणावान होता है । जो सच्चा अहिंसक है वह कायर कभी नही हो सकता । हम न भूले कि जो कायर होता है वह बहुत क्रूर होता है । जहाँ क्रूरता होगी वहाँ होगी हिंसा ।

आज देश के सामने सबसे बड़ा सकट है तो यही है कि भारत की जनता का आन्तरिक शौर्य और जीवट मूर्च्छित अवस्था में पड़ा है । बिना जीवट न राज सुरक्षित रहेगा, न कोई समाज ।

मर्यादा है आचार्यो की, साधुओं की । साधकों और श्रावकों की । पर अहिंसा की रक्षा से बड़ी कोई मर्यादा नही । सारा संसार अहिंसा की गाँधी युगीन प्रयोग धर्मिता से प्रभावित हुआ । जैन और बौद्ध ही क्यो स्वयं वैदिक परम्पराओं द्वारा अहिंसा को परम धर्म मानने की बात विश्व भर के अध्यात्म प्रेणता और विज्ञानवेत्ता मानते है ।

पर हम भारतवासी आज अहिंसा के महावीर-पथ से अलग-थलग पड़कर दिनोंदिन दुर्बल पड़ते जा रहे है । हमारी अस्मिता खतरे में है । तेजहीन पीढ़ी का कोई भविष्य नही होता । अहिंसा की मर्यादा पर प्रश्न चिन्ह लग रहा है ।

राह बनेगी : बातों से नहीं बलिदानों से :

महाबली है काल ! अपराजेय है मानवता ! घनघोर अंधेरे में उजाले की आकुल प्रतीक्षा होती ही है। प्रतिकूल और प्रतिगामी वातावरण में कभी-कभी मानव-मन अशांत और उद्विग्न होकर निराशा में भटक जाता है।

पर 'महावीर' वही होता है जो विपरीतता और विषमता के पथ के रोड़ों को अपने अपूर्व आत्मबल से हटाता हुआ—दिग्भ्रमित काल परिवेश में समता का सन्देश, प्रेम की वाणी और सेवा की निष्कपटता से भयत्रस्त प्राणियों को साहस पथ पर अग्रसरित करता है।

अग्रसरित करता है सुपथ पर लोक को आचार्य। 'महावीर' को हम समझें। अहिंसा की समझ हमारे मस्तिष्क में बैठेगी तभी। हमने गांधी को अनसुना कर दिया। बुध को बिसरा दिया। अभी, अभी विदा हुए विनोबा और जयप्रकाश को हम भूल गये। भूल गये हम क्रांतिचेता जवाहराचार्य की जन-जिनवाणी को। हम इन्हें भूलकर भी नहीं भूलेंगे यदि हमने 'महावीर' के स्वरों को सुना तो—

'आय तुले पयासु'—प्राणीमात्र को आत्म तुल्य समझो।— यह हमारा रक्षा सूत्र है। हम अनात्मीय हो गये हैं। इसलिए क्रूर हो गये है।

अहिंसा के पास करने जैसा कुछ नहीं है क्या ? यह प्रश्न उठ चुका है फिर से। इसका उत्तर—वीर धर्म में है। वीर, निर्दयी नही होता। देश को और पूरे संसार को वीर धर्मी-महावीर चाहिए। त्राण हिंसा से नहीं होगा। मनुष्य को प्यार दो। वह संहार नहीं चाहता। हथियार बंद कायरता से मुक्ति दिलाएगी अहिंसा ही, पर राह बनेगी बातों से नही, बलिदानों से !

—बागी नाडा रोड, रानी बाजार, बीकानेर-३३४००१

अहिंसा संयम और तप

अहिंसा हमारा लक्ष्य है और जीवन को अहिंसामय बनाने के लिए संयम और तप ये दो उसके साधन हैं। जिसके मन में, तन में और वाणी में संयम होगा, वह व्यक्ति अहिंसा का ठीक रीति से पालन करेगा। संयम-शून्य कार्य का आचरण अहिंसा नहीं है।

—आचार्य श्री हस्ती



अहिंसा की ज्योति को आगे बढ़ायें

□ श्री सरदारमल कांकरिया

आज संसार मे चारों ओर हिंसा की ज्वाला भड़क रही है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि कही सारा संसार हिंसा की इस ज्वाला में भस्म न हो जाए। प्रात उठते ही समाचार-पत्रों के माध्यम से जानने को मिलता है कि कहीं बम के धमाके छूट रहे हैं, कहीं बन्दूक से गोलियाँ चल रही है, तो कही उग्रवादी और आतंकवादियों के माध्यम से निरपराध लोगो की हत्याएँ की जा रही है। आगजनी, लूट-पाट, बलात्कार जैसे जीवन की सामान्य घटनाएँ हो रही है। ऐसे हिंसाग्रस्त अशान्त संसार में शान्ति स्थापित करने का एक मात्र मार्ग यदि है तो वह अहिंसा, प्रेम और भाईचारे का ही है।

यों तो सभी धर्मों ने अहिसा को महत्त्व दिया है, लेकिन जैन धर्म मे अहिसा की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या करते हुए कहा गया है कि किसी को जान से मारना ही हिंसा नही है वरन् किसी के मन को ठेस पहुँचाना, कठोर और कटु वाणी से किसी को दुःखी करना, किसी के हक को छीनना, किसी को गुलाम बनाकर रखना भी हिंसा है। भगवान महावीर ने प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव का उपदेश दिया। आज महावीर के अहिसा सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार की एवं जीवन में उसे उतारने की अत्यन्त आवश्यकता है।

भगवान महावीर की शासन-परम्परा आज तक चली आ रही है, लेकिन दुःख इस बात का है कि श्रमणों, श्रावकों एव समाज के नेताओं ने अपने क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर अहिसा धर्म की विश्वजनीन व्यापकता को संकीर्ण घेरे में बाध दिया है। विशेषकर श्रमणों ने कठोर चर्या का पालन करना, कठिनाइयों का जीवन जीना, सम्यक् आहार-विहार की मर्यादा का पालन करने में ही सन्तोष मान लिया है। जबकि आज आवश्यकता इस बात की है कि वे अपने-सम्प्रदायों से और क्षेत्रों से ऊपर उठकर आगे बढ़कर अपनी साधना, तेजस्विता और प्रभाव का ऐसा उपयोग करें कि सभी वर्ग और जाति के लोगो में प्रेम बढे, अज्ञान घटे, सामाजिक

कुरीतियाँ दूर हों और उनके अहिंसा-व्यापी जीवन का प्रभाव सम्पूर्ण मानवता पर पड़े।

जैन श्रावकों ने भी श्रमणों के दर्शन, प्रवचन-श्रवण, संघयात्रा और दैनिक जीवन के सामान्य व्रत-नियमों का पालन करना ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है। वर्चस्व श्रावकों पर काफी है, गृहस्थ लोग उन पर अगाध श्रद्धा रखते है, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने को हमेशा तत्पर रहते हैं। पर श्रमण मन्दिर निर्माण, स्थानक-निर्माण, बड़े-बड़े आयोजन करवा कर ही अपने धर्म-सन्देश को सफलता मान बैठते हैं। अहिंसा की शक्ति का विश्व-शान्ति में, पीड़ितों की सेवा में विशेष उपयोग हो, इस ओर उनका ध्यान कम जाता है।

अहिंसा में अपार शक्ति है, यह तो भगवान महावीर ने सिद्ध किया ही था। वर्तमान में महात्मा गांधी का उदाहरण हमारे सामने है कि एक दुबले-पतले व्यक्ति ने अहिंसा के बल पर महान् शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य से लोहा लेकर भारत को स्वाधीनता दिलाई। आज सभी राष्ट्र शान्ति चाहते हैं, इसके लिए अलग-अलग मार्ग खोजते हैं, नये-नये वाद स्थापित करते हैं, पर सबसे प्रभावी और सरल मार्ग अहिंसा का ही है। अमेरिका और रूस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र भी अब शस्त्रों से होने वाली हानियों से आतंकित हैं और गत वर्षों में अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण पर रोक लगी है, उनके प्रयोग को उत्तरोत्तर कम किया जा रहा है। संसार के सभी राष्ट्र-नेता और चिन्तक अब एक मत हैं कि पृथ्वी का अस्तित्व अहिंसा के द्वारा ही कायम रखा जा सकता है। भारत में पंजाब में उग्रवाद और आतंकवाद का जो दमन-चक्र चल रहा था, उसमें भी अब कुछ कमी आयी है। हिंसा का प्रतिकार हिंसा द्वारा नहीं, अहिंसा द्वारा ही किया जा सकता है। यह बात अब लोग समझने लगे हैं और यही स्थायी शांति का मार्ग है।

आज अहिंसा की ज्योति को आगे बढ़ाने की जरूरत है। अब तक हिंसा के निषेधात्मक पक्ष पर ही अधिक बल दिया जाता रहा है, अब आवश्यकता है अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को अधिक से अधिक अपनाने की। प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. कहा करते थे कि यदि तुम्हारा पड़ोसी भूखा है, तुम उसकी मदद करने योग्य हो, फिर भी मदद नहीं कर रहे हो तो तुम्हें हिंसा का भागी बनना पड़ता है। उन्होंने अल्पारम्भ और महारंभ की सूक्ष्म विवेचना करते हुए अल्पारंभी बनने पर जोर दिया। स्वयं ने खादी पहनी और दूसरों को खादी पहनने की प्रेरणा दी। उन्होंने शोषण को हिंसा बताया और स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर बल दिया। वे कहा करते थे कि बाजार से दूध खरीदने की अपेक्षा घर में गाय का दूध

प्राप्त करना, बाजार में भोजन लेने की अपेक्षा घर में यत्नापूर्वक भोजन बनाना अहिंसा का मार्ग है। उन्होने आत्मधर्म के साथ-साथ ग्राम धर्म, नगर धर्म एवं राष्ट्र धर्म की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की और अहिंसा को स्वतन्त्रता, समानता और लोक-कल्याण से जोड़ा। उन्होंने हर कार्य को विवेकपूर्वक करने की सलाह दी। विवेक अहिंसा है और अविवेक हिंसा है।

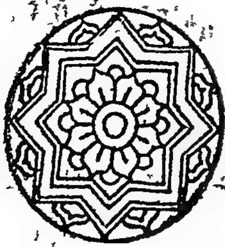
आज जैन समाज भारत के सम्पन्न समाजों में गिना जाता है। हमें जरूरतमन्द लोगों की सहायता करनी चाहिए। आज हमारे देश के निवासियों को शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार और स्वावलम्बी जीवन जीने की कला सीखने की आवश्यकता है। यदि हम इस दिशा में सक्रिय होकर सहयोग करें तो समझना चाहिए कि हम अहिंसा की ओर बढ़ रहे है और यदि योग्यता और क्षमता होने हुए भी निष्क्रिय बने रहे तो हमें हिंसा का दोषी बनना ही पड़ेगा। हमारा कर्तव्य है कि हम जगह-जगह नये-नये स्कूल खोले, बुक बैंक की स्थापना करें, रोगियों की सेवा के लिए अस्पतालों का निर्माण करे, बेरोजगारों को प्रशिक्षण देकर उद्योग-धन्धों में रोजगार दें और यह सब कार्य निःस्वार्थ भाव से, सेवा-भाव से करें। ऐसा करके हम इस अशान्त वातावरण में शान्ति की स्थापना करने मे सहयोगी बन सकेंगे।

—२ ए, क्विंस पार्क, बालीगंज, कलकत्ता–७०००१६

—●—

दयालुता

पैगम्बर हजरत मोहम्मद नित्य जिस रास्ते से जाते उसमें एक वृद्धा उन्हें देखकर कुपित हो, उन पर कचरा डाल देती थी। परन्तु वह कभी नाराज नहीं होते थे। एक दिन, उन पर कचरा नहीं डाला गया। तब उन्होंने विचारा कि वृद्धा बीमार तो नहीं हो गई। वे उसके मकान में गए, तो वृद्धा वास्तव मे बीमार पड़ी मिली। उन्होंने उसकी सेवासुश्रूषा करके दवा आदि की व्यवस्था की व जब तक बीमार रही नित्य वहां जाकर उसकी सेवा सुश्रूषा, दवा आदि से करते रहे।



अहिंसा के प्रचार-प्रसार में जनसंचार माध्यमों की भूमिका

☐ डॉ० संजीव भानावत

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में जनसंचार माध्यमों की विशिष्ट भूमिका होती है। आधुनिक युग में जनसंचार माध्यमों का महत्त्व जीवन के विविध क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। इनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक एवं दूरगामी होता है। जनसंचार माध्यमों के पाँच महत्त्वपूर्ण भाग किये जा सकते हैं :—

१. समाचार पत्र या मुद्रण माध्यम
२. रेडियो
३. टेलीविजन
४. फिलम
५. विज्ञापन

उक्त पांचों प्रकारों से हमारा वर्तमान जीवन गहराई से प्रभावित हुआ है। ये माध्यम एक प्रकार से हमारे जीवन के अविभाज्य अंग हो गये हैं। इनके अभाव में सहज और सामान्य जीवन तक की कल्पना नहीं की जा सकती। ये माध्यम जहाँ एक ओर हमें सूचित एवं शिक्षित करते है वहीं दूसरी ओर हमारा मनोरंजन भी करते है।

आज के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि जीवन के विविध क्षेत्रों पर दृष्टिपात करने पर हिंसा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। हिंसा मात्र प्राणी को दुःखी करना या उसकी हत्या करना ही नहीं है। आज हमारे जीवन में जो आपाधापी, असहयोग, हत्याएँ, लूटपाट, आपराधिक प्रवृत्तियाँ, संकीर्णता, कट्टरता, क्षेत्रियता, साम्प्रदायिक विद्वेष, आतंकवाद आदि जिस तरह घुस गये हैं उससे आम आदमी का विश्वास टूटने लगा है। जीवन के प्रति उत्साह, उमंग और आस्था भंग होने लगी है। मन की सहज कोमल संवेदनाएँ नष्ट होने लगी है। दूसरों को पीड़ित और दुःखी देखकर आह्लाद की अनुभूति होने लगती है। आपसी प्रेम, विश्वास और सौहार्द्र का स्थान पारस्परिक कटुता, घृणा और वैमनस्य ने ले लिया है। अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए किसी भी व्यक्ति की हत्या तक करने से आज मनुष्य हिचकिचाता नहीं है।

जीवन के उक्त सारे दृश्य समाचार पत्रों के मुख्य पृष्ठों पर प्रमुखता से छाये रहते हैं। बम्बई में बम विस्फोटों से हजारों निर्दोष लोगों की जीवनलीला समाप्त कर दी गई। अनेक शहर साम्प्रदायिक दंगों की आग में झुलस गये।

ये सब घटनाएँ समाचार पत्रों की सुर्खियां बनीं। टी. वी. के पर्दे पर ऐसे वीभत्स दृश्य अनेक बार दिखाये गये। इन्हें पढ़, सुन और देखकर भी हम स्वयं को असहाय ही महसूस करते रहे। मन से मात्र 'आह' की गूंज उठी और इन घटनाओ पर कुछ आंसू बहा दिये गये। सभा गोष्ठियों में निन्दा की गई और सब कुछ फिर सामान्य !

प्रश्न है जीवन की विषमता को कैसे मिटाया जाए ? हिंसा के इस ताण्डव को कैसे रोका जाए ? व्यक्ति के मन की इन पाशविक प्रवृत्तियों को कैसे नियन्त्रित किया जाए ? व्यक्ति की सद्प्रवृत्तियो को विकसित करने के लिए पहले देश के साधु-सन्त एवं महात्मा स्थान-स्थान पर जाकर लोगों को प्रेरित करते थे। साधु-सन्तों की प्रेरणा से देश के अनेक राजाओं और बादशाहों ने अपने शासन काल में न सिर्फ कत्लखाने बन्द कराये तथा पशुओं को अभयदान दिया वरन् जनकल्याणकारी अनेक कार्यक्रमों में अपनी शक्ति लगाकर शासन को अहिंसात्मक आधार पर संचालित किया। महात्मा गांधी ने तो अहिंसा के बल पर ही देश को विदेशी शासन के चंगुल से स्वतंत्र कराया था।

अहिंसा के प्रचार-प्रसार में साधु-सन्तों की भूमिका तो महत्त्वपूर्ण है ही किन्तु आज के सन्दर्भों में उसकी परिधि सीमित होती जा रही है। ऐसी स्थिति मे हमें जनसंचार माध्यमों के महत्त्व को समझना होगा। अहिंसक जीवन मूल्यों के प्रचार-प्रसार में जनसंचार माध्यमों का प्रभावी उपयोग किया जा सकता है।

अहिंसा के उदात्त भावों का अंकुरण शैशव काल से ही किया जाना चाहिए। अहिंसा की कथाएँ हमारी लोककथाओं में विविध रूपो में बिखरी हुई है। हमारे दादा-दादी तथा नाना-नानी आदि बुजुर्गों के मुख से समय-समय पर इस प्रकार की प्रेरणास्पद कथाएँ सुनायी जाती रही हैं। इन कथाओं के माध्यम से हम अनायास ही बालक के मन में अहिंसा के पवित्र एवं प्रभावकारी विचार बडी सहजता के साथ उतार सकते है।

मुद्रित माध्यमों मे समाचार पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्य की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। आज विपुल संख्या में जैन पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। जैन पत्रों की यह ऐतिहासिक विकास यात्रा आज एक शताब्दी से अधिक पुरानी हो गयी है। हमारे देश की क्षेत्रीय एवं धार्मिक पत्रकारिता की अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। इस प्रकार की पत्रकारिता का मूल स्वर अधिकांशत: सामाजिक-सांस्कृतिक एव नैतिक चेतना के विकास तथा जनकल्याण और विश्व बन्धुत्व की भावना का प्रसार करना रहा है।

अहिंसा मूलक चेतना के प्रसार में जैन पत्रकारिता को विशेष पहल करनी होगी। प्रेम की इतनी बड़ी ताकत होते हुए भी हम हिंसा के माहौल के खिलाफ

सशक्त वातावरण तैयार कर सकने में समर्थ नहीं हो पा रहे है। इसका एक कारण यह भी है कि अधिसंख्यक जैन पत्र-पत्रिकाएँ विशेष सम्प्रदाय या संस्था से जुड़े रहने के कारण अपने पक्ष का समर्थन एवं प्रचार करने वाली 'पेम्पलेट' बनकर रह जाती हैं। व्यापक एवं उदार दृष्टि के अभाव के कारण जैन एकता, अपरिग्रह, संयम, सहिष्णुता, सेवा आदि जैसे मूल्य काल्पनिक आदर्श मात्र रह गये है। ये जीवन मूल्य अहिंसा के ही विविध रूप हैं। हम इन विविध रूपों को यथार्थ का रूप नही दे पा रहे हैं।

वर्तमान में सार्वजनिक पत्रकारिता में पत्रकारिता पर राजनीति हावी होती जा रही है। सनसनीखेजपूर्ण समाचार व स्कैण्डल से ग्रस्त वर्तमान पत्रकारिता मानवीय विश्वासों की पुनर्स्थापना की दिशा में विशेष सफल नहीं हो पा रही है। प्रतिदिन समाचार पत्रों के पृष्ठ आतंक, हिंसा, अपराध व अन्य ऐसे ही समाचारों से भरे रहते हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि पाठकों को कुछ इस प्रकार की सामग्री पढ़ने को दी जाए जो जीवन मूल्यों तथा रचनात्मक शक्ति को विकसित कर सके। इस दृष्टि से लेखकों एव पत्रकारों को संगठित होकर कार्य करना होगा। वे सामूहिक स्तर पर मिलकर एक फीचर सिण्डीकेट बना सकते हैं जो महत्त्वपूर्ण पर्वो पर विशेष फीचर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए जारी कर सकते हैं। इन सिण्डीकेट्स के माध्यम से अहिंसा एवं उससे सम्बद्ध उपयोगी पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण आलेख जारी कर वातावरण निर्मित करने की दिशा में प्रयत्न किया जा सकता है।

पत्र-पत्रिकाओं तथा विज्ञापन का आपसी सम्बन्ध काफी गहरा है। विज्ञापनों ने हमारे आन्तरिक जीवन को काफी प्रभावित किया है। इससे एक नवीन उपभोक्तावादी संस्कृति ने जन्म ले लिया है। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षण तथा अहिंसक समाज रचना का आदर्श प्रचारित प्रसारित करने की दृष्टि से विज्ञापन प्रभावी माध्यम हो सकता है। व्यावसायिक विज्ञापनों में जैन धर्म दर्शन एवं महापुरुषों की अहिसा से सम्बन्धित सूक्तियों का उपयोग किया जा सकता है। इन सूक्तियों का उपयोग छविगृहों में प्रदर्शित स्लाइडों मे भी किया जा सकता है। धूम्रपान, मांसाहार, मादक पदार्थो के सेवन आदि हिंसा के अनेक रूपों को प्रचारित या समर्थन करने वाले विज्ञापनों के विरुद्ध भी अहिसा से सम्बन्धित प्रभावी विज्ञापन अभियान संचालित कर हिसक विज्ञापनों के प्रभावों को समाप्त करने के प्रयत्न किये जा सकते हैं।

मुद्रित माध्यमों के अतिरिक्त दृश्य, श्रव्य संचार माध्यम वर्तमान युग में प्रचार-प्रसार के सशक्त माध्यम है। रेडियो, टेलीविजन के आविष्कार ने सारी दुनिया को एक समुदाय में परिवर्तित कर दिया है। आज शिक्षा जगत मे इनका काफी उपयोग किया जा रहा है। रेडियो और टेलीविजन पर विद्यालय स्तर से लेकर उच्च शिक्षा तक से जुड़े छात्रों व अध्यापकों के लिए नियमित प्रसा-

पार्श्वनाथ का जीवन अहिंसा का जीता-जागता उदाहरण है। उन्होंने अपने पूर्व-जन्म और तपस्वी-जीवन में क्षमा की साकार मूर्ति को उपस्थित किया था। वध, क्रोध, वैर, बदला आदि अनेक हिंसा के कार्यों का सामना उन्होंने अहिंसात्मक साधनों से किया। तपस्वी कमठ द्वारा प्रज्वलित पंचाग्नि में जल रहे नाग की रक्षा उन्होंने अपने कुमार-जीवन में ही की थी। यह एक ऐसा प्रतीक है, जो अहिंसा के सूक्ष्म भावों को व्यक्त करता है। यदि नेमिनाथ ने जंगल के तृण खानेवाले मूक प्रणियों को हिंसा से बचाया था, तो पार्श्वनाथ ने एक कदम आगे बढ़कर विषैले नाग की रक्षा भी अहिंसक दृष्टि से आवश्यक मानी। क्योंकि प्राणी स्वभाव का कैसा भी हो, अकारण उसका वध करने का अधिकार किसी बड़े से बड़े और धार्मिक व्यक्ति को भी नहीं है।

भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र अहिंसा के स्वरूप को और अधिक उजागर बनाता है। उन्होंने सर्प या संगम देवता द्वारा निर्मित विषधर नाग पर सहजता से और निर्भयता पूर्वक विजय प्राप्त कर, यह स्पष्ट कर दिया था कि शक्तिशाली व्यक्ति की भी हिंसात्मक वृत्ति टिकाऊ नहीं, क्षणिक ही होती है। अहिंसक चित्त निरंतर विजयी रह सकता है। महावीर अहिंसा के विस्तार के लिए उसके मूलभूत कारणों तक पहुँचे है। उनके जीवन की हर घटना दूसरे के अस्तित्व की रक्षा करते हुए एवं उसके भी मन को न दुखाते हुए घटित होती है। सम्भवत: परिग्रह, अनावश्यक संग्रह, दूसरे को पीड़ा पहुँचाने में सबसे बड़ा कारण है। इसीलिए भगवान् महावीर ने पांचवें व्रत अपरिग्रह को एक नयी दिशा प्रदान की। अनेकान्तवाद द्वारा उन्होंने मानसिक हिंसा को भी तिरोहित करने का प्रयत्न किया और वीतरागता द्वारा वे आत्मिक अहिंसा के प्रतिष्ठापक बने।

अहिंसक युद्ध :

जैन-कथा-साहित्य में सम्भवत: भरत-बाहुबली के जीवन-चरित्र से यह पहली बार पता चलता है कि युद्ध की भूमि में भी अहिंसक-युद्ध का प्रस्ताव हो सकता है। दोनो ओर की सेनाओं के हजारों प्राणियों के वध के प्रति उत्पन्न करुणा इस कथा में साकार हो उठी है। दो राजाओं के व्यक्तिगत निपटारे के लिए लाखों व्यक्तियों के मरण के आंकड़ों से नहीं, अपितु व्यक्तिगत भावनाओं और शक्ति-परीक्षण से भी उनकी हार-जीत स्पष्ट हो सकती है। इस दृष्टि से दृष्टि-युद्ध, मल्ल-युद्ध और वाक्-युद्ध आदि का प्रस्ताव इस कथा में अहिंसा का प्रतीकात्मक घोषणा-पत्र है।

पशु-जगत् भी रक्षणीय :

'नायधम्मकहा' की दो कथाये अहिंसा के सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण एवं बोधपूर्ण है। मेघकुमार के पूर्वभव के जीवन के वर्णन-प्रसंग में "मेरुप्रभ"

हाथी की कथा वर्णित है। यह हाथी आग से घिरे हुए जंगल में एकत्र छोटे-बड़े प्राणियों के बीच में खड़ा है। हर प्राणी सुरक्षित स्थान खोज रहा है। इस मेरुप्रभ हाथी ने जैसे ही खुजली के लिए अपना एक पैर उठाया कि उसके नीचे एक खरगोश का बच्चा खाली स्थान देखकर वहाँ आकर बैठ गया। हाथी खुजली मिटाकर अपना पैर नीचे रखना चाहता है, किन्तु जब उसे पता चला कि एक छोटा प्राणी उसके पैर के संरक्षण में आया है तो उसकी रक्षा के लिए मेरुप्रभ हाथी अपना पैर उठाये ही रखता है। और अन्ततः तीन दिन-रात वैसे ही खड़े रहने पर वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह उस छोटे-से प्राणी खरगोश तक धूप और आग की गर्मी नहीं पहुँचने देता। अहिंसा का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा ?

प्राकृत-कथाओं में अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए कई प्रयोग किये गये है। मानव के जीवन में अहिंसा के महत्त्व की इतनी भावना थी कि व्यक्ति यह प्रयत्न करता था कि यथासंभव हिंसा का निषेध किया जाय। 'सूत्रकृतांग' सूत्र में आर्द्र कुमार मुनि की कथा वर्णित है। उन्होंने हिंसा के मूल कारण मांस-भक्षण का युक्ति-पूर्वक निषेध किया है। 'आवश्यक-चूर्णि' में अरहमित्त श्रावक के पुत्र जिनदत्त की कथा है। वह एक बार भयंकर रोग से पीड़ित हो जाता है। वैद्य उसे औषधि के साथ मांस-भक्षण आवश्यक बताते है, किन्तु वह अपने स्वास्थ्य के लिए अन्य प्राणियों के वध से प्राप्त होने वाले मांस का भक्षण करना स्वीकार नही करता है। 'वसुदेवहिण्डी' की एक कथा में चारुदत्त अपनी यात्रा के लिए बकरे को मारकर उसकी खाल लेना पसन्द नहीं करता, जबकि उसका मित्र उस दुर्गम प्रदेश में उसे आवश्यक बताता है।

हिंसा : दुखों की खान :

जैन-कथा साहित्य ने प्राणी-वध को रोकने एवं दूसरे को न सताने की भावना को दृढ़ करने के लिए एक कार्य यह भी किया कि हिंसक कार्यों में लिप्त व्यक्तियों का जन्म-जन्मान्तरों में मिलने वाले फल की सही तस्वीर खींची है। 'विपाकसूत्र' की कथाएं बताती है कि अण्डे के व्यापारी निम्नक, प्राणीवध करने वाले छणिक कसाई एवं सूरदत्त मच्छीमार को अपने हिंसक कार्यों के कारण कितनी यातनाएं सहनी पड़ी हैं। 'बृहत्कल्पभाष्य' आदि ग्रन्थों में हत्या करने वाले के लिए अनेक प्रकार की सजाएं दिये जाने का उल्लेख है। कर्म-परिणाम एवं सजा की कठोरता ने भी हिंसक-भावना को क्रमशः कम करने में मदद की है। एक हिंसा दूसरी हिंसा को जन्म देती है। अतः इससे वैर की लम्बी परम्परा विकसित हो जाती है। इस बात को कई प्राकृत-कथाओं से उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

18. जीव दया घर
35, पंचायत वाडी, दारूजी गली
कबूतरखाने के पास, भूलेश्वर
बम्बई–400 002 (महा)

19 श्री महावीर शुभ संदेश साधना ट्रस्ट
द्वारा–मुनि श्री रामचन्द्र विजयजी
(निशाल) इहोलाय उपाश्रय
दोपी वाड़ा की पोल
अहमदाबाद–380 001 (गुज.)

20. भारतीय जीवजन्तु कल्याण बोर्ड
60, चौथी गली, अभिरामपुरम्
मद्रास–600 018

21 डॉ. डी. सी. जैन
महासचिव,
अहिंसा पशु रक्षण और
मानव पोषण विश्व परिषद्
एन-15, ग्रीन पार्क एक्सटेन्शन्स
नई दिल्ली–110 016

22 राष्ट्रीय एकता अहिंसा एवं
समाज कल्याण संगठन
जैन मार्केट
नोगांव (मैनपुरी)–205 262
(उत्तर प्रदेश)

23. हिंसा विरोधक संघ
अहिंसा भवन
नगर सेठ का वडा, रिलीफ रोड,
अहमदाबाद–380 001 (गुज.)

24. अहिंसा प्रसारक समिति
बजाज भवन, नरीमन पॉइंट
बम्बई–400 021

25. गुजरात महाजन पाजरापोल
और गौशाला फैडरेशन
द्वारा–दिनेश भाई शाह की कूंजी
देशसर रोड, सुरेन्द्र नगर (गुजरात)

26. मध्यप्रदेश अहिंसा प्रचार सघ
मैसर्स अगर एजेन्सीज
हलवाई लेन, रायपुर (म. प्र)

27. अहिंसा प्रचार समिति
गाँधी चौक, सिवनी (म प्र)

28. अखिल भारतीय कृषि गौ सेवा संघ
गोपुरी, वर्धा (महाराष्ट्र)

29. वेजीटेरियन क्लब
पोस्ट-वंणा (पंजाब)

30. जीव दया घर
जय हिन्द प्रेस के समीप
पोस्ट–राजकोट (सौराष्ट्र)

31. भुड (सुअर) बचाव समिति
पोस्ट–पाटण (उत्तर गुजरात)

32. सौराष्ट्र प्राणी कल्याण मण्डल
राष्ट्रीय शाला प्रागण
पोस्ट–राजकोट (सौराष्ट्र)

33. जीव दया मण्डल ट्रस्ट
डागा सदन, संघपुरा, टोंक (राज)

34. अ. राजस्थान अहिंसा प्रचारक जैन सं
अहिंसा नगर, चित्तौड़गढ़ (राज.)

35. पशु क्रूरता निवारण समिति
मेहता एण्ड कं.
2337, रामललाजी का रास्ता
जौहरी बाजार, जयपुर–302 003

36. तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ
हीरा भैया प्रकाशन
65, पत्रकार कॉलोनी
कनाड़िया मार्ग, इन्दौर–452 001

37. अहिंसा प्रचार समिति
पचपहाड़, भवानीमण्डी

38. शाकाहार सदाचार परिषद्
श्री रतनलाल सी. बाफना
सुभाष चौक, जलगांव–425 001

39. अहिंसा स्नेही मण्डल
नसीराबाद (राज.)

40. अ. वि. जैन मिशन
(अहिंसा प्रचारक सघ)
निवाई (टोंक) राज.

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर पूज्य श्री १००८ **श्री हीराचन्द्रजी म. सा.**, परम श्रद्धेय उपाध्याय पं. रत्न **श्री मानचन्द्रजी म. सा.** एवम् उनके आज्ञानुवर्ती सन्त-सतीगणों के सं. २०५० के

स्वीकृत चातुर्मास

१. **जयपुर (लाल भवन, चौड़ा रास्ता)**—परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर पूज्य श्री १००८ श्री हीराचन्द्रजी म. सा., ओजस्वी वक्ता पं. रत्न श्री शुभेन्द्र मुनिजी म. सा., तपस्वी श्री बसन्त मुनिजी म. सा., महान् अध्यवसायी श्री महेन्द्र मुनिजी म. सा., तत्त्व चिन्तक श्री प्रमोद मुनिजी म. सा. ठाणा ५ ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री चैतन्यमलजी ढढ्ढा, मन्त्री, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर-३०२ ००३, फोन : कार्या. ५६५९९७, नि. ५६५४६६ ।

२. **कोटा**—(रामपुरा बाजार स्थित स्थानक)—परम श्रद्धेय उपाध्याय पं. रत्न श्री मानचन्द्रजी म. सा., कवि हृदय श्री गौतम मुनिजी म. सा., सेवाभावी श्री नन्दीषेणजी म. सा. ठाणा ३ ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री बुद्धिप्रकाशजी जैन, महेन्द्र सेव भण्डार, आर्य समाज रोड, कोटा-३२४ ००१ (राज.), फोन : २०२०१ ।

३. **भोपालगढ़** (महावीर भवन)—रोचक व्याख्याता श्री ज्ञान मुनिजी म. सा., तपस्वी श्री प्रकाश मुनिजी म. सा., वयोवृद्ध श्री दया मुनिजी म. सा., वयोवृद्ध श्री राम मुनिजी म. सा. ठाणा ४ (वृद्ध सन्तों के स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से भोपालगढ़ चातुर्मास) ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री कल्याणमलजी बाफणा, मन्त्री, श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, भोपालगढ़-३४२ ६०३, जिला—जोधपुर (राज.) ।

४. **जोधपुर** (घोड़ों का चौक)—साध्वी प्रमुखा प्रवर्तिनी महासती श्री वदनकंवरजी म. सा., सेवाभावी उप प्रवर्तिनी महासती श्री लाडकंवरजी म.सा., महासती श्री सौभाग्यवतीजी म. सा., महासती श्री राजमतीजी म. सा., महासती श्री नलिनीप्रभाजी म. सा, महासती श्री सुश्रीप्रभाजी म. सा. ठाणा ६ ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री अनराजजी बोथरा, मन्त्री, श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक सघ, घोड़ो का चौक, जोधपुर-३४२ ००१ (राज.), फोन : कार्यालय २४८९१, निवास २२१२३ ।

५. **बाड़मेर** (महावीर भवन, तेलियों की गली)—सरल हृदया महासती श्री सायरकंवरजी म. सा., महासती श्री शांतिप्रभाजी म. सा., महासती श्री निश्शल्यावतीजी म. सा. ठाणा ३ ।

हार्दिक क्षमा-याचना

कुछ समय से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है। यह अस्वस्थता कब तक चलेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, अ. भा जैन विद्वत् परिषद्, 'जिनवाणी', 'स्वाध्याय शिक्षा', 'श्रमणोपासक', 'स्वाध्याय-सन्देश (पत्र-पत्रिकाएँ) के पदाधिकारियों, कार्यसमिति के सदस्यों, चतुर्विध संघ (आचार्यों, मुनियों, साध्वियों, श्रावक, श्राविकाओं) के सभी सदस्यों, जैन-जैनेतर समाज व संस्थाओं के सदस्यों, सुहृद मित्रों, विद्वानों, लेखकों, स्नेहशील सहयोगियो, हितैषियों आदि के प्रति मेरे वक्तव्य, लेखन, संभाषण, पत्र-व्यवहार द्वारा जाने-अनजाने प्रमादवश किसी कारण कोई त्रुटि-अपराध हुआ हो और उनके हृदय को ठेस पहुँची हो तो मैं मनसा, वाचा, कर्मणा सभी से हार्दिक क्षमा-याचना करता हूँ। इन सभी का मेरे प्रति बड़ा प्रेम, स्नेह व सहयोग रहा है जिससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। आप सभी मुझे क्षमा प्रदान कर अनुगृहीत करें।

क्षमाप्रार्थी

(डॉ०) नरेन्द्र भानावत

मानद सम्पादक—'जिनवाणी'

महामंत्री श्री अ. भा. जैन विद्वत् परिषद्

"जिनवाणी" का विवरण (नियम संख्या ८)

१.	प्रकाशन-स्थल	: जयपुर
२	प्रकाशन की अवधि	: मासिक
३.	मुद्रक का नाम	: फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
	राष्ट्रीयता	: भारतीय
	पता	: जौहरी बाजार, जयपुर—३
४.	प्रकाशक का नाम	: सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
	राष्ट्रीयता	: भारतीय
	पता	: बापू बाजार, जयपुर—३
५.	सम्पादक का नाम	: डॉ. नरेन्द्र भानावत, डॉ. शांता भानावत
	राष्ट्रीयता	: भारतीय
	पता	: सी-२३५-ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-४
६.	स्वामित्व	: सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल (पारमार्थिक संस्थान) बापू बाजार, जयपुर-३

मैं चैतन्यमल ढढ्ढा, मन्त्री, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिया विवरण सही है।

दिनांक : १-३-९३

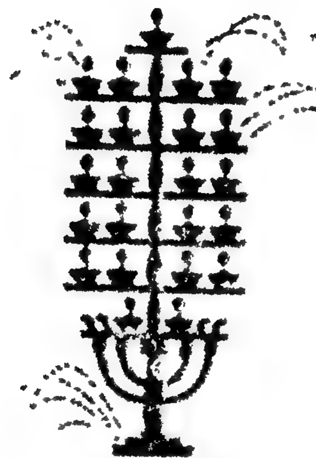
[चैतन्यमल ढढ्ढा]

प्रकाशक

अहिंसा की सेवा भगवान की सेवा है। जो अहिंसा की सेवा करेगा, वह समाज और विश्व की सेवा करेगा।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

With best compliments from :



जिन साधनों से हिंसा की वृद्धि होती है, अहिंसा के क्षेत्र मे उन साधनो को अनुचित समझना चाहिए ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा.

अहिंसा के माने अपने भाषण से या कृति से किसी का भी दिल न दुखाना, किसी का अनिष्ट तक नहीं सोचना।

—स्वामी विवेकानन्द

अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है।

—महात्मा गाधी

अहिंसा प्रचंड शास्त्र है। उसमे परम पुरुषार्थ है, वह भीरु से दूर भागती है। वह वीर पुरुष की शोभा है, उसका सर्वस्व है। वह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ नही है। वह चेतन है। वह आत्मा का विशेष गुण है।

—महात्मा गांधी

अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम और उसका अर्थ है कष्ट सहने की अनन्त शक्ति।

—महात्मा गांधी

अहिंसा के बिना कोई भी देश, जाति, धर्म या समाज सुख से नहीं रह सकता। जिन राष्ट्रों ने भी अणु बम और कीटाणु बम जैसे शस्त्र संग्रह कर रखे है, उनको भी शक्ति के लिए तो अहिंसा की शरण लेनी ही होगी।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा

अहिंसक को अक्षय तप का फल मिलता है, अहिंसक सदा यज्ञ करता है, अहिंसक सब प्राणियों को माता-पिता की तरह लगता है।

— महाभारत

मानव ! यदि तू अपने जीवन को अहिंसक बनाये रखना चाहता है, तो यह ध्यान रख कि जिस व्यक्ति से तू अपना जीवन चलाने के लिए सहयोग, लाभ या काम ले, उसे कोई पीड़ा न हो। —आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा.

अहिंसा का तकाजा है कि हम दूसरो को अधिक से अधिक सुविधाएं प्राप्त करा देने के लिए स्वयं अधिक से अधिक असुविधाएँ सहें—यहाँ तक कि अपनी जान भी जोखम मे डाल दें।

—शेख सादी

हृदय मे अहिसा एवं करुणा की वृत्ति बलवती होगी तो जीवन-रक्षा रूप बाह्य प्रवृत्ति स्वतः होगी। ऐसा मनुष्य किसी प्राणी को कष्ट नही देगा और किसी को कष्ट मे देखेगा तो उसे कष्ट-मुक्त करने का प्रयत्न करेगा।

—आचार्य श्री हस्ती

हिंसा घटने से समस्त संसार की भलाई होगी, लोगो मे परस्पर प्रेम बढेगा; आपस मे शान्ति तथा सौमनस्य का प्रादुर्भाव होगा। ईर्ष्या, कलह, द्वेष और विरोध का दमन होगा; तथा परवत् प्रतीत होने वाले लोग आत्मीयवत् दिखाई देंगे।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक मे ही अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक मे।

—भगवान महावीर

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है।

—भगवान महावीर

भारी तलवार कोमल रेशम को नही काट सकती, पर दयालुता और मीठे शब्दों से हाथी को जहां चाहे ले जाओ। —शेख सादी

ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि मनुष्य नियमित रूप से स्वाध्याय करे। —आचार्य हस्ती

सत्य का अहिंसा का मार्ग सीधा है, उतना ही सकरा भी है । तलवार की धार पर चलने के समान है । नट लोग जिस रस्सी पर एक निगाह रखकर चल सकते है, सत्य और अहिंसा की रस्सी उससे भी पतली है ।

—महात्मा गाधी

'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।'

अहिंसा की पूर्ण स्थिति होने पर उसके सान्निध्य मे सब प्राणी निर्वैर हो जाते है ।

—योग दर्शन

मनुष्य जब पवित्र चित्त और दृढ़ संकल्प लेकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं, तो सफलता उनके चरण चूमती है । —आचार्य हस्ती

अनासक्त भाव से कर्म करने वाला पुरुष मोक्ष पाता है। इच्छाओं को रोकने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। —महावीर स्वामी

उस काम को करना अच्छा नहीं है जिसे करके पीछे पछताना पड़े, और जिसके फल को रोते हुए भोगना पड़े ।

—धम्मपद

चारित्र-धर्म द्वारा नये कर्म-जल के आने के मार्गों को अवरुद्ध किया जाता है ।

—आचार्य हस्ती

जब तक मनुष्य इच्छाओं को सीमित नही कर लेता, तब तक वह शक्ति नही पा सकता। —आचार्य हस्ती

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ।

—भगवान महावीर

ज्ञान प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि मनुष्य नियमित रूप से स्वाध्याय करे।

—आचार्य हस्ती

ज्ञान का प्रकाश मिलते ही मुक्ति का द्वारा खुल जाता है।

—आचार्य हस्ती

जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग सुनिश्चित है ।

—आचार्य श्री हस्ती

जिनवाणी एवं

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

द्वारा प्रकाशित

साहित्य के

सदस्य बनिये

ज्यों-ज्यों परोपकार के लिए रुपये की थैली खाली होती है त्यों-त्यों हमारा हृदय भरता जाता है। —विक्टर ह्यूगो

अहिंसा वास्तविक शक्ति का प्रतीक है।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

वह शरीर क्या, जिससे जग का कोई भी उपकार न हो।
वृथा जन्म उस नर का, जिसके मन में दया-विचार न हो ।।

—आरसी प्रसाद सिंह

जब कोई व्यक्ति अहिंसा की कसौटी पर खरा उतर जाता है, तो दूसरे व्यक्ति स्वयं ही उसके पास आकर वैर-भाव भूल जाते हैं।

—पतंजलि

जिस प्रकार भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ मधु को ग्रहण करता है उसी प्रकार मनुष्य को हिंसा न करते हुये अर्थों को ग्रहण करना चाहिये ।

—विदुर

सत्पुरुषों की सम्पत्ति का यही फल है कि विपत्ति में पड़े हुए मनुष्यों के दुःखों को दूर करें।

—कालिदास

...ों की विभूतियाँ परोपकार के लिए ही होती हैं ।
—कालिदास

क्षमा वीर का आभूषण है।

—अज्ञात

क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है।

—जयशंकर प्रसाद

दो प्रकार के मनुष्य स्वर्ग के ऊपर स्थान पाते हैं—एक तो वह जो ऐश्वर्यशाली होकर भी क्षमावान् हों और दूसरे वह जो दरिद्र हो करके भी दानी हों।

—श्रीकृष्ण

पीर सबन की एक सी, मूरख जानत नाहिं ।
कांटा चुभौ पीर है, गला काटि को खाय ॥

—कबीर

आदि से अन्त तक हमारा जीवन एक प्रकार की मृत्यु है जिसका अर्थ है अधिक विशाल जीवन।

—डॉ. राधाकृष्णन

खाने और सोने का नाम जीवन नहीं है। जीवन नाम है सदैव आगे बढ़ने की लगन का।

—प्रेमचन्द

जब दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और जब आंसुओं का फव्वारा सूख जाता है तब आदमी रेगिस्तान की रेत में रेंगते हुए सांप के मानिन्द हो जाता है। —इंगरसोल

स्वाध्याय से ज्ञान की उपासना बढ़ेगी, समाज में शान्ति होगी, राष्ट्र में शान्ति होगी, विश्व में शान्ति होगी। —आचार्य श्री हस्ती

जब दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और आंसुओं का फव्वारा सूख जाता है तब आदमी रेगिस्तान की रेत रेंगते हुए सांप के मानिन्द हो जाता है। —इं० र

सच्चा अधिकार मांगने से नहीं अपितु कर्तव्य पालन और योग्यता से मिलता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

जे एग नामे, ते बहूं नामे

—आचारंग १/३/४

जो अपने आपको नमा लेता है—जीत लेता है, वह समग्र संसार को नमा लेते हैं।

देह जल से पवित्र होती है, मन सत्य से आत्म
से पवित्र होती है।

गुरु हस्ती के दो फरमान ।
सामायिक, स्वाध्याय महान् ।।

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ



- जिनवाणी पत्रिका का 50 वर्षों से नियमित प्रकाशन ।
- ज्ञान एवं चरित्रवान सुश्रावकों, स्वाध्यायियों, योग्य, धार्मिक अध्यापकों तथा मेधावी प्रचारकों को तैयार करने हेतु स्वाध्यायी एवं शिक्षक-प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन ।
- धार्मिक शिक्षण शिविरों तथा धार्मिक पाठशालाओं का संचालन ।
- सन्त-मुनियों व महासतियांजी के चातुर्मास से वंचित क्षेत्रों में पर्युषण पर्व पर शास्त्र-व्याख्यान, चौपाई आदि वाचन हेतु योग्य स्वाध्यायियों को भेजकर जैन संस्कृति के रक्षण, प्रचार एवं प्रसार में योगदान ।
- आगम एवं अन्य विविध प्रकार के सत् साहित्य का प्रकाशन ।

जिन व्यक्तियों, संस्थाओं एवं व्यापारिक-प्रतिष्ठानों ने अपने विज्ञापन देकर हमें सहयोग प्रदान किया, उन सबके प्रति हार्दिक आभार ।

—"जिनवाणी" परिवार

जय गुरू हस्ती

जय गुरू हीरा

जय गुरू हस्ती

जय गुरू हीरा

*

with best compliments from

A DEVOTEE OF JAIPUR

Of

Gurudeva Pujya Shree Hasti

&

Acharya Praver

Shree Heera ChandraJi Maharaj Saheb

***

**

*

ज
य
म
हा
वी
र

ज
य
गु
रू
ह
स्ती

ज
य
गु
रू
ही
रा





170. M/s Bright Gems, Jaipur.

171. A Devotee of Jaipur of Gurudeva Pujya Shri Hasti and Acharya Praver Shree Heera Chandji Maharaj Sahib.

172. M/s Gajendra Gems Corp., Jaipur.

173. M/s Minakshi Enterprises, Jaipur.

174. M/s Emerstone Gems, Jaipur.

M/s Vimal Sons, Jaipur.

M/s Intercolor Gems, Jaipur.

175. Samyag Gyan Pracharak Mandal, Jaipur.

176. M/s Harak Chand Fateh Chand Exports, Jaipur.

177. M/s Gemexi, Jaipur.

178. M/s Dharam Chand Karnawat, Jaipur.

179. M/s Vijay Chand Lodha, Harish Lodha & Nirmal Kumar Lodha, Jaipur.

180. M/s Kota Sari Kendra, Jaipur.

181. M/s Rajasthan Homoeo Stores, Jaipur.

182. M/s Toy Tonics, Jaipur.

M/s Computer World, Jaipur.

183. Shri C. L. Lalwani, Jaipur.

184. M/s Tikamdas Moti Ram & Sons, Bombay.

185. M/s S. D. Gems, Bombay.

186. M/s Manish Enterprises, Jaipur.